भारतीय संविधान के परिप्रेक्ष्य में

जैन संविधान

(जैन-आचरण-संहिता)

लेखक

डॉ. स्वर्णलता जैन

आयुर्वेद रत्न, एम. ए., नागपुर

सम्पादक

डॉ. राकेश जैन शास्त्री

एम. ए., जैनदर्शनाचार्य, नागपुर

प्रकाशक

श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

'महावीर जिनालय' रोड, परकोटा, **सागर** (म. प्र.)

प्रथम आवृत्ति : **1100 प्रतियाँ**

चि. **आगम** एवं सौ. कां. **पलक**
(लाल दुकान परिवार, सागर)
के शुभ-विवाह के अवसर पर प्रकाशित

न्यौछावर राशि – **पचास रुपये मात्र**

प्रकाशन-सहयोग

स्व. श्रीमती श्यामबाई, धर्मपत्नि,
श्रीमान् कृष्णचन्दजी जैन दादाजी,
लाल दुकान परिवार, सागर (म.प्र.)

उद्देश्य – **'जैन संविधान'** को **'जन संविधान'** बनाना।

प्राप्ति स्थान –

* **श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट**
  'महावीर जिनालय' रोड, परकोटा, **सागर** (म. प्र.)
* **श्री महावीर दिगम्बर जिन-मन्दिर**
  नेहरु पुतला, इतवारी, **नागपुर – 440 002 (महा.)**

मुद्रक – **पं. संजय शास्त्री, जयपुर** फोन – **09509232733**

भारतीय संविधान के परिप्रेक्ष्य में

जैन संविधान

(जैन-आचार-संहिता)

'जैन संविधान' विषयक प्रस्तुत ोध, जैन-आचार-संहिता की नींव पर, मानव-संस्कृति-रूपी पृथ्वी-मण्डल पर, मोक्षमार्गस्थ श्रमण-श्रावक, दोनों के आचरणरूपी महल पर कलश के समान ोभायमान हो रहा है।

हमारा पवित्र उद्देश्य **'जैन संविधान'** को **'जन संविधान'** बनाना है।

यह नि चित ही जन-जन का आभू ाण बनकर, प्राणी मात्र के लिए व्यक्तिगतरूप से जीवनोपयोगी होने के साथ-साथ, सम्पूर्ण समाज के लिए भी उपयोगी होकर, अखिल रा ट्र ही नहीं, सम्पूर्ण वि व को प्रेरणादायक ही नहीं, लाभदायक भी सिद्ध होगा।

प्रकाशकीय

श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सागर; अब, साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में भी कदम रखने जा रहा है।

सर्वप्रथम हमारे नगर के गौरव 'लाल दुकान परिवार' की बेटी, नागपुर के गन्धकुटी परिवार की पुत्रवधु, ड. राकेश जैन शास्त्री की धर्मपत्नि, श्रीमती ड. स्वर्णलता जैन के शोध-ग्रन्थ पर आधारित उनकी पुस्तक 'भारतीय संविधान के परिप्रेक्ष्य में **जैन संविधान**' के नाम से प्रकाशित की जा रही है।

हम इस पुस्तक का प्रकाशन करते हुए अत्यन्त गौरव का अनुभव कर रहे हैं, क्योंकि इसके प्रकाशन से समग्र जैन समाज की एक अपूरणीय क्षति की पूर्ति हो रही है।

एक वह भी समय था, जब भारतीय संविधान, माननीय ड. श्री बाबासाहेब आम्बेडकर की अध्यक्षता में लिखा जा रहा था, उस समय जैन समाज से भी जैनधर्म-पोषित संविधान मांगा गया था तो उस समय जैन समाज ने यह कहकर मना कर दिया था, कि हमारा संविधान, जैन शास्त्रों में वर्णित है और हम अपने ग्रन्थों को आपके हाथों में इसलिए नहीं सौंपेंगे, क्योंकि इससे उनके अविनय का दोष हमें लगेगा; लेकिन आज विश्व की इस अतिविकृत मानसिकता के दौर में इस **'जैन संविधान'** की जरूरत, बड़ी गम्भीरता से महसूस की जा रही है, क्योंकि इससमय समग्र विश्व को जैनधर्म-प्रणीत संविधान /संहिता/कानून से अवगत कराया जाए, अन्यथा बहुत देर हो भी हो सकती है और फिर इतिहास हमें कभी माफ नहीं करेगा।

वर्तमान सन्दर्भ में यह पुस्तक एक मील का पत्थर साबित हो सकती है। इस प्रसंग पर सागर (म. प्र.) की जिस समाज ने इसे प्रकाशित करने का निश्चय किया है, उसका संक्षिप्त परिचय देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

सम्पूर्ण सागर का गौरव : श्री महावीर जिनालय

सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड की हृदय-स्थली, पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी की साधना-स्थली, ड. सर हरिसिंह गौर (सा'गौर = Saugor) के नाम से भारत में विख्यात, मनोहारी सुरम्य पहाड़ियों पर स्थित शिक्षा के विशाल केन्द्र (सागर विश्वविद्यालय) एवं ऐतिहासिक 'लाखा बंजारा' तालाब से सागर नाम को सार्थक करती हुई, एक धार्मिक नगरी; जो लगभग 50-60 हजार जैनधर्मावलम्बियों के समूह से सुशोभित है।

यहाँ विद्यमान लगभग 60 जिन-मन्दिर, जैनधर्म एवं जैनसमाज का अग्रिम प्रतिनिधित्व स्थापित करते हैं। इसी शृंखला में शहर के मध्य परकोटा में स्थित अपनी तरह का अनूठा विशाल दिगम्बर जिन-मन्दिर, श्री महावीर जिनालय के नाम से शोभायमान है।

इस जिनालय में प्रातः 7 से 9 बजे तक प्रक्षाल-पूजन, पश्चात् आगम-परमागम के परिप्रेक्ष्य में नित्य स्वाध्याय की परम्परा का संवर्द्धन होता है। इस कार्यक्रम को सम्पन्न करने का उत्तरदायित्व, स्थानीय विद्वान् पण्डित श्री मन्नूलालजी वकीलसाहब, पण्डित श्री अखिलेशजी शास्त्री एवं अन्य विद्वान् आवश्यकतानुसार पूर्ण करते हैं। सन्ध्या बेला में भी दर्शन-भक्ति-पाठशाला-स्वाध्याय आदि भी चलते ही रहते हैं।

इस जिनालय के आधार-स्तम्भ के रूप में दादा श्री कृष्णचन्दजी जैन (लाल दुकान परिवार) का योगदान अविस्मरणीय है। एक समय था, जब मन्दिरों में स्वतन्त्रतया स्वाध्याय करने में सामाजिक अड़चनें /विसंगतियाँ आड़े आईं, तो उस समय इसी लाल दुकान परिवार ने इस धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने में पूर्ण योगदान दिया, अनेक वर्षों तक स्वाध्याय आदि उनके निज निवास पर ही संचालित होते रहे।

सागर नगर का यह सौभाग्य रहा कि लाल दुकान परिवार के साथ पण्डित श्री अभयकुमारजी जैनदर्शनाचार्य, देवलाली/जबलपुर एवं ड. राकेशकुमारजी जैनदर्शनाचार्य, नागपुर की प्रगाढ़ रिश्तेदारियाँ हुईं, जिसके कारण हमें समय-समय पर स्वाध्याय के लाभ के साथ

विधान आदि अनेक आयामों के द्वारा लाभ मिलता रहता है।

यहाँ श्री महावीर जिनालय ट्रस्ट कमेटी, युवा फैडरेशन एवं महिला युवा फैडरेशन के तत्त्वावधान में तत्त्व-संगोष्ठियों का संचालन, साहित्य प्रकाशन, पाठशाला संचालन, विद्वद् समागम, पूजन-विधान, आदि धार्मिक आयोजन निरन्तर होते रहते हैं।

हम इस पुस्तक की यशस्वी लेखिका श्रीमती ड. स्वर्णलता जैन, सम्पादक ड. राकेश जैन शास्त्री नागपुर, अपना अमूल्य अभिमत प्रदान करने वाले साहित्य-साधकों, प्रस्तावना लेखक श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ के जैनदर्शन-विभागाध्यक्ष प्रो. ड. वीरसागरजी जैन, नई दिल्ली एवं अनेक भारतीय कानून की पुस्तकों के लेखक वयोवृद्ध सुप्रसिद्ध कानूनविद् श्रीमान् प्रकाशचन्द्रजी जैन, एडवोकेट, भोपाल का भी मैं आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिन्होंने भारतीय कानून के दृष्टिकोण से भी इसे देखने-परखने की कृपा की है, उनका एक लेख (कानूनविद् के हस्ताक्षर) भी हम प्रकाशित कर रहे हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन में आर्थिक सहयोग देकर उसे जन-जन तक पहुँचाने वाले 'लाल दुकान परिवार' एवं मुद्रण-सहयोगी श्री संजय शास्त्री, जयपुर आदि का हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

भविष्य में भी उक्त सभी हमें इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे – ऐसी मंगल भावना है।

आशा है – पाठकों को यह पुस्तक अवश्य हमारे जैनधर्म की महिमा एवं सांस्कृतिक धरोहर से अवगत कराएगी।

आदित्य जैन	**सन्तोष जैन**
अध्यक्ष	मन्त्री

श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सागर

*****

सम्पादकीय

'जैन संविधान' नामक इस पुस्तक में लेखक ने यह प्रदर्शित करने की कोशिश की है कि जैनदर्शन में कितनी व्यापकता है कि इसके माध्यम से हम अपने पारलौकिक उद्देश्य में तो सफल होते ही हैं बल्कि लौकिक उद्देश्यों में भी इसी से सफल होते हैं।

यद्यपि इसे लिखने की प्रेरणा उन्हें 'अतिचार और प्रायश्चित्त : जैन संविधान के सन्दर्भ में' – इस विषय पर अपना शोध-कार्य करते समय ही मिल गई थी। इसी कारण इसका नामकरण भी बुद्धिपूर्वक 'जैन संविधान' (जैन-आचार-संहिता) रखा गया है।

भारतीय संविधान में जैनों को हिन्दू कोड के अन्तर्गत समाहित किया गया है, जबकि लेखक का यह मन्तव्य है कि जैनों को किसी भी अवस्था में हिन्दूधर्मावलम्बी या अन्यधर्मावलम्बी (बौद्ध आदि) नहीं माना जा सकता है।

यह बात अलग है कि यदि आगामी भविष्य में भारतीय जीवन-पद्धति में 'समान नागरिक आचार-संहिता' लागू की जाती है तो भी हमारी कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन उसमें भी यदि जैनों के इस 'जैन संविधान' का ध्यान रखा जाएगा, तो यह जन-जन के लिए भी कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है, क्योंकि जैनधर्म, भारत का मौलिक धर्म तो है ही, सबसे प्राचीन धर्म भी है। साथ ही **'जैन संविधान' में 'जन संविधान' बनने के सारे उपादान (कारण) विद्यमान** हैं।

इस पुस्तक को तीन अध्यायों में विभक्त किया गया है – **'जैन संविधान की आवश्यकता'**, **'जैन संविधान'** और **'जैन संस्कृति'।**

प्रथम अध्याय में **'जैन संविधान की आवश्यकता'** का प्रतिपादन करते हुए – जैनदर्शन में संविधान से तात्पर्य, हिन्दू कानून से अलग

स्वतन्त्र जैन कानून की आवश्यकता, हिन्दूधर्म से जैनधर्म की विशेषता, क्या जैनी, हिन्दू-धर्म-च्युत भिन्न-मतावलम्बी हैं ? क्या जैनधर्म, 'बौद्ध-धर्म का बच्चा' है ? आदि आक्षेपात्मक प्रश्नों के समाधान भी किये हैं।

इस सम्बन्ध में भारतीय गणराज्य के सर्वप्रथम प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू का आश्वासन भी प्राप्त हुआ था, उनके ही शब्दों में जैन लॉ और हिन्दू लॉ में अन्तर है – यह बताया है।

भारतीय संविधान के विभिन्न पहलुओं पर जैनधर्म का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, 'जियो और जीने दो' के पावन-सन्देश सन्देश से सम्पूर्ण भारतीय संविधान आलोकित है। हमारे राष्ट्रीय ध्वज -चिह्न एवं गान में भी जैन तत्त्व विद्यमान हैं, भारत के प्राचीन लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के निर्माता भी भगवान महावीर के वंशज ही थे; जिन्होंने वैशाली गणतन्त्र की स्थापना की थी।

इतना ही नहीं, बल्कि भारतीय संविधान में पन्थवाद और साम्प्रदायिकता का निराकरण, अहिंसा और विश्व-शान्ति का सन्देश, जीवमात्र के प्रति दया, पशु-संरक्षण की भावना, आदि तत्त्वों का समावेश भी जैनधर्म से प्रभावित होकर किया गया है। भारतीय संविधान सभा के अध्यक्ष के रूप में ड. भीमराव बाबासाहेब आम्बेडकर भी जैनधर्म से खासे प्रभावित रहे हैं।

इस अध्याय में भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में जैनों का योगदान, भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैनों का योगदान, राष्ट्र के चतुर्मुखी विकास में 'जैन समाज' की अग्रणी भूमिका, संविधान के निर्माण में भी जैन सदस्यों की भूमिका, जैन-समाज को धर्म पर आधारित अल्पसंख्यक का दर्जा, घोषित होने से जैनों को प्राप्त होनेवाले अधिकार, शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक-नैतिक शिक्षा-सम्बन्धी स्वतन्त्रता के अधिकार, इत्यादि विषयों का भी समावेश इसमें किया गया है।

इसके बाद **द्वितीय अध्याय** में **'जैन संविधान'** के प्रगट स्वरूप से अवगत कराया गया है; इसमें जैन संविधान को सर्वत्र एक

रामबाण अचूक उपाय सिद्ध किया गया है। भारतीय समाज, जैन संविधान से अपरिचित क्यों है ? – इस सम्बन्ध में जैन समाज की जो ऐतिहासिक भूल हुई है, उससे अवगत कराया गया है।

हम लौकिक-जीवन कैसे जिएँ ? – इस सम्बन्ध में हमारा जैन संविधान क्या कहता है ? इसे अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। वसीयत, एक संवैधानिक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है, उसे लिखने का भी एक विशेष प्रयोजन होता है, उसकी आवश्यकता बताते हुए कहा है कि उससे आगामी अनेक विवादों का समाधान सहज ही हो जाता है।

जैन संविधान में संयुक्त-परिवार की अपेक्षा विभाजित-परिवार को उत्तम माना गया है। सम्पत्ति में माता का विशेष अधिकार माना है। 'जैन संविधान' के अनुसार दत्तक पुत्र लेने का प्रयोजन, दत्तक पुत्र बनने की योग्यता, दत्तक पुत्र को गोद लेने की विधि, दत्तक पुत्र के अधिकार आदि विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

लौकिक विवादों के समाधान हेतु बैरिस्टर चम्पतरायजी द्वारा लिखित 'जैन लॉ' (जैन कानून) नामक दस्तावेज एवं उसकी प्रस्तावना में भी स्पष्ट दिशा-निर्देश दिये गये हैं। जैसे,

'जैन संविधान' के अनुसार सम्पत्ति का विभाजन कैसे करते हैं ? अविभाजित सम्पत्ति कौनसी होती है ? सम्पत्ति का विभाग किस-किसको और कितना-कितना किया जाना चाहिए ? पैत्रिक (पितामह आदि) सम्पत्ति का अधिकार, पिता की सम्पत्ति का अधिकार, माता के अधिकार, पुत्रों के अधिकार, कुँवारी बहिन के अधिकार, विवाहिता पुत्री के अधिकार, जंगम एवं स्थावर-सम्पत्ति का स्वामित्व व अधिकार, विधवा के अधिकार, दायाद अर्थात् सम्पत्ति-विभाग के अधिकारी कौन-कौन ? दायभाग के अयोग्य कौन ? स्त्रीधन किसे कहते हैं ? भरण-पोषण (गुजारा) के अधिकारी कौन होते हैं ? संरक्षक के कर्तव्य क्या होते हैं? आदि के बारे में जैन-संहिता-ग्रन्थों पर आधारित इस पुस्तक में जैन समाज के लिए योग्य मार्गदर्शन किया गया है।

इस प्रकार लौकिक जीवन के कानूनों का निष्कर्ष बताते हुए सम्पत्ति आदि की दृष्टि से जैन लॉ और हिन्दू लॉ में क्या अन्तर है। यह स्पष्टतः पता चल जाता है।

जैन संविधान के अनुसार सृष्टि का प्रारम्भ कैसे हुआ ? समाज की वर्ण-व्यवस्था क्या है ? आश्रम-व्यवस्था क्या है ? रीति-रिवाजों का क्या स्थान है ? जैन श्रावक की दिनचर्या क्या होती है ? दैनिक षट्कर्म में देव-पूजा/देव-सेवा का उपदेश, अभिषेक (प्रक्षाल) पूर्वक पूजन करने का विधान, जैनदर्शन में ही ऐतिहासिक रूप से मूर्ति-पूजा का समर्थन मिलता है। पूजन-पाठ के सम्बन्ध में जैन संविधान क्या है ? पूजन के पाँच अंग कौनसे हैं ? आदि का निरूपण किया है।

विशेष धार्मिक अनुष्ठानों में शान्ति-जाप्य, ध्वजारोहण, मंगल-कलश-स्थापना आदि विधियाँ क्या हैं ? इन सबके प्ररूपक विधि-विधान-सम्बन्धी ग्रन्थों की आचार्य-प्रणीत शृंखला भी यहाँ विद्यमान है।

दिगम्बर जैनधर्म में भी एक समय ऐसा आया, जब यह महसूस हुआ कि उसमें भी विकृति का प्रवेश होने लगा है तो आज से लगभग 500 वर्ष पूर्व शुद्ध तेरा-पन्थी दिगम्बर जैन आम्नाय की विशेषरूप से स्थापना हुई। इसका भी विशेष स्पष्टीकरण इसमें किया गया है।

लौकिक जीवन में श्रावकाचार के अन्तर्गत विवाह के माध्यम से स्व-स्त्री-सन्तोष-व्रत का भी समर्थन मिलता है; अतः 'जैन संविधान' यह स्पष्टतः बताता है कि किसके साथ विवाह करना और किसके साथ नहीं करना ? विवाह का उद्देश्य क्या है ? उसका प्रयोजन क्या है ? विवाह सम्पन्न करने की विधि क्या है ? आदि के बारे में नीति-ग्रन्थों में विशेष वर्णन किया गया है। विवाह में सात फेरों का उद्देश्य, सप्त-पदी, सप्त-वचन, गृहस्थाचार्य का उपदेश, वर-वधू के सप्त वचन, आदि के साथ विवाहोपरान्त पति-पत्नी के परस्पर-व्यवहार कैसे हों ? आदि विषयों की विशिष्ट जानकारी इसमें विद्यमान है।

जैन संविधान में निर्दोष व्रतचर्या के साथ-साथ यथोक्त दोषों एवं उनके निराकरणार्थ निर्दोष प्रायश्चित्त आदि का विस्तृत विवेचन चरणानुयोग के ग्रन्थों में किया गया है। जैसे, 'जैन संविधान' में अतिचार एवं प्रायश्चित्त-विधान, दण्डनीति, दण्डनीति की वैज्ञानिकता, उसका माहात्म्य, आदि विषय वर्णित हैं।

जैन संविधान में प्रायचित्त-विधान का उद्देश्य प चात्ताप, सुधार, ग्लानि, आत्म-निन्दा, आत्म-गर्हा, आत्म- ुद्धि, दो ा-निवारण, आदि से है, केवल सजा देना या दण्ड देने से नहीं।

नीतिवाक्यामृत की दण्डनीति में स्पष्ट कहा है – 'अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल दण्ड देना ही दण्डनीति है।'[1]

जिस व्यक्ति ने जैसा अपराध किया है, उसे उसके अनुकूल दण्ड देना, वही दण्ड-नीति है। जैसे, जुर्माना-योग्य अपराधी को उसके अपराध के अनुसार जुर्माना करना, न्यायोचित दण्ड-नीति है और इसके विपरीत कारावास या जेलखाने की कड़ी सजा देना, अन्याययुक्त अति कठोर दण्ड-नीति है, इत्यादि।

इसी प्रकार प्रवचनसार में सर्वप्रथम अपराध का निर्धारण करने हेतु चरणानुयोगसूचक चूलिका गाथा 211-212 में स्पष्ट निर्देश दिया है –

पयदम्हि समारद्धे, छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो, आलोयणपुव्विया किरिया।।
छेदुवजुत्तो समणो, समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जालोचित्ता, उवदिट्ठं तेण कायव्वं।।

अर्थात् "यदि साधक के प्रयत्नपूर्वक की जानेवाली काय-चे टा में दोष लगता है तो वह आलोचनापूर्वक क्रिया के द्वारा शुद्ध हो जाता

---

1. नीतिवाक्यामृत, अध्याय 9, दण्ड-नीति समुद्देश, सूत्र 2
2. प्रवचनसार, चरणानुयोगसूचक चूलिका, गाथा 211-212

है, परन्तु यदि साधक, स्वयं बुद्धिपूर्वक छेद में उपयुक्त होता है, उसमें प्रवृत्त होता है तो उसे व्यवहार-कुशल योग्य गुरु आदि के पास जाकर आलोचना करके अर्थात् अपने दोषों का निवेदन करके उनके कहे अनुसार प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए।''

तात्पर्य यह है कि दोष में यह देखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि वह दोष बुद्धिपूर्वक लगाया गया है या अबुद्धिपूर्वक लग गया है; दोषी को उसी के अनुसार प्रायश्चित्त दिया जाता है। अर्थात् इसी प्रकार के अन्य सम्भावित विकल्पों का विचार करके ही न्यायाधीश को प्रायश्चित्त अर्थात् सजा देना चाहिए। इसी प्रकार गुरु या विद्वान, अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देना योग्य है।

जो व्यक्ति, अपराध से न्यूनाधिक अर्थात् कमती-बढ़ती दण्ड देता है; वह स्वयं अपराधियों के पापों से लिप्त हो जाता है, अतः वह स्वयं वि ुद्ध नहीं रहता है।

ऐसा ही विचार, पुस्तक में भी डॉ. एम. एल. ार्मा के माध्यम से व्यक्त हुआ है –

''न्यायालय को भी उचित परीक्षा के बिना किसी व्यक्ति को दण्ड नहीं देना चाहिए। न्याय के हित में यह आव यक है कि पहले अभियुक्त का अपराध सिद्ध हो, तभी उसे दण्डित किया जाए। अपने क्रोध को ाान्त करने अथवा बदला लेने की भावना से किसी भी व्यक्ति को दण्ड देना, राजा के लिए सर्वथा अनुचित है।

पहले भी न्यायालय में वादों (मुकदमों) पर खुले रूप में विचार किया जाता था। कोई भी व्यक्ति वहाँ की कार्यवाही को देख-सुन सकता था। भारत में गुप्तरूप से न्याय करने की प्रणाली को दो ायुक्त समझा जाता था।"

चाणक्य-नीति के अनुसार भी "राजा का कर्तव्य है कि वह ात्रु और पुत्र को उनके अपराध के अनुकूल पक्षपात रहित होकर दण्ड देवे,

क्योंकि अपराधानुकूल न्यायोचित दण्ड ही इसलोक और परलोक की रक्षा करता है। दण्ड-नीति के आश्रय से राजा को प्रजा के धर्म, व्यवहार और चारित्र की रक्षा करनी चाहिए।''

इस प्रकार 'जैन संविधान' का राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी विशेष महत्त्व है, जिसे समझने एवं स्वीकार करने की आवश्यकता है – यह इस अध्याय से स्पष्ट हो जाता है।

तत्पश्चात् 'तृतीय अध्याय : **जैन संस्कृति**' में लेखिका ने यह प्रदर्शित किया है कि भारतीय संस्कृति में जैन संस्कृति ने किस प्रकार अपना विशिष्ट स्थान बनाया है।

इस अध्याय में लेखिका ने **जैनधर्म के अनुसार धर्म की सार्वभौमिक व्याख्या करते हुए उसका स्वरूप एवं आवश्यकता बताकर, जैनधर्म को एक महान वैज्ञानिक धर्म निरूपित किया है। इसी प्रकार जैनधर्म पर आधारित जैन संस्कृति में धार्मिक सहिष्णुता के साथ-साथ आध्यात्मिक दृष्टिकोण का भी सर्वत्र प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण जैन संविधान में कहा गया है कि 'आत्मजयी ही वास्तव में इन्द्रियजयी है।'**

प्राणीमात्र को अभय प्रदान करनेवाली यह संस्कृति, आज की या कुछ सौ या हजार वर्ष पुरानी नहीं, बल्कि अनादिकालीन तीर्थंकर-परम्परा से चली आ रही है। प्राचीन साहित्य में एवं शिलालेखीय साक्ष्यों में तीर्थंकर ऋषभदेव एवं जैनधर्म की सुदीर्घ प्राचीनता के प्रमाण मिलते हैं। जैन संस्कृति की प्राचीनता को स्वीकार करनेवाले अनेक इतिहासज्ञ व विद्वानों के दुर्लभ विचार भी इस में संगृहीत हैं।

जैन संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को सिद्ध करने के लिए भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मन्त्रालय के प्रकाशन विभाग से प्रकाशित एक हिन्दू विद्वान् श्रीमान् बिशम्भरनाथ पाण्डे की एक किताब – '**भारत और मानव संस्कृति**' के दो खण्डों में विस्तृत

विवेचन के साथ जैन संस्कृति के पूर्वकालिक ऐतिहासिक नाम, 'निवर्तक धर्म' से भी उन्होंने यह बात अच्छी तरह सिद्ध की है।

वैदिक संस्कृति को वे प्रवर्तक धर्म निरूपित करते हैं और उससे जैन निवर्तक संस्कृति को सर्वथा पृथक् सिद्ध किया है। इस निवर्तक धर्म के आचार-विचार का प्रभाव, आज से हजारों वर्ष पूर्व यूनानी संस्कृति व ऐस्सेनी नामक महान साधकों पर भी देखा जा सकता है।

उनके अनुसार भारतीय संस्कृतियों एवं दर्शनों का भी परस्पर आदान-प्रदान खूब हुआ। परवर्ती काल में श्रमणोपासक, निर्ग्रन्थी, जिनधर्मी अथवा जैन – ये सभी नाम जैनधर्म के पर्यायवाची हुए।

आज के भारत-निर्माण की भूमिका में सम्राट् चन्द्रगुप्त और उनके गुरु चाणक्य से कौन अपरिचित है। सम्राट् अशोक भी चन्द्रगुप्त का ही पोता था। उनकी वंश-परम्परा पर भी जैनधर्म का बहुत गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। चन्द्रगुप्त ने जैनधर्म के महान साधक श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु से अन्त में दीक्षा भी ले ली थी।

भारतीय क्षेत्र में जैन संस्कृति का परस्पर विकास व संरक्षण दृष्टिगोचर करने के लिए भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों के इतिहास में जाना जरूरी है। पश्चिम बंगाल में भी जैन संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है। बिहार में भी महावीर एवं बुद्ध की ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि का अवलोकन कर सकते हैं।

पूर्व के कुछ इतिहासज्ञों से यह महान भूल हुई थी कि उन्होंने महावीर और बुद्ध को समकालीन होने से एक ही मान लिया था, जबकि परवर्ती इतिहासज्ञों ने इस विचार को सिरे से नकार दिया। महावीर और बुद्ध के दृष्टिकोणों में भी महान अन्तर परिलक्षित होता है। जैनधर्म और बौद्धधर्म में साम्प्रदायिक दृष्टि से भी अन्तर देखा जा सकता है। इसके लिए लेखक ने जैन-श्रमण की बौद्ध-श्रमण एवं वैदिक साधुओं से तुलना भी की है।

अन्य परम्पराओं पर जैन संस्कृति का प्रभाव और जैन संस्कृति पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव किस प्रकार पड़ा, इसे भी इतिहास के आइने में देखना आवश्यक है। प्रसिद्ध सूफी सन्त अबुल अला एवं जलालुद्दीन रूमी पर भी जैन संस्कृति का प्रभाव अवश्य पड़ा था। उन पर जैन संस्कृति के अहिंसा-प्रधान उपदेश एवं भावों की प्रधानता वाले सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

श्री बिशम्भरनाथ पाण्डे की सूक्ष्म प्रज्ञा ने यह भी देख लिया था कि जैनधर्म में दिगम्बर-श्वेताम्बर विचारधाराओं का प्रादुर्भाव कब, कैसे, क्यों हुआ था तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर विचारधारा में मूलभूत अन्तर क्या है। उनके अनुसार आज से लगभग 500 वर्ष पूर्व समस्त भारतीय दर्शनों में संक्रान्ति का काल आया था और उससे कोई नहीं बच पाया था। कबीर, नानक, आदि के युग में ही जैनधर्म के दोनों सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा से जुड़े आडम्बरों के विरुद्ध चेतना-जागृति हुई थी, इन सम्प्रदायों में मूर्ति के बिना धार्मिक संस्कारों की स्थापना हुई।

महात्मा गांधी के जीवन पर उनकी माँ के जिनधर्मी होने के कारण जैनधर्म का प्रभाव कितने गहरे तक उतर गया था, इसका प्रमाण, उनके द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अहिंसा को अलौकिक शस्त्र बनाने से ही सिद्ध होता है। इसका एक कारण यह भी था कि महात्मा गांधी, जैनधर्म के साक्षात् महान साधक श्रीमद् रायचन्द को अपना गुरु मानते थे। महात्मा गांधी के विचारों को प्रेरित करनेवाले जार्ज बर्नाड शॉ पर भी जैनधर्म का प्रभाव प्रदर्शित किया गया है।

इस पुस्तक से जुड़ने का सौभाग्य मुझे प्रारम्भ से ही मिला है क्योंकि लेखिका ने अपना शोधकार्य टाइप-सेटिंग करने से पूर्व जब मुझसे बात की तो अन्यत्र टायपिंग कराने में होनेवाली परेशानी से बचने हेतु मैंने इसे स्वयं टाइप करने की सोची, ताकि प्रारम्भ से ही शुद्धतापूर्वक टायपिंग की जा सके, क्योंकि आखिरकार इसका सम्पादन भी मुझे ही करना था।

इस पुस्तक में जितने भी ग्रन्थों या पुस्तकों के सन्दर्भ संगृहीत किये गये हैं, उनका हिन्दी अनुवाद, भाषा-परिवर्तन, भाषा-संशोधन आदि भी स्वयं ही किया गया है, परन्तु लेखक के मूल भावों को पूर्ण शुद्ध एवं सुरक्षित रखने का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। इसका कारण यह है कि पाठकों को पढ़ते समय विषय के साथ धारा-प्रवाह जुड़े रहने में किसी प्रकार की अड़चन न हो। इससे यदि कतिपय पाठकों को पाठ मिलाने किंचित् यत्किंचित् परेशानी होती है, तो उसके लिए हम दोनों क्षमाप्रार्थी हैं।

अनेक भारतीय कानून की पुस्तकों के लेखक वयोवृद्ध सुप्रसिद्ध कानूनविद् श्रीमान् प्रकाशचन्द्रजी जैन, एडवोकेट, भोपाल का भी मैं आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिनके पास हम गये तो थे अपनी पुस्तक के लिए अभिमत लेने, लेकिन उन्होंने इस पुस्तक का गहन अध्ययन करके हमें अपने लेख के माध्यम से ऐसा दस्तावेज दे दिया, जिससे हम कह सकते हैं कि हमारे इस 'जैन संविधान' को वर्तमान कानून की नजर से भी देखा-परखा जा चुका है; अतः उन्होंने उनके लेख को नाम दिया है – **कानूनविद् के हस्ताक्षर**।

वास्तव में इस लेख के माध्यम से हम अपनी बात को सरकार के पास तक पहुँचाने में अवश्य सफल होंगे। उन्होंने अनेक प्रकार से हमें मार्गदर्शन भी दिया है कि जैन समाज को आगे किस प्रकार कार्य करना चाहिए। उनकी तो भावना है कि यह पुस्तक सर्वत्र विश्वविद्यालयों, नामी पुस्तकालयों में, और प्रत्येक सार्वजनिक स्थान पर उपलब्ध हो।

अतः हम अवश्य यह प्रयास करेंगे कि बैरिस्टर श्री चम्पतरायजी एवं एडवोकेट श्री प्रकाशचन्द्रजी की भावना अवश्य सफल हो।

इस विधा के माध्यम से भी हम अपने लौकिक-परलौकिक जीवन को सफल बनाएँ – इस पवित्र भावना के साथ विराम लेते हैं।

– **डॉ राकेश जैन शास्त्री**, नागपुर

प्रस्तावना

भारतीय संविधान से तो हम सब सुपरिचित हैं, परन्तु जैन संविधान कभी सुना नहीं है, अतः अटपटा लगता है, परन्तु यदि गम्भीरता पूर्वक चिन्तन किया जाए तो समझ में आता है कि जैन संविधान, एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं रोचक विषय है, जिस पर शोध-कार्य होना चाहिए। जैनों की रीतिनीति को ही जैन संविधान कहते हैं। इसमें जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित विधि-निषेध या कर्तव्याऽकर्तव्य का सारा विवरण निबद्ध रहता है। इसमें जहाँ एक ओर वर्तमानकालीन स्थिति प्रतिबिम्बित होती है तो दूसरी ओर भविष्यकालीन प्रगति का मार्ग भी प्रदर्शित होता है।

जैन संविधान, मुख्यतः दो प्रकार का है – 1. आध्यात्मिक संविधान और 2. सामाजिक संविधान। यद्यपि जैन संविधान के अनेक भेद किये जा सकते हैं – साहित्यिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, प्राकृतिक, आयुर्वेदिक, भाषिक आदि; क्योंकि इन सभी क्षेत्रों में जैनाचार्यों की रीति-नीति अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उनके विचार सर्वत्र ही बड़े मौलिक एवं प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। कोई शोधार्थी इन सब विषयों पर पृथक् पृथक् शोध या शोध-निबन्ध प्रस्तुत कर सकता है, करना ही चाहिए; इससे जनता का बड़ा हित होगा।

जैन संविधान, अत्यन्त व्यापक है, वह जीवन के हर क्षेत्र में मानव-जाति को मंगलकारी दिशानिर्देश करता है। जैन संविधान की आत्मा, अहिंसा और अनेकान्तवाद है, उसमें हिंसा और दुराग्रह को कोई स्थान नहीं है। उसका समूचा भव्य भवन, अहिंसा और अनेकान्तवाद के सुदृढ़ स्तम्भों पर बना/खड़ा हुआ है, अतः वह बड़ा ही प्रजातान्त्रिक है; सार्वजनिक, सार्वभौमिक और सार्वकालिक है। आचार्य समन्तभद्र ने इसे 'सर्वोदय तीर्थ' की संज्ञा दी है। जैन संविधान, मात्र मनुष्यों का ही नहीं, अपितु सर्व जीव-समूह का हित- चिन्तन करता है। वह वर्ण, जाति, लिंग, क्षेत्र आदि के समस्त भेद-भावों से ऊपर उठकर, सर्व-जीव-समभाव का सुन्दर वातावरण निर्मित करता है।

जैन संविधान, जन-जन की ही नहीं, कण-कण की स्वतन्त्रता का उद्घोष करता है; वह जनतन्त्र की नहीं, कण-तन्त्र तक की बात करता है।

जैन संविधान, व्यक्तिवादी नहीं, वस्तुवादी है। वह व्यक्ति के आधार पर नहीं, अपितु वस्तु के आधार पर अपने सिद्धान्तों का निर्माण करता है।

जैन संविधान का निर्माता कोई व्यक्ति नहीं है, ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर भी नहीं। वे तो इसके प्रणेता मात्र हैं, निर्माता नहीं।

जैन संविधान, आदेश में नहीं, उपदेश में विश्वास रखता है। वह कभी किसी को बलात् प्रवृत्ति नहीं कराता; वह सदा हित-मित-प्रिय कथन करने का ही पक्षधर रहा है।

जैन संविधान, बहिष्कार में नहीं, परिष्कार में विश्वास रखता है, विवाद में नहीं, संवाद में विश्वास रखता है।

जैन संविधान, अनेकान्तवाद में गहरा विश्वास रखता है, क्योंकि इसे छोड़ते ही आतंकवाद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो स्व-पर घातक है। आतंकवाद कहता है – 'मरो और मारो', जबकि अनेकान्तवाद कहता है – 'जियो और जीने दो'। अनेकान्तवाद ही अहिंसा, प्रेम, सहिष्णुता, उदारता, और विश्व-मैत्री का वातावरण बना सकता है।

जैन संविधान की ऐसी ही और भी अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं, जिन्हें समझ-समझा कर हम एक सुन्दर की विश्व की संरचना के साक्षी बन सकते हैं।

श्रीमती स्वर्णलता जैन ने 'जैन संविधान' पर शोध-प्रबन्ध लिखकर बहुत ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय कार्य किया है। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इससे साहित्य व समाज का बड़ा हित होगा और आगामी शोध छात्रों को भी इस दिशा में और अधिक शोध-कार्य करने की प्रेरणा मिलेगी।

– **प्रो. ड. वीरसागर जैन**

श्री लालबहादुर शास्त्री विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

कानूनविद् के हस्ताक्षर

1. विदुषी बहिन श्री स्वर्णलताजी द्वारा किए गए शोधकार्य पर आधरित एवं डॉ. राकेश जैन शास्त्री द्वारा सम्पादित पुस्तक 'जैन संविधान' प्राप्त हुई। सर्वप्रथम युगल विद्वान्, लेखिका एवं सम्पादक महोदय बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने कठिन परिश्रम से हर दृष्टि से मानव मात्र की ही नहीं, जीव मात्र के जीवन को सार्थक और सुखमय बनाने वाले जैन सिद्धान्तों और नियमों के सागर को सरलरूप में गागर में भर दिया है। इस कार्य से विपुल जैन साहित्य में एक महती कमी की पूर्ति हुई है।

2. जैन सिद्धान्त और नियम, शाश्वत, पूर्ण वैज्ञानिक और मानव ही नहीं, बल्कि समस्त जगत् के जीव-जन्तुओं के साथ प्रकृति और पर्यावरण के अनुकूल और हितकारी हैं। इन्हीं की किंचित् पालना से जैनधर्म के अनुयायी, जगत् में किसी प्रकार की हीन-भावना या किसी कमी का अनुभव नहीं करते हैं। उन्होंने समाज में हर काल में अपना वजूद बनाये रखा है और अपना श्रेष्ठतम प्रदर्शन किया है; इस कारण हमेशा दूसरों की ईर्ष्या का पात्र भी रहे हैं।

3. इतिहास में कही भी इस बात का उल्लेख नहीं मिलता है कि सक्षम और सम्पन्न होने के बाद भी जैनियों ने धर्म या जाति के नाम पर किसी अन्य का नुकसान किया हो, करवाया हो, या उसकी चेष्टा भी की हो। जैन बन्धुओं का हमेशा देश और समाज को सकारात्मक योगदान रहा है। इन बातों का श्रेय, जैन सिद्धान्तों और नियमों को जाता है। धर्म-पालन में धार्मिक नियमों की पालना, समाज के लोग बखूबी करते हैं, इससे अन्य लोगों को कोई फर्क नहीं पड़ता है तथा उनका कोई हस्तक्षेप भी नहीं होता है, किन्तु उत्तराधिकार, भरण-पोषण, दत्तक-ग्रहण, विवाह आदि जैसे वैयक्तिक कानूनों (Personal Laws) का वास्ता अन्य लोगों से भी पड़ता है। विवाद की स्थिति में उनका निपटारा करने की जिम्मेदारी शासन, प्रशासन, न्यायालयों की हो जाती

है। इसके लिए किसी निश्चित नियम-कानून की आवश्यकता होती है और अन्य लोगों का दखल होना अवश्यंभावी है।

4. कुछ शताब्दियों से, जैसा कि विद्वान् लेखिका महोदया ने इंगित किया है, आधुनिक शासन और न्याय-व्यवस्था का विकास हुआ है। जैन-मतावलम्बियों के मामले निपटाने में जैनों के वैयक्तिक नियमों व सिद्धान्तों पर न तो जोर दिया गया है, और न ध्यान ही दिया गया है तथा एक प्रकार से उनको विस्मृत ही कर दिया गया है। चूंकि शासन और न्याय-व्यवस्था को तो अपना कार्य करना ही था, अतः अन्य नियमों के अनुसार मामलों के निपटारे होते रहें। यद्यपि कहीं-कहीं मामलों में जैन नियमों व सिद्धान्तो का सहारा भी लिया गया था।

5. गत शताब्दी में, नई चेतना जाग्रत होने और आजादी के आन्दोलन के दौरान आज से लगभग 90 वर्ष पूर्व समाज के विद्वान् बैरिस्टर स्व. चम्पतरायजी ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया था तथा समाज को जागृत करने का प्रयास किया था और नियमों की सन्दर्भ सहित हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में पुस्तक तैयार कर प्रकाशित की थी।

8. यह भी सम्भव है कि संविधान सभा के माननीय सदस्यों ने उससे लाभ प्राप्त कर, अनुच्छेद 25 के उपबन्ध, संविधान में डाले हों। भारत सरकार ने 1955-56 में हिन्दू विधि में सुधारों सहित हिन्दू कोड बिल लाकर हिन्दू समाज के कानून, जैन व अन्य अल्पसंख्यक समाज के व्यक्तियों पर भी लागू कर दिए थे।

9. यद्यपि उक्त नियमों में अभी भी संशोधन करना जारी है और इसके लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वे समाज-हित में ही हों। न कभी इस बात का प्रयास ही किया जाता है कि ऐसे संशोधनों का समाज को लाभ भी हुआ है अथवा नहीं। कदाचित् इन कानूनों के कारण घर, परिवार और रिश्तेदारों में झगड़े भी बढ़े हैं तथा नाते-रिश्तों में प्रेम की बजाए खटास पैदा हो गई है।

10. इस शोध-ग्रन्थ से विद्वान लेखिका ने स्व. बैरिस्टर चम्पतरायजी के महत् कार्य को समग्रता में आगे बढ़ाया है। जैनधर्म के सिद्धान्त,

किसी वर्ग विशेष के हित के लिए नहीं हैं, अपितु प्राणिमात्र के कल्याण के लिए हैं, जिनका पालन करने से कभी किसी का नुकसान नहीं हो सकता है। जैन-आचरण-संहिता या जैन-वैयक्तिक-कानून, किसी के हित-साधन और स्वार्थ के लिए नहीं बनाए गए हैं। इन्हें तर्क और अन्य कसौटियों पर भी परखा जा सकता है।

11. जिस प्रकार जैनदर्शन में बतलाए मार्ग पर चलने से सर्वांगीण विकास होता है, जो दृष्टिगोचर भी है; उसी प्रकार वैयक्तिक-कानूनों की पालना में भी सुख और शान्ति है। ये जैनधर्म की विरासत के ही महत्वपूर्ण अंश हैं। हम यह कह सकते हैं कि देश के शासकीय आंकड़ों के अनुसार देश में जैन-बन्धुओं की औसत आयु, सर्वाधिक और बाल-मृत्यु-दर सबसे कम है। शिक्षा में भी जैन-लड़कियाँ सबसे आगे हैं।

13. देश के वर्तमान परिवेश में, कॉमन-सिविल-कोड की बात हो रही है, जिसका संविधान में भी निर्देश है और माननीय उच्चतम न्यायालय ने भी अनेक बार इस ओर ध्यान आकृ ट किया है। कतिपय अन्य धार्मिक वैयक्तिक कानूनों की संवैधानिक वैधता, उनकी उपादेयता और समाज पर पड़नेवाले उनके प्रभावों पर गम्भीर बहस भी चल रही है और मामला न्यायालय में विचाराधीन भी है।

14. यद्यपि आज की परिस्थिति में जैन-वैयक्तिक-कानूनों का पालन करने के लिए शासन और न्यायालयों द्वारा मान्यता प्रदान करने की माँग करना, समीचीन प्रतीत नहीं होता है। सर्वप्रथम तो ऐसे नियमों की समाज में ही समुचित जानकारी नहीं है और उनका पालन भी कदाचित् ही हो रहा होगा; अतः प्राथमिकता, उनको समाज में और समाज के बाहर व्यापक प्रचार-प्रसार करने की है। कोशिश हो कि जैनधर्म की सभी जैन-आम्नायों के अनुयायी, इनको जानें और अपने मामले आपस में रजामन्दी से यथासम्भव इनके अनुसार ही निपटाएँ। न्यायालय तो वर्तमान के संहिता-बद्ध कानूनों से ही चलेंगे। फिर अवसर आने पर न्यायालय के समक्ष भी उन्हें रखा जा सकता है और सरकारी कानूनों के निर्वचन में उनकी सहायता प्राप्त करने की कोशिश भी की जा सकती है। निरन्तर प्रयोग से वे रूढ़ि का रूप भी ले सकते हैं।

17. चूंकि कानून कभी स्थिर नहीं होते है। देश, काल और समाज की आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन भी होते हैं, अतः भविष्य में जब कभी भी ऐसे मौके आएँगे तो समाज का पक्ष सुना जा सकेगा, उन पर विचार भी किया जा सकेगा। पूर्व की भाँति यह नहीं हो सकेगा कि कोई कहे कि जैन-जगत् में ऐसे कोई नियम, सिद्धान्त या परम्पराएँ अथवा रूढ़ियाँ ही नहीं हैं; अतः इनकी व्यापक जानकारी एवं प्रचार-प्रसार की परम आवश्यकता है, इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।

18. जैनधर्म, अनन्त काल से ही एक मूल धर्म है और इसका गौरवशाली इतिहास, साहित्य, विज्ञान और परम्पराएँ हैं। इसी के अन्तर्गत वैयक्तिक कानूनों की परम्पराएँ भी हैं। जब वे प्रकाश में आएँगी और उपयोग होने पर कसौटी पर भी परखी जाएँगी, तो उनकी उपयोगिता, उपादेयता के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं होगी।

19. आदरणीय विदुषी बहिन डॉ. स्वर्णलताजी ने इस विषय को लेकर अपने ज्ञान, परिश्रम और समय का सुदपयोग कर, न सिर्फ समाज की भलाई की है, अपितु मानव मात्र की भलाई के लिए भी कार्य किया है। यह मानव की भलाई के लिए छिपे खजाने को ढूँढ़ने जैसा कार्य है।

20. इस बात की भी आवश्यकता है कि इस बात पर शोध की जाए कि गत 100 / 150 वर्ष में संशोधित और प्रचलित वर्तमान कानूनों से सर्व समाज का कैसा और कितना हानि-लाभ हुआ है। इन कानूनों से घर-परिवारों में झगड़े बढ़े हैं या कम हुए हैं। समाज के लिए कानून बने हैं या कानून के लिए समाज हो गया है; अतः इस महत् विषय को केन्द्र-बिन्दु में लाने के लिए मैं पुनः आपको बधाई देता हूँ एवं बहुमान का भाव प्रकट करता हूँ।

— **प्रकाशचन्द्र जैन,** एडवोकेट[1]

पूर्व उपाध्यक्ष, **रेल दावा अधिकरण,** चेन्नई

पूर्व अपर-विधायी परामर्शी, **विधि एवं न्याय मन्त्रालय, भारत सरकार**

1. आप भारतीय कानून की पुस्तकों के यशस्वी लेखक एवं वरिष्ठ एडवोकेट हैं।

अपनी बात

संविधान, हमारे जीवन जीने का एक आधारभूत स्तम्भ है। इसका सम्बन्ध मात्र जैनधर्म से ही नहीं, वरन् हम सबकी जीवन-शैली से है। सभी धर्मों के अनुयायियों की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् जीवन- ौली होती है और पृथक्-पृथक् आचार-संहिता होती है। जैसे, सभी का रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल, रीति-रिवाज, ादी-विवाह, आदर-सत्कार, पूजा-पाठ आदि की पद्धतियाँ अलग-अलग हैं; अतः सभी का संविधान भी अलग-अलग होता है। लेकिन यदि व्यक्ति, अपने को किसी भी संविधान से सम्बद्ध नहीं मानेगा तो उसका आचार-विचार ही भ्र ट हो जाएगा; अतः व्यक्ति, परिवार, समाज, देश एवं राष्ट्र का गौरव, उसके संविधान पर निर्भर करता है।

संविधान से तात्पर्य

संविधान एवं संहिता — ये दोनों, दो-दो ाब्दों से मिल कर बने हैं — सं + विधान = संविधान एवं सं + हिता = संहिता। अर्थात् जो सं अर्थात् सम्यक् प्रकार से वस्तु-व्यवस्था का विधान या कथन करता है, उसे **संविधान** कहते हैं तथा जो सम्यक् प्रकार से वस्तु-स्वरूप को व्यवस्थित करती है, प्रस्तुत करती है, उसको **'संहिता'** कहते हैं।

वास्तव में जन-संविधान और जैन-संविधान में मात्र दो मात्राओं का अन्तर है, जिसमें एक मात्रा सम्यक्श्रद्धा की है और दूसरी सम्यक्चारित्र की; जो मोक्षमार्ग की ओर इंगित करती हैं, वीतरागता की प्रेरणा देती हैं, उसे प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करती है।

जैन संविधान का आधारभूत साहित्य

'जैन संविधान' से तात्पर्य जैनधर्म के अनुयायियों के द्वारा अपनायी जानेवाली आगमोक्त जीवन- ौली है। 'जैन संविधान' — यह किसी पुस्तक-वि ो ा का नाम नहीं है, बल्कि इसका मूलभूत स्रोत

जिनागम है। जिनागम को मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया गया है – 1. प्रथमानुयोग 2. करणानुयोग 3. चरणानुयोग 4. द्रव्यानुयोग।

यद्यपि इन चार अनुयोगों के अपने-अपने नियम हैं, कानून हैं, संविधान है; तथापि इस ोध में मुख्यतया चरणानुयोग को आधार बनाया है, इसमें श्रावक और श्रमणों की आचार-संहिता का वर्णन किया गया है।

आचार-संहिता का उद्दे य इन्द्रिय-विजयपूर्वक संयम अंगीकार करके आध्यात्मिक उन्नति करते हुए मुक्ति को प्राप्त करना है। जहाँ यथोक्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव होने पर, श्रमणाचार के द्वारा सीधे मुक्ति प्राप्त की जा सकती है; वहीं श्रावकाचार, उसका परम्परा साधन कहा जा सकता है, क्योंकि श्रमणाचार की भूमिका श्रावकाचार की भूमिका में ही तैयार होती है।

जिनागम का अध्ययन करने को ही ध्यान कहा गया है। कहा भी है – **'अज्झयणमेव झाणं'**[1]; क्योंकि इसके द्वारा ही पंचेन्द्रियों और क ायों का निग्रह होता है। कलिकाल/पंचमकाल में तो जिनागम ही मानो सर्वस्व है, क्योंकि इस काल में प्रवचन-सारभूत जिनागम के अभ्यास से ही सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार बीज से अंकुर उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार मोहरूपी बीज से राग-द्वे ा उत्पन्न होते हैं, लेकिन सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि से वे मोह के बीज भस्मीभूत हो जाते हैं, रत्नत्रय धारण करने की योग्यता प्रगट होती है, जिससे संसार- ारीर-भोगों से विरक्ति आती है।

श्रमणाचार एवं श्रावकाचार के कर्तव्य

श्रमणों के **'झाणज्झयणं मुक्खं'**[2] अर्थात् ध्यान और अध्ययन दो प्रमुख कर्तव्य हैं, उनके अन्य कर्तव्यों में 28 मूलगुण, 36 विशेषगुण आदि आते हैं; इसी में उनके ाट् आव यकों की चर्चा भी आती है।

1. रयणसार, 90
2. देखें, रयणसार, 11, 95, 107, 111, 115, 121, 126, आदि

इसी प्रकार श्रावकों के भी प्रमुख दो कर्तव्य – **दाणं पूया मुक्खं**[1] अर्थात् श्रावकों के मुख्य दो कर्तव्य – दान और पूजा बताये हैं। उसके वि ोा चार कर्तव्यों में दान, पूजा, ील और उपवास बताये गये हैं। इसी प्रकार श्रावकों के ाट् आव यक कर्तव्यों में देव-पूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान को लिया गया है। श्रमण, जहाँ सम्पूर्णतः पापों से विरक्त होते हैं, वहीं श्रावक, एकदे ा पापों से विरक्त होता है।

जैनधर्म के अनुसार – श्रमण, आचार में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद, विचारों में अनेकान्त और जीवन में अपरिग्रह का पालन करते हुए अन्तर में अपने निज-चैतन्य-महाप्रभु के आनन्द-सरोवर में स्नान करते हुए तृप्त नहीं होते, क्षण-क्षण में सिद्धों से बातें करते हैं; उन महामहिम श्रमणों की आचार-संहिता – पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के रूप में प्रगट होती है।

उन्हीं श्रमणों का अनुसरण करते हुए श्रावक भी अपने जीवन में उनकी आचार-संहिता का एकदेश-पालन करते हुए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार िक्षाव्रतों को अंगीकार करता है; इन्हीं का परिपालन करते हुए अपनी परिणाम-विशुद्धि को बढ़ाने का प्रयास करता हुआ, ग्यारह प्रतिमाओं का भी पालन करता है; जिससे श्रावकों को भी स्वयं के अविनाशी शुद्धात्म-स्वरूप चैतन्य-महाप्रभु के द र्न के अलावा अन्तर में एकदे ा-स्थिरता की भी प्राप्ति होती है।

अतिचार-निरूपण का उद्देश्य

साधकों के जीवन में व्रतों का निरतिचार परिपालन करने की भावना होती है; लेकिन कदाचित्-कथंचित्-किंचित् उन दोनों के जीवन में मन-वचन-काय या कृत-कारित-अनुमोदना से प्रमादव ा, क ायव ा, अज्ञानव ा या कुसंगतिव ा किसी कर्म का उदय आ जाने पर बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक कोई दो ा या अतिचार लग जाता है तो उसे वह साधक, आत्म-निन्दा और आत्म-गर्हापूर्वक उन दो ाों को दूर

1. रयणसार, 11, 13, 33.36

करने का अभिला ी होकर, अबुद्धिपूर्वक दोष लगने पर स्वयं अपनी बुद्धि-विवेक से तथा बुद्धिपूर्वक दोष लगने पर, अपने गुरु के समक्ष प्राय चित्त अंगीकार करता है।

देखो, गृहस्थ श्रावक के स्थूल कायचे टा-जनित प्रमादव ा लगने वाले अतिचार (दोष) तो देव के सान्निध्य में ाास्त्र के निर्देशानुसार तथा सूक्ष्म-अभिप्राय-जनित क ाायव ा लगनेवाले अतिचार, गुरु/ गृहस्थाचार्य के सान्निध्य में उनके निर्दे ाानुसार दूर किये जाते हैं।

इसी प्रकार मुनिराजों के अतिचार भी दूर किये जाते हैं, तथापि मुनियों को मुनि-संघ में रहने के कारण गुरुवर्यों/आचार्यों का सान्निध्य सुलभ होने के कारण उनके अधिकां ा अतिचार, आचार्यों/गुरुओं के माध्यम से ही प्रदान किये गये प्राय चित्तानुसार दूर किये जाते हैं; क्योंकि 'मुनिराजों को गुरु सुलभ हैं और गृहस्थों को देव।'

ध्यान रहे – यहाँ अतिचारों को बताने का उद्दे य, ाथिलाचार को बढ़ावा देना नहीं है, वरन् दो ाों के प्रकार बताना है, ताकि श्रमण या श्रावक दो ाों की पहिचान करके उनसे दूर रह सकें। इसी प्रकार प्राय चित्त का विधान, उन्हें डराने के लिए नहीं है, वरन् उनके माध्यम से दो ाों को दूर करके, निः ाल्य होकर, पुनः आत्म

-साधना के लिए प्रेरित करना है।

'अतिचार और प्रायश्चित्त' विषय पर मेरा शोधकार्य

इस विषय की जीवन में आवश्यकता को जानकर, शोध-क्षेत्र में इस अनछुए विषय पर शोधकार्य करने का मैंने साहस किया है। आशा ही नहीं, वरन् मुझे पूर्ण विश्वास है कि सुयोग्य पाठक, इस विषय के माध्यम से अपना ज्ञानवर्द्धन करते हुए अपने जीवन में आपतित दोषों से मुक्त होने का प्रयास करेंगे।

लेकिन जैसा कि ग्रन्थकार एवं विद्वज्जनों ने निर्दिष्ट किया है कि इन विषयों को जनसामान्य के सामने प्रस्तुत करने में अत्यन्त सावधानी रखने की आवश्यकता है; अतः पाठकों से भी विवेक रखने का आग्रहपूर्ण निवेदन है।

इस विषय में यह विचारणीय है कि कोई भी ज्ञान, एकान्ततः गोपनीय नहीं होता है, अपितु उसकी अपनी सीमा अवश्य होती है। हमने मूल ग्रन्थों में यह कहीं नहीं पढ़ा कि कहीं भी किसी सूत्र को गोपनीय कहा गया हो।

हाँ, इतना अव य कहा गया है, जो उचित भी है कि योग्यता-प्राप्त ि य को क्रम से ही सूत्र एवं उनके अर्थ/परमार्थ का अध्ययन कराना चाहिए तथा अयोग्य शिष्य को क्रम-अप्राप्त किसी भी ाास्त्र का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

आज आधुनिक-युग में इन्टरनेट पर हजारों ग्रन्थ सहज प्राप्त हैं। हमने स्वयं अनेक ग्रन्थों के सन्दर्भ, इन्टरनेट के माध्यम से ग्रन्थ देखकर, दिये हैं; अतः दे ा-विदे ा में इनकी गोपनीयता के सम्बन्ध में प्रचलित विचार, अब केवल कथन मात्र रह गया है।

इसी प्रकार सुयोग्य मुनि-आर्यिकाओं के लिए अन्य आगम तो क्या, प्रायश्चित्त ग्रन्थ भी गोपनीय नहीं होना चाहिए; अपितु ऐसा भी कहा जा सकता है कि इनका अध्ययन किये बिना या इनके अर्थ/ परमार्थ को समझे बिना साधक की साधना अधूरी है, पंगु है, परव ा है तथा इनके सूक्ष्मतम अध्ययन के बिना संघ-व्यवस्था तो परिपूर्ण अन्धकारमय ही होती है, क्योंकि प्रायश्चित्त तो उसके जीवन को निर्दोष और निर्मल बनाने के लिए एक अत्युत्तम औषधि के समान है, अतः इस अर्थ में प्रायश्चित्त का स्वरूप जानना, साधक को अत्यन्त आवश्यक है।

जिस प्रकार बगिया में गुलाब के फूल तक पहुँचने के लिए तो सबसे पहले उसकी डाल में लगे काँटों को जानना जरूरी है; उसी प्रकार चैतन्य-बगिया में रहने के लिए व्रतों का एकदे ा अथवा पूर्ण पालन करने के लिए व्रतों के गुण और पापों के दो ाों का परिज्ञान करना आव यक है; क्योंकि कहा भी है –

बिन जानन तैं दोष-गुणनि कौं, कैसे तजिये-गहिये।

अतः श्रमणाचार और श्रावकाचार के निरूपण के साथ-साथ,

उनके व्रती जीवन में लगनेवाले दो ास्वरूप अतिचार एवं उनके निराकरणार्थ होनेवाले प्राय चित्तों को भी जानना आवश्यक है।

निष्कर्षरूप में हम कह सकते हैं कि साधक, तीन प्रकार के होते हैं – परिपक्व, अपरिपक्व और अतिपरिपक्व।

परिपक्व साधक – जो आगम के रहस्यों के विशेष ज्ञाता हैं, तदनुकूल चर्या के धारक हैं, महा धैर्यवान् हैं, प्रबल बुद्धि के धारक हैं, देश-कालज्ञ हैं, स्व-पर को समझने में जिनकी बुद्धि तीक्ष्ण है, जो राग -द्वेष से रहित हैं – ऐसे साधकों को 'परिपक्व साधक' जानना चाहिए।

अपरिपक्व साधक – जो हिताहित का विचार करने में सक्षम नहीं हैं, आगम के अभ्यास में प्रवीणता जिन्होंने नहीं पाई है, नवीन दीक्षित हैं, विशेष तप आदि करने में कुशल नहीं है – ऐसे साधकों को 'अपरिपक्व साधक' जानना चाहिए।

अतिपरिपक्व साधक – जो धर्ममार्ग से विमुख है, जिनकी बुद्धि कुतर्कपूर्ण, एकान्तग्रस्त, हठी और अभिमानी हो गई है, जो आगम में ही दोष निकालते हैं, रागी-द्वेषी होकर मनमाना आचरण करते हैं – ऐसे साधकों को 'अतिपरिपक्व साधक' जानना चाहिए।

इनमें से अपरिपक्व एवं अतिपरिपक्व, दोनों साधक प्रायश्चित्त ग्रन्थ पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं अर्थात् केवल परिपक्व साधक ही उन्हें पढ़ने के अधिकारी हैं।

इस सम्बन्ध में रत्नकरण्ड श्रावकाचार की पण्डित सदासुखदासजी कृत भाषा वचनिका में तो स्पष्टतः ऐसा कहा गया है –

"प्रायश्चित्त शास्त्र तो जो आचार्य होने के योग्य होता है, उसी को (आचार्य द्वारा) पढ़ाया जाता है।"[1]

अब हम उपलब्ध साहित्य के आधार पर इस विषय के शोध-कार्य की रूपरेखा संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भाषा.वचनिका, पण्डित सदासुखदासजी, पृष्ठ 265

जैन संविधान का आधारभूत साहित्य

यह वि ाय, जिनागम में किसी एक ग्रन्थ में वर्णित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण जिनागम में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरा पड़ा है; अतः हमने उसे इस ोध-ग्रन्थ **'अतिचार और प्रायश्चित्त – स्वरूप एवं विश्लेषण : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** के द्वारा उन्हें एक माला में पिरोने का कार्य किया है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण वि ाय, निम्न पाँच पुस्तकों के माध्यम से प्रकाशित किया जाएगा –

प्रथम पुस्तक – **जैन संविधान**
द्वितीय पुस्तक – **जैन श्रावकाचार संविधान**
तीसरा पुस्तक – **जैन श्रमणाचार संविधान**
चतुर्थ पुस्तक – **जैन अतिचार संविधान**
पंचम पुस्तक – **जैन प्रायश्चित्त संविधान**

इस तरह यह ोध-प्रबन्ध, जैन संविधान की नींव पर, मानव-संस्कृतिरूपी पृथ्वी पर, एवं श्रमण व श्रावक के आचरणरूपी महल पर ोभायमान हो रहा है; अतः यह नि चित ही जन-जन का आभू ाण बनकर, प्राणीमात्र के लिए व्यक्तिगत रूप से जीवनोपयोगी होने के साथ-साथ समाजोपयोगी होकर, सम्पूर्ण रा ट्र एवं वि व को भी लाभ-दायक सिद्ध होगा।

व्रत-ग्रहण के सम्बन्ध में दोष-कल्पना का निवारण

इस ोध-प्रबन्ध में यह बात विशेषरूप से उभर कर आई है कि आगम में जहाँ एक ओर, अणुव्रतों और महाव्रतों के अखण्डित-पालन का उपदे ा दिया गया है; वहीं दूसरी ओर, व्रतों में लगनेवाले अतिचार और उन्हें दूर करने के उपायभूत प्रायश्चित्त भी बताये गये हैं। यही जिनागम के संविधान की सम्पूर्णता का प्रतीक है, द्योतक है।

तात्पर्य यह है कि कोई सम्यक्त्व सहित व्रतों के अखण्डित-पालन करने के आग्रह में व्रतों को अंगीकार ही न करे तो उसका

ऐसा सोचना भी गलत है और कोई व्रतों को ग्रहण करने के पहले ही अतिचार सहित व्रतों के पालन करने का विचारे तो वह भी गलत है।

अतिचार, बुद्धिपूर्वक नहीं लगाये जाते, बल्कि व्रतों का बुद्धिपूर्वक निरतिचार-पालन करते हुए भी वे लग जाते हैं; अतः केवल उन्हीं दो ाों को अतिचार कहा जाता है, जो अचानक लग जाते हैं, वरना उन्हें अतिचार की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता है।

दोषों के अनेक स्तर

व्रतों के अतिचार बताने का उद्दे य केवल यह है कि हम उनसे बच सकें। जैसे, अग्नि के द्वारा जलने से बचना हो तो उसका सर्वांगीण ज्ञान करना आव यक है कि अग्नि क्या होती है?, उससे कैसे बचा जा सकता है?, जल जाने पर क्या उपचार है?, अग्नि कितने प्रकार की होती है? – कण्डे की अग्नि, कोयले की अग्नि, लकड़ी की अग्नि, भट्टी की अग्नि, ज्वालामुखी के गर्म लावे वाली अग्नि आदि। तात्पर्य यह है कि उक्त अग्नियों के सम्पर्क में आने पर जलना अव य होगा; अतः उनसे बचते हुए ीतलता का आनन्द लेना चाहिए।

जिस प्रकार अग्नि से बचने के अनेक उपाय करने के बाद भी यदि कोई व्यक्ति जल जाता है तो उसका ीघ्रता से उपचार करना आव यक होता है; उसी प्रकार अतिचारों के दो ाों से बचने के अनेक उपाय करने के बाद भी यदि कोई अतिचार लग ही जाता है तो उस दो ा की तीव्रता-मन्दता के अनुसार अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि दोषों को दूर करने के लिए उपचारस्वरूप प्राय चित्त को धारण करना आव यक होता है। उदाहरणार्थ –

1. जैसे, रोटी की भाप से जलने पर आटा लगाना उपचार है; उसी प्रकार **अतिक्रम दोष** लगने पर कायोत्सर्ग करना उपचार है, उससे तत्सम्बन्धी दो ा दूर हो जाता है।

2. जैसे, कण्डे की अग्नि से जलने पर पानी में हाथ डालना

उपचार है; उसी प्रकार **व्यतिक्रम दोष** होने पर स्वयं प्राय चित्त अंगीकार करना उपचार है, उससे तत्सम्बन्धी दो ा दूर हो जाता है।

3. जैसे, कोयले की अग्नि से जलने पर मरहम लगाना उपचार है; उसी प्रकार **अतिचार दोष** लगने पर गुरु की साक्षी में उनकी आज्ञानुसार तप आदि प्राय चित्त अंगीकार करना उपचार है, उससे तत्सम्बन्धी दो ा दूर हो जाता है।

4. जैसे, धधकती हुई अग्नि से जलने पर अस्पताल जाकर उपचार कराना आव यक है, उसी प्रकार **अनाचार दोष** हो जाने पर गुरु के माध्यम से तप आदि प्राय चित्त स्वीकार करने के साथ-साथ पुनर्दीक्षा आदि स्वीकार करना उपचार है, उससे ही तत्सम्बन्धी दो ा दूर हो सकता है।

5. जैसे, ज्वालामुखी के गर्म लावे की चपेट में आ जाने पर कोई उपचार ही सम्भव नहीं है, वहाँ तो मरण ही होता है; उसी प्रकार **आभोग दोष** अर्थात् पापों में निरंकु ा प्रवृत्ति हो जाने पर कोई उपचार-स्वरूप प्राय चित्त भी सम्भव नहीं है, उसके प्रायश्चित्त के लिए पुनर्दीक्षा भी नहीं दी जा सकती है; उसके कारण तो यह जीव, अनन्त भव धारण करके अनन्त संसार में भटकता है और चतुर्गति के दुःखों को सहता रहता है।

इस प्रकार इस ोध-कार्य में अनेक प्रकार से अतिचारों और प्राय चित्तों का वर्णन किया गया है।

शास्त्रों में अतिचारों से बचने के अतिरिक्त अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता एवं उसके निरतिचार-पालन करने के भाव को दृढ़ करने के उद्देश्य से प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का वर्णन[1] भी किया गया है।

लौकिक क्षेत्र में प्रायश्चित्त-विधि का महत्त्व

साथ ही लौकिक क्षेत्र में रा ट्रीय और अन्तर्रा ट्रीय स्तर पर

---

1. **तत्स्थैर्यार्थं भावना पंच पंच** – तत्त्वार्थसूत्र, 7/3

प्राय चित्त-विधि की क्या उपयोगिता हो सकती है? इसके द्वारा हम समाज, दे ा, रा ट्र और सम्पूर्ण वि व के जीवन-स्तर में कैसे मनोवैज्ञानिक सुधार ला सकते हैं ? – इसका प्रयास भी किया गया है।

मेरा वि वास है कि आगामी व ोंं में इस वि ाय पर अन्य अनेक दृ टिकोणों से और भी ोध-कार्य होंगे, जिससे सम्पूर्ण रा ट्र एवं सम्पूर्ण वि व, जैनधर्म के अहिंसा, अनेकान्त-स्याद्वाद, अपरिग्रह आदि सिद्धान्तों से एवं समाज, दे ा, कानून आदि से सम्बन्धित वि ायों में जैनद ान की ोध-खोजपरक ैली से अव य लाभान्वित होगा।

पूर्वापर कार्यानुभव

विश्वविद्यालयों में सेमिनारों में सहभागिता, पत्र-पत्रिकाओं एवं विशेष पुस्तकों के लिए लेखन, पाठशालाओं का संचालन, महिला जैन युवा फैडरेशन की गतिविधियों का क्रियान्वयन, विद्यालय-औषधालय-वाचनालय आदि की गतिविधियों का संचालन, धार्मिक अध्यापन, जैन संस्कृति के नाटकों का लेखन एवं मंचन, शुभ विवाह नामक पुस्तक का लेखन एवं प्रकाशन, प्रशिक्षण शिविरों के माध्यम से धार्मिक अध्यापन करनेवाले अध्यापकों को प्रशिक्षण, मंगलायतन पत्रिका के लिए 'छहढाला व ा' के अवसर पर प्रति दो माह में एक-एक ढाल पर आधारित विस्तृत प्र न-पत्र बनाना और उसकी सैकड़ों उत्तर-पुस्तिकाएँ को जाँचना, इत्यादि कार्यों का अनुभव तो था ही।

मंगलायतन विश्वविद्यालय में जब 'जैन संस्कार' विषय पर सेमिनार आयोजित हुआ तो उसमें भी मैंने सहभागिता की थी।

जब अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग में स्तोत्र साहित्य पर एक सेमिनार का आयोजन, माननीय श्री प्रेमसुमनजी जैन की अध्यक्षता में हुआ, उसमें मैंने भी भाग लिया और सारे विद्वानों को अपने घर आमन्त्रित किया तो सभी विद्वानों ने मुझे पीएच.डी. करने की प्रेरणा दी, लगभग उसी समय मेरे मेरे पति की पीएच.डी. पूर्ण हो जाने के बाद जब मैंने अपना पीएच. डी. करने का विचार व्यक्त किया तो उन्होंने अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रदान की।

विषय का चुनाव

शोधकार्य हेतु मैंने इस वि ाय को इसलिए चुना, क्योंकि मैं बचपन से ही साधना के मार्ग में जाना चाहती थी, परन्तु मुझे जिनागम में वर्णित साधना-मार्ग के गुण-दो ों का एवं उसमें आनेवाली विघ्न-बाधाओं का ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि मुझे गृहस्थ-मार्ग का अनुसरण करना पड़ा, इसलिए जब मैं गृहस्थी के कार्यों से थोड़ी निवृत्त हुई तो मैंने इस कार्य को करने का संकल्प किया।

इस पुनीत कार्य हेतु मैंने मंगलायतन प्रवास के दौरान, सात व ोंं तक घर-कुटुम्ब-समाज से दूर रहने के कारण और बच्चों के स्कूल चले जाने के बाद मिलने वाले निवृत्ति के समय का सदुपयोग किया। इसके पूर्व जब मैंने एम. ए. किया था, उसके तुरन्त बाद ही मेरा पीएच.डी. करने का भाव था, परन्तु उस समय परिवार में अनुकूलता नहीं होने के कारण यह कार्य न हो सका। ादी के पन्द्रह साल बाद भी एक बार पीएच. डी करने का मन बनाया, लेकिन फिर बाह्य प्रतिकूलताएँ बाधक बन गईं और भावना फिर अधूरी रह गई।

इसके पूर्व जब मेरे पति ड. राकेश जैन शास्त्री का ोध-कार्य चल रहा था और उन्हें ोध-कार्य करते-देखते हुए मेरी भी भावना पुनः बलवती हुई कि मुझे भी अपना ोध-कार्य करना चाहिए; यद्यपि उनका वि ाय जिनागम की द्रव्यानुयोग-विधा के अन्तर्गत था – **'जैनदर्शन में पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप'**; लेकिन मैंने अपनी रुचि के अनुरूप यह नि चित किया कि मुझे चरणानुयोग-विधा से सम्बन्धित वि ाय का चुनाव करना है; क्योंकि प्रवचनसार ास्त्र की टीका लिखते हुए तृतीय महाधिकार 'चरणानुयोग-सूचक चूलिका' का प्रारम्भ करने से पूर्व आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है –

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।

अर्थात् जीवन में द्रव्य के अनुसार चरण और चरण के अनुसार द्रव्य अथवा जिनागम में द्रव्यानुयोग के अनुसार चरणानुयोग और

चरणानुयोग के अनुसार द्रव्यानुयोग होता है। इस तरह ये दोनों परस्पर सापेक्ष होते हैं।

उन्होंने आगे और भी लिखा है –

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः,
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।

अर्थात् द्रव्य या द्रव्यानुयोग की सिद्धि होने पर चरण या चरणानुयोग की सिद्धि होती है और चरण की सिद्धि होने पर द्रव्य की सिद्धि होती है। इस तरह भी ये दोनों परस्पर सापेक्ष होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हम दोनों के विषय परस्पर सापेक्ष होने से एक-दूसरे के पूरक बन गये हैं।

इस बीच मुझे मंगलायतन के जिनवाणी संग्रहालय में बैरिस्टर चम्पतराय की लघुकाय पुस्तिका **'जैन कानून'** पढ़ने को मिली, उसे पढ़कर, मेरी तीव्र अभिला ाा हुई कि मुझे तो इस वि ाय पर ही ाोध करना है; क्योंकि यह विषय कुछ-कुछ चरणानुयोग से सम्बन्धित था।

इस सम्बन्ध में एक बात मैं आपको बताना चाहती हूँ कि जब **जैन विश्वभारती, लाडनूँ** में साक्षात्कार के दौरान **माननीया कुलपति महोदया समणी प्रो. मंगलप्रज्ञाजी** एवं अन्य विद्वानों ने मुझसे कहा कि आपकी स्नातकोत्तर डिग्री 'समाज ाास्त्र' पर आधारित होने के कारण आप इस विषय पर पीएच. डी नहीं कर सकतीं, लेकिन उसी समय उन सभी ने यह भी आग्रहपूर्वक कहा कि हमें आपसे पीएच. डी. तो करानी है तो मेरे **शोध-निर्देशक डॉ. जिनेन्द्र जैन** के साथ बहुत ऊहापोह करने के उपरान्त यह वि ाय, दृ टि-पटल पर केन्द्रित हुआ; जिसमें **'जैन कानून'** का तत्सम शब्द **'जैन संविधान'** प्रयुक्त हुआ है।

विश्वविद्यालयीन स्वीकृति

जब मैंने अपने ाोध-कार्य की संक्षिप्त रूपरेखा बनाकर, वि व-विद्यालय में भेजी थी, तो विश्वविद्यालयीन स्वीकृति ने भी मेरा उत्साह

वृद्धिंगत किया, उसमें लिखा था –

''जैन आचार- ाास्त्र में अतिचार और प्राय चित्त, अति-महत्त्व के वि ाय हैं, किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व यह है कि इन्हें कोई ाोध-छात्र, पीएच.डी. की उपाधि हेतु, अपने ाोध-प्रबन्ध का वि ाय बना रहा है। प्रस्तुत रूपरेखा बड़ी ही सूझ-बूझ के साथ काफी श्रमपूर्वक वि ााल दृ टिकोण से तैयार की गई है।

जैन-आचार- ाास्त्र तक सीमित, इन वि ायों का रा ट्रीय एवं सामाजिक दृ टियों से व्यापक अध्ययन और इनकी उपयोगिता को इसमें जाँचा गया है। वर्तमान सन्दर्भ में इनकी प्रासंगिकता के रूप में इन्हें प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस दृ टि से यह एक बहुत ही अच्छा ाोध का वि ाय बन गया है।

अतः इस रूपरेखा को अति महत्त्वपूर्ण मानते हुए सम्मतिपूर्वक पीएच.डी. हेतु ाोधकार्य करने की संस्तुति प्रे ित की जाती है।''

इस शोध-कार्य को प्रस्तुत करते समय मेरे **शोध-निर्देशक, ड . जिनेन्द्र जैन** ने भी लिखा था –

''वि व-विद्यालय की मानक ाोध-प्रविधि के आधार पर लिखा गया यह ाोध-कार्य, पूर्णतः मौलिक एवं अप्रका ित है; इसे अन्यत्र किसी वि व-विद्यालय में प्रस्तुत नहीं किया गया है।''

विद्वानों के साक्षात्कार का सफल प्रयोग

'अतिचार और प्राय चित्त' – इस विषय पर कार्य करते हुए मैंने एक प्रश्नावली बनाकर, अपने पति के साथ अनेक आचार्यों/मुनियों/आर्यिकाओं/ब्रह्मचारियों/ब्रह्मचारिणियों/विद्वानों से भी विशेष परामर्श लिया है, उन्होंने यथायोग्य सुझाव आदि भी दिये हैं, उसके लिए मैं उनका भी आभार व्यक्त करना चाहती हूँ। **ब्र. राकेशजी,** सिद्धायतन, सागर एवं विद्वान **श्री शेलेषजी,** सोनागिर का विशेष आभार व्यक्त करना चाहती हूँ, जिन्होंने उचित मार्गदर्शन के साथ-साथ ग्रन्थ-सामग्री प्रदान करने में भी महती भूमिका निभायी।

आभार-प्रद ान

मैं सर्वप्रथम उन वीतरागी देव- ाास्त्र-गुरु के अनन्त उपकारों को सविनय स्मरण करना चाहती हूँ; जिन्होंने इस वीतराग-मार्ग का प्रतिपादन किया, जिससे मैं उसका अनुसरण करके इस शोधकार्य को करने के योग्य बनी। यह ाोधकार्य, मुझे अनन्त केवलज्ञानी भगवन्तों और मुनि भगवन्तों के साक्षात् सान्निध्य जैसा अवसर था, जिसे मैंने अपनी सम्पूर्ण कर्तव्य-नि ठा के साथ निर्वाह करने का प्रयास किया।

यह शोधकार्य, मेरे लिए असम्भव तो नहीं, परन्तु श्रमसाध्य अव य था। यह कार्य अब पूर्ण हुआ है, **मानो मुझे समुद्र-मन्थन के उपरान्त अमृत-पान का अवसर** मिला हो। साथ ही यदि इस ाोध-कार्य में मुझे उन अनन्त ज्ञानी धर्मात्माओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग नहीं मिला होता तो यह कार्य अव य ही पूर्ण नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी और उनके द्वारा प्रदत्त आत्मानुभूति -प्रेरक तत्त्वज्ञान की अन्तःप्रेरणा मुझे प्रतिसमय प्राप्त होती रही, जिससे मेरे मन में निरन्तर उत्साह जागृत होता रहा, अतः उनका स्मरण करना भी मैं अपना पुनीत कर्तव्य मानती हूँ। जिस प्रकार 45 व ा की उम्र में उन्होंने धर्म-परिवर्तन किया था और 45 व ा तक वीतराग-धर्म की प्रभावना की थी; उसी प्रकार 45 व ा की उम्र में मैंने यह ाोध-कार्य प्रारम्भ किया और लगभग 45 माह ही इस कार्य को पूर्ण होने में लगे हैं।

शोध-निर्देशक, श्रीमान् डॉ. जिनेन्द्र जैन, लाडनूँ/उदयपुर के सहयोग का तो मैं वर्णन ही नहीं कर सकती; क्योंकि उनकी सतत प्रेरणा, सहयोग और मार्गद ान मुझे मिलता ही रहा है; इसी प्रकार मैं हमारे पारिवारिक सहयोगी विद्वान **डॉ. श्री अरविन्दकुमारजी जैन,** सुजानगढ़ भी आभार व्यक्त करना चाहती हूँ, जिन्होंने प्रारम्भ से अन्त तक समय-समय पर सुझाव एवं मार्गद ान प्रदान किये।

मुझे अपने जीवनकाल में अनेक विद्वानों का समागम प्राप्त हुआ।

सागर में सम्पन्न महा ाास्त्र धवला की वाचनाओं आदि के अवसर पर समागत आदरणीय वयोवृद्ध विद्वद्वर्य पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्त- ाास्त्री वाराणसी, पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्त- ाास्त्री कटनी, डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, पण्डित कैला ाचन्दजी सिद्धान्त - ाास्त्री वाराणसी, पण्डित श्री मुन्नालालजी रांधेलीय सागर, पण्डित मन्नूलालजी जैन सागर, आदि विद्वानों का समागम मिला।

इसी प्रकार **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** एवं उनके सान्निध्य में उनके पुण्य-प्रभावना-योग में सम्पन्न आध्यात्मिक शिक्षण ाविरों में समागत मुमुक्षु विद्वान् वयोवृद्ध पण्डित श्री कैला ाचन्दजी बुलन्द ाहर/अलीगढ़, पण्डित श्री लालचन्दभाई मोदी राजकोट, बाबू जुगलकि ाोरजी 'युगल' कोटा, डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल आदि विद्वानों से तात्त्विक और धार्मिक क्षेत्र में बहुत कुछ सीखने का अवसर मिला है।

लोक में ऐसा कहा जाता है कि पिता के घर बेटी, पति के घर पत्नि और बेटे के घर माँ के रूप में स्त्री, पली-बढ़ी-बूढ़ी होती है, तभी उसका जीवन पूर्ण एवं सुरक्षित बनता है; उसी प्रकार मुझे मेरे **पूज्य पिताश्री कृष्णचन्द्रजी जैन,** एवं समस्त लाल दुकान परिवार, सागर के माध्यम से बाल्य-काल से ही जिनवाणी माँ एवं जन्मदात्री मातुश्री ायामबाई की गोद में आध्यात्मिक शिक्षा के संस्कार मिले हैं, आज भी मुझे श्री आदित्यकुमारजी, अरविन्दकुमारजी आदि मेरे सभी भाई-वृन्दों का भी वरद-हस्त प्राप्त हुआ, जिसका मुझे अत्यन्त गर्व है।

यद्यपि मेरे पिता व सम्पूर्ण खानदान का व्यवसाय, औ ाधियों का रहा है, जो आज भी है; परन्तु सभी ने कभी भी कीटना ाक औ ाधियों का व्यवसाय नहीं किया – ऐसे संस्कारों में पढ़-लिख कर, मुझे सदा **'सादा जीवन, उच्च विचार'** के अनमोल सूत्र मिले हैं।

साथ ही ससुराल-पक्ष में मुझे मेरे **श्वसुरजी स्व. श्री कोमलचन्दजी,** सासुजी श्रीमती ाान्तिदेवीजी, जेठ श्री अशोककुमारजी और सम्पूर्ण परिवार से भी कम संस्कार नहीं मिले हैं, इन्होंने सदैव मेरा मार्गदर्शन करने के साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है। नागपुर तथा सागर, दोनों

की स्थानीय मुमुक्षु समाज एवं सकल दिगम्बर जैन समाज के सभी सदस्यों की हार्दिक ुभकामनाएँ तो हमे ाा से मिलती रही हैं। इस प्रकार मैं ऐसा समझती हूँ कि मेंरे लिए तो क्या मायका और क्या ससुराल, दोनों ही पक्ष एक-जैसे सहयोगी रहे हैं।

सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक विद्वान् एवं मेरे जीजाजी **पण्डित श्री अभय -कुमारजी** एवं मेरी बहिन श्रीमती लता जैन से भी कम संस्कार नहीं मिले हैं, उनके श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में तत्कालीन प्रवास-काल में महिनों रह कर, मैंने श्री टोडरमल महाविद्यालय की गतिविधियों, प्रवचनों एवं कक्षाओं का भरपूर लाभ लिया है।

मेरे इस कार्य में मुझे मेरे पति **डॉ. राकेश जैन शास्त्री,** जो तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी हैं, उनका मार्गद िन एवं सहयोग भी सदैव मिलता रहा है। उनके प्रका ान के क्षेत्र में सुदीर्घ 30 व ि के अनुभव एवं अनेक ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध लेखक/सम्पादक होने के कारण और स्वयं पीएच. डी. करने के कारण भी मुझे बहुत मदद मिली है; उन्होंने मेरे इस ोध-प्रबन्ध की एक-एक पंक्ति को अच्छी तरह देखा/पढ़ा/सुधारा है, साथ ही सम्पादन का गुरुतर भार भी वहन किया है। इस कारण मैं विश्वास के साथ कह सकती हूँ कि यह एक आगम-सम्मत उत्कृ ट कृति बन पड़ी है।

जब हम पढ़ाई का कार्य माता-पिता के सान्निध्य में करते हैं तो वह जितना सहज होता है; अपने बच्चों के सामने पढ़ाई करना, उतना ही कठिन हो जाता है; क्योंकि उसके कारण जिस ममता के अधिकारी बच्चे होते हैं, वे उससे वंचित रह जाते हैं; अतः मैं इस ोध-कार्य की पूर्णता में अपने दोनों बच्चों – चि. संयम और दीक्षा को भी श्रेय देती हूँ, जिन्होंने मुझे सारी अनुकूलताएँ प्रदान कीं, बल्कि मुझे अनेक प्रकार से सहयोग ही किया।

इसका परिणाम यह हुआ कि मेरे दोनों बच्चों ने भी भविष्य में पीएच. डी करके किसी धार्मिक विषय पर शोध-कार्य करने का निश्चय कर रखा है, यह भी मेरे लिए कम गौरव की बात नहीं है।

मैं सुप्रसिद्ध कानूनविद् **एडवोकेट श्रीमान् प्रकाशचन्दजी,** भोपाल एवं **प्रो. ड . वीरसागरजी जैन,** नई दिल्ली का भी आभार प्रदर्शित करती हूँ, जिन्होंने न केवल इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को ही पढ़ा है, बल्कि क्रमशः **प्रस्तावना** एवं **कानूनविद् के हस्ताक्षर** शीर्षक से गम्भीर एवं विद्वतापूर्ण लेख भी लिखे हैं।

अन्त में सर्वाधिक आभार मैं उनका व्यक्त करना चाहती हूँ, जिन्होंने प्रकाशन-पूर्व इसे सम्पूर्णरूप से पढ़ा है, और इसके संशोधन में अमूल्य सहयोग प्रदान किया है तथा इस कार्य के लिए जो नागपुर आकर रहे हैं; उनमें सबसे अधिक आत्मीयता प्रगट करनेवालों में हैं – **बाल ब्र. केशरीचन्दजी 'धवल'** छिन्दवाड़ा एवं **बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी** खनियाधाना**;** इनके अलावा ब्र. विमला दीदी, जयपुर; ब्र, आरती दीदी, छिन्दवाड़ा एवं ब्र. रजनी दीदी, श्योपुर ने भी इस शोध-कार्य का समग्र अवलोकन किया है, इन सभी के द्वारा प्राप्त सुझावों से भी इस रचना को सम्पूर्णता प्राप्त हुई है।

अन्त में मैं उन सभी परिचित-अपरिचित महानुभावों के प्रति भी अपनी हार्दिक संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति प्रगट करना चाहती हूँ, जिनकी ज्ञात-अज्ञात सहभागिता और सहयोगिता मेरे इस ोधकार्य से संलग्न रही है। इस ोध-कार्य को पूर्ण करने में मेरे जीवन के अमूल्य चार-पाँच व ोंं की श्रम-साधना न्यौछावर हुई है – इसका मुझे अत्यन्त गर्व है।

यद्यपि ोध-कार्य करने के पीछे डिग्री हासिल करना, मेरा उद्दे य कभी नहीं रहा है, मुझे तो अन्तर्मन से इस वि ाय की गहराई में जाना ही उद्दि ट रहा है, मेरा उद्दे य जिनागम के सान्निध्य में निरन्तर रहने का था; उसमें यह ोध-कार्य एक सफलतम साधन बना है। इसप्रकार मैं अपने उद्दे य में पूर्ण सफल रही हूँ – ऐसा मेरा दृढ़ मन्तव्य है।

इति ुभं भूयात्।

विनम्र शुभाकांक्षी

– **ड . स्वर्णलता राकेश जैन,** नागपुर

भारतीय संविधान के परिप्रेक्ष्य में

जैन संविधान

(जैन–आचार–संहिता)

* विषय-सूची *

प्रथम अध्याय

जैन संविधान की आवश्यकता

1. जैनदर्शन में संविधान से तात्पर्य 2
2. भारतीय संविधान का वर्तमान परिप्रेक्ष्य 3
3. 'हिन्दू कानून' से अलग 'स्वतन्त्र जैन कानून' की आवश्यकता 4
4. वैदिकधर्म या हिन्दूधर्म से भिन्न जैनधर्म की विशेषता 6
5. क्या जैनी, हिन्दू-धर्म-च्युत भिन्न-मतावलम्बी हैं ? 8
6. क्या जैनधर्म, 'बौद्धधर्म का बच्चा' है ? 11
7. जवाहरलाल नेहरू एवं वैश्विक दृष्टि में जैनधर्म की विशेषता 15
8. 'जैन, हिन्दू नहीं हैं' : प्रधानमन्त्री सचिवालय से भी पुष्टि 17
9. भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में जैनों का योगदान 18
10. भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैनों का योगदान 19
11. जैन समाज : राष्ट्र के चतुर्मुखी विकास में अग्रणी 19
12. भारतीय संविधान के निर्माण में जैनों की भूमिका 20
13. 1. श्री रतनलाल मालवीय (मलैया), सागर 21
14. 2. श्री अजितप्रसाद जैन, मेरठ 22
15. 3. श्री भवानी अर्जुन खीमजी, खामगाँव 23
16. 4. श्री कुसुमकान्त जैन, थांदला, झाबुआ 24
17. 5. श्री बलवन्तसिंह मेहता, उदयपुर 25

18. हमारे राष्ट्रीय ध्वज-चिह्न-गान में विद्यमान जैन-तत्त्व 25
19. भारतीय संविधान की हस्तलिखित प्रति में भी जैनत्व 27
20. ऐतिहासिक दृष्टि में भारत : प्राचीन लोकतन्त्रात्मक गणराज्य 29
21. 'जियो और जीने दो' का पावन-सन्देश 30
22. जैनधर्म में भी पन्थवाद और साम्प्रदायिकता का निषेध 31
23. सार्वजनिक उपक्रमों के द्वारा अहिंसा और शान्ति का उपदेश 31
24. जीवमात्र के प्रति दया : भारतीय नागरिकों का कर्तव्य 32
25. संविधान में जैनत्व की प्रतीक : पशु-संरक्षण की भावना 33
26. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार संविधान में परिवर्तन अनिवार्य 35
27. जैन संविधान में विद्यमान विज्ञान को दिशा–प्रदायक तत्त्व 36
28. जैन-समाज को धर्म पर आधारित अल्पसंख्यक का दर्जा 37
29. अल्पसंख्यक घोषित होने से जैनों को प्राप्त होनेवाले अधिकार 38
30. शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक-नैतिक-शिक्षा-सम्बन्धी स्वतन्त्रता 40
31. धार्मिक संस्थाओं को प्राप्त धन पर करों में छूट का प्रावधान 41
32. धर्म, परिभाषा नहीं, प्रयोग है और जीवन है उसकी प्रयोगशाला 41

द्वितीय अध्याय

जैन संविधान

33. जैन संविधान की प्रासंगिकता 44
34. जैन संविधान : सर्वत्र एक रामबाण अचूक उपाय 45
35. भारतीय समाज, जैन संविधान से अपरिचित क्यों? 47
36. लौकिक-जीवन का जैन संविधान या जैन कानून 48
37. बैरिस्टर चम्पतरायजी द्वारा लिखित 'जैन लॉ' की प्रस्तावना 49
38. लौकिक कार्यों में स्वतन्त्र जैन संविधान या जैन कानून 58
39. वसीयत : एक संवैधानिक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज 59
40. वसीयत कैसे लिखें? 60
41. 'जैन संविधान' के अनुसार सम्पत्ति का विभाजन 62
42. अविभाजित सम्पत्ति कौनसी? 62

43. सम्पत्ति का विभाग किस-किसको और कितना-कितना ? 62
44. 1. संयुक्त-परिवार की अपेक्षा विभाजित-परिवार उत्तम 63
45. 2. विभाग-योग्य सम्पत्ति का विभाजन 63
46. 3. अविभाजित सम्पत्ति का अधिकार 63
47. 4. पैतृक (पितामह आदि की) सम्पत्ति के अधिकारी कौन? 64
48. 5. पिता की सम्पत्ति का अधिकार 64
49. 6. माता का विशेष अधिकार 64
50. 7. पुत्रों के अधिकार 65
51. 8. पैतृक (बाबा की) सम्पत्ति का विभाग कैसे? 66
52. 9. कुँवारी बहिन का अधिकार 66
53. 10. विवाहिता पुत्री का अधिकार 66
54. 11. विशेष नियम 66
55. 12. अन्य वर्णों की पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों के अधिकार 67
56. 13. गोधन का विभाग 68
57. 14. जंगम एवं स्थावर.सम्पत्ति का स्वामित्व एवं अधिकार 68
58. 15. पैत्रिक एवं पिता की सम्पत्ति का स्वामित्व व अधिकार 68
59. 16. वयस्क पुत्र के अधिकार 68
60. 17. सम्पत्ति पृथक् करने का अधिकार 69
61. 18. प्रबन्धन के अधिकार 69
62. 19. विधवा के अधिकार 69
63. दायभाग के अयोग्य कौन ? 70
64. सम्पत्ति–विभाग करने की विधि 71
65. दायाद अर्थात् सम्पत्ति–विभाग के अधिकारी कौन–कौन ? 73
66. स्त्रीधन किसे कहते हैं ? 75
67. 'जैन संविधान' के अनुसार दत्तक पुत्र का विधान 76
68. दत्तक पुत्र लेने का प्रयोजन 77
69. दत्तक पुत्र बनने की योग्यता 77
70. दत्तक पुत्र को गोद लेने की विधि 78

71. दत्तक पुत्र के अधिकार 78
72. भरण–पोषण (गुजारा) के अधिकारी 79
73. 'जैन संविधान' के अनुसार संरक्षकता का कर्तव्य 82
74. 'जैन संविधान' के अनुसार रीति–रिवाज का विधान 83
75. लौकिक जीवन के कानूनों का निष्कर्ष 85
76. सम्पत्ति आदि की दृष्टि से जैन लॉ और हिन्दू लॉ में अन्तर 86
77. जैन संविधान के अनुसार सृष्टि का प्रारम्भ 91
78. जैन संविधान के अनुसार समाज की वर्ण-व्यवस्था 93
79. जैन संविधान के अनुसार आश्रम व्यवस्था 94
80. 1. ब्रह्मचर्य आश्रम 95
81. 2. गृहस्थ आश्रम 96
82. 3. वानप्रस्थ आश्रम 96
83. 4. भिक्षुक आश्रम 96
84. दैनिक षट्कर्म में देवसेवा के अन्तर्गत छह क्रियाओं का उपदेश 96
85. अभिषेकपूर्वक पूजन करने का विधान 97
86. जैनियों के द्वारा मूर्ति-पूजा का समर्थन 98
87. पूजन-पाठ के सम्बन्ध में जैन संविधान 102
88. पूजन के पाँच अंग 103
89. शान्ति-जाप्य की विधि 106
90. ध्वजारोहण की विधि 106
91. मंगल-कलश स्थापना आदि अन्य विधियाँ 106
92. शुद्ध तेरा-पन्थी दिगम्बर आम्नाय क्या है ? 108
93. पूजन करनेवालों की दिशा-शुद्धि 111
94. विवाह के सम्बन्ध में जैन संविधान 112
95. किसके साथ विवाह करना या नहीं करना ? 113
96. विवाह का उद्देश्य 114
97. विवाह का प्रयोजन 115
98. विवाह क्या है ? 115

99. विवाह-सम्बन्धी सावधानियाँ 118
100. विवाह के पहले 118
101. विवाह के बाद 119
102. पति-पत्नी के परस्पर–व्यवहार 119
103. विवाह-सम्बन्धी विधियाँ 120
104. वाग्दान, सगाई या टीका 121
105. वरण, प्रदान आदि विधियाँ 121
106. वरण-विधि 123
107. सिद्ध-यन्त्र की स्थापना एवं मंगल द्रव्यों से सजावट 123
108. कन्या-दान एवं पाणि-ग्रहण-विधि 124
109. ग्रन्थि-बन्धन-विधि (गठ-जोड़ा) 125
110. सात फेरों का उद्देश्य 125
111. सप्त-पदी, सप्त-वचन एवं सप्त-फेरे 126
112. प्रत्येक फेरे के बाद पढ़े जाने योग्य अर्घ्य 127
113. गृहस्थाचार्य का उपदेश 128
114. वर के सप्त वचन 128
115. वधू के सप्त वचन 129
116. वरमाला 130
117. गृहस्थाचार्य का पुनः उपदेश 130
118. विवाह में नव देवता या पंच परमेष्ठी पूजन का विधान 131
119. श्रावकों का दैनिक व्यवहार कैसा हो ? 131
120. जैन संविधान का दैनिक जीवन में प्रयोग कैसे ? 135
121. जैन संविधान में अतिचार एवं प्रायश्चित्त विधान 136
122. प्रायश्चित्त विधान के अन्तर्गत दण्ड-नीति 137
123. जैन संविधान की दण्ड-व्यवस्था का मूलाधार 139
124. जैन संविधान की दण्ड-नीति की वैज्ञानिकता 140
125. 1. हक्कार-नीति 140
126. 2. मक्कार-नीति 140

127. 3. धिक्कार-नीति 140
128. 4. परिभाषण-नीति 141
129. 5. परिमण्डल–नीति 141
130. 6. चारक-नीति 141
131. 7. छविच्छेद-नीति 141
132. जैन-संविधान-सम्मत दण्ड-नीति का माहात्म्य 141
133. सूतक-पातक-विधान 142
134. सूतक-पातक को मानने से होनेवाले लाभ 144
135. सूतक-पातक को मानने से होनेवाली हानियाँ 144
136. जैन संविधान की सर्वोदयवादिता 145
137. जैन संविधान में जाति-प्रथा का निषेध 148
138. गोत्र-कुल आदि के सम्बन्ध में जैन संविधान का मन्तव्य 150
139. जैन संविधान का राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व 153

तृतीय अध्याय
जैन संस्कृति

140. जैनधर्म-सम्मत धर्म की सार्वभौमिक व्याख्या 158
141. जैनधर्म : एक वैज्ञानिक धर्म 160
142. धर्म का स्वरूप एवं उसकी आवश्यकता 161
143. जैन संस्कृति में धार्मिक सहिष्णुता 163
144. आध्यात्मिक दृष्टिकोण का सर्वत्र प्रभाव 163
145. आत्मजयी ही वास्तविक इन्द्रियजयी 164
146. प्राणीमात्र को अभय प्रदान करनेवाली संस्कृति 167
147. जैन संस्कृति में अनादिकालीन तीर्थंकर-परम्परा 168
148. प्राचीन साहित्य में तीर्थंकर ऋषभदेव के साक्ष्य 169
149. शिलालेखीय साक्ष्यों में तीर्थंकर ऋषभदेव 170
150. जैनधर्म की प्राचीनता के प्रमाण 171
151. जैन संस्कृति की प्राचीनता : इतिहासज्ञ व विद्वानों के विचार 174

152. जैन संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 177
153. जैन संस्कृति का पूर्वकालिक ऐतिहासिक नाम : निवर्तक धर्म 178
154. निवर्तक धर्म के आचार-विचार 183
155. यूनानी संस्कृति पर जैन संस्कृति का प्रभाव 184
156. ऐस्सेनी नामक महान साधकों पर भी जैन संस्कृति का प्रभाव 186
157. भारतीय संस्कृतियों एवं दर्शनों में परस्पर आदान-प्रदान 191
158. श्रमणोपासक, निर्ग्रन्थी, जिनधर्मी अथवा जैन 192
159. सम्राट् अशोक की वंश-परम्परा में जैनधर्म 193
160. भारतीय क्षेत्र में जैन संस्कृति का परस्पर विकास व संरक्षण 194
161. पश्चिम बंगाल में भी जैन संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव 195
162. महावीर एवं बुद्ध की दार्शनिक पृष्ठभूमि 196
163. महावीर और बुद्ध के दृष्टिकोणों में महान अन्तर 197
164. जैन और बौद्ध धर्म में साम्प्रदायिक दृष्टि से भी अन्तर 200
165. जैन-श्रमण की बौद्ध-श्रमण एवं वैदिक साधुओं से तुलना 201
166. अन्य परम्पराओं पर जैन संस्कृति का प्रभाव 204
167. जैन संस्कृति पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव 208
168. दिगम्बर–श्वेताम्बर विचारधाराओं का प्रादुर्भाव 209
169. दिगम्बर और श्वेताम्बर विचारधारा में मूलभूत अन्तर 211
170. मूर्तिपूजा से जुड़े आडम्बरों के विरुद्ध जैन-चेतना-जागृति 212
171. सूफी सन्त अबुल अला पर जैन संस्कृति का प्रभाव 213
172. जलालुद्दीन रूमी पर जैन संस्कृति का प्रभाव 214
173. जैन संस्कृति का अहिंसा-प्रधान उपदेश 215
174. जैन संस्कृति में भावों की प्रधानता 216
175. महात्मा गांधी पर जैनधर्म का प्रभाव 218
176. महात्मा गांधी के गुरु श्रीमद् रायचन्द 221
177. जार्ज बर्नाड शॉ पर जैनधर्म का प्रभाव 223
178. अन्य महान विभूतियों पर जैनधर्म का प्रभाव 224

*****

भारतीय संविधान के परिप्रेक्ष्य में

जैन संविधान

(जैन–आचार–संहिता)

'जैन संविधान' का आधारभूत आगम-साहित्य

1. भद्रबाहु-संहिता – यद्यपि इसके रचयिता का नाम अवगत नहीं है, साथ ही इसके काल का भी पता नहीं है; फिर भी यह निश्चित है कि यह कई ाताब्दियों पुराना ग्रन्थ है। बैरिस्टर चम्पतरायजी के अनुसार, इस ग्रन्थ का संवत् 1657-1665 होना चाहिए। इस ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह किसी प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर रचा गया है। यह वि ाय, उपासकाध्ययनांग के अन्तर्गत आता है। सम्भवतया इसका सम्बन्ध आचार्य भद्रबाहु, जिनके ि ाय सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य हैं, उनसे है – यही कारण है कि इसका नाम 'भद्रबाहु संहिता' है।

2. अर्हन्नीति – यह वेताम्बराम्नाय से सम्बन्धित ग्रन्थ है। इसके सम्पादक का नाम और समय भी इसमें नहीं दिया गया है, किन्तु यह कुछ अधिक प्राचीन ग्रन्थ नहीं है।

3. वर्द्धमान-नीति – इसका सम्पादन श्री अमितगति आचार्य ने लगभग संवत् 1068 में किया है। सम्भवतया यह राजा भुज (भोज) का समय था। यह बहुत छोटी रचना है; इसके और भद्रबाहु-संहिता के कुछ लोक समान हैं। जैसे – इसके लोक क्रमांक 30-34 और भद्रबाहु संहिता के लोक क्रमांक 55-59 तक समान हैं।

4. इन्द्रनन्दि-जिन-संहिता – इसके रचयिता वसुनन्दि इन्द्रनन्दि-स्वामी हैं। यह भी उपासकाध्ययनांग पर आधारित है।

5. त्रिवर्णाचार – इसके रचयिता भट्टारक सोमसेन-स्वामी हैं, जो मूलसंघ की ाखा पु करगच्छ के पट्टाधी ा थे। इसका रचनाकाल संवत् 1667 है।

6. आदिपुराण – यह ग्रन्थ भगवज्जिनसेनाचार्य द्वारा रचित है, जो ईसा की नौवीं ाताब्दी में हुए हैं।

प्रथम अध्याय

जैन संविधान की आवश्यकता

आज हमारे दैनिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के परिप्रेक्ष्य में **'जैन संविधान'** की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गई है क्योंकि जैन संविधान, एक सद्गृहस्थ श्रावक एवं गृहविरत श्रमणों की मर्यादाओं को सुनि चित करता है। यदि हमारी जीवन- ौली, हमारी बुद्धि एवं हमारे विचार अमर्यादित होंगे तो हमारी लौकिक एवं पारलौकिक नैतिकताओं का पतन होगा तथा मुख्यरूप से हमारी आत्मा का पतन होगा; अतः सामान्यतया 'संविधान' एक ऐसा वि ाय है, जिसके सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की आव यक जानकारियाँ होनी ही चाहिए।

यदि हमें किसी भी धर्म, जाति, परिवार, समाज, प्रदे ा, रा ट्र आदि के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी लेना है अथवा सही-गलत या गुण-दो ाों का निर्णय करना है तो हमें उस धर्म, जाति, परिवार, समाज, प्रदे ा या रा ट्र के संविधान का ज्ञान होना अत्यन्त आव यक है; उसके बिना न्याय-प्रक्रिया का संचालन असम्भव है।

संविधान, श्रावक एवं श्रमण की मर्यादाओं को सुनि चित करता है; क्योंकि अमर्यादित जीवन- ौली; मुख्यरूप से हमारी बुद्धि, विचार, व्यवहार, नैतिकता एवं आत्मा का पतन करती है; अतः 'संविधान' से तात्पर्य आधारभूत नियमों का संग्रहण करना है।

वास्तव में जन-संविधान और जैन-संविधान में मात्र दो मात्राओं का अन्तर है, जिसमें एक मात्रा सम्यक्श्रद्धान की है और दूसरी सम्यक्चारित्र की; जो मोक्षमार्ग की ओर इंगित करती हैं, वीतरागता की प्रेरणा देती हैं, उसे प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करती है।

जैनदर्शन में संविधान से तात्पर्य

संविधान को 'संहिता' ाब्द से भी अभिहित किया जाता है। एक प्रकार से संहिता और संविधान को एक-दूसरे का पर्यायवाची कहा जा सकता है। यही कारण है कि जिनागम में संहिता ग्रन्थों की रचना हुई है। संविधान एवं संहिता – ये दोनों, दो-दो ाब्दों से मिल कर बने हैं – सं + विधान = संविधान एवं सं + हिता = संहिता।

अर्थात् जो सं अर्थात् सम्यक् प्रकार से वस्तु-व्यवस्था का विधान या कथन करता है, उसे **संविधान** कहते हैं तथा इसी प्रकार जो सम्यक् प्रकार से वस्तु-स्वरूप को व्यवस्थित करती है, प्रस्तुत करती है, उसे **'संहिता'** कहते हैं।

इसी प्रकार चर्चासागर में जिन-संहिता के सम्बन्ध में लिखा है –

संगतं हितमेतस्या, भव्यानामिति संहिता।
जिन-सम्बन्धिनी सेयं, नाम्ना स्याज्जिनसंहिता।।[1]

अर्थात् जो जिन अर्थात् वीतरागी जिनेन्द्रदेव से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु-व्यवस्था है अर्थात् जो भव्यजीवों को हितकारक है – ऐसी उनके द्वारा कथित रीति-नीति ही **'जिन-संहिता'** कहलाती है।

जिन-संहिता को जानने की आव यकता का प्रतिपादन करते हुए श्री एकसन्धिकृत जिन-संहिता के तीसरे अधिकार में तो यहाँ तक कहा गया है कि **'नाऽजानन् जिन-संहिताम्'** अर्थात् जो 'जिन-संहिता' को नहीं जानता, वह जिन-पूजा करने के योग्य भी नहीं है।

वास्तव में 'संविधान' का जन्म ही तब होता है, जब अपराध होते हैं अर्थात् आपराधिक प्रवृत्तियों को ामन करने के लिए ही संवैधानिक प्रक्रिया का जन्म होता है। प्राणी, अभिप्राय की मलिनता, निहित स्वार्थ, इन्द्रियों की आसक्ति एवं प्रमाद के कारण जब न्यायोचित कार्य नहीं करता; तब उसे उचित मार्ग पर लाने के लिए किये गये प्रयत्न का नाम ही 'कानून' या 'संविधान' होता है, जिसे दण्ड-व्यवस्था भी कहा

1. चर्चासागर, चर्चा 173, पृ ठ 316

जा सकता है। गृहस्थ-जीवन में अपराध की सजा का विधान, प्राचीन काल में राजाओं के द्वारा होता था, जो वर्तमानकाल में ग्राम-पंचायत, न्यायालय या अदालतों के द्वारा किया जाता है।

भारतीय संविधान का वर्तमान परिप्रेक्ष्य

'जैन संविधान' या 'जैन कानून' या 'जैन लॉ' – इस वि ाय पर चर्चा करने के पूर्व वर्तमान में प्रचलित भारतीय संविधान पर संक्षिप्त दृ टिपात करना अनुचित नहीं होगा। प्रत्येक स्वतन्त्र दे ा का एक संविधान होता है। यह दे ा का सर्वोच्च कानून, दे ा के लोगों की अभिला ाा का प्रतीक होता है।

"संविधान, किसी भी राष्ट्र की रीढ़ होता है। संविधान का अर्थ है – शासन का स्वरूप। हमारा देश लोकतन्त्रात्मक है। हमारे देश का संविधान, संसार में सबसे अधिक लोकप्रिय और सबसे बड़ा है। हमारे देश में शासन के तीन अंग हैं –

1. व्यवस्थापिका, जो कानून का निर्माण करती है।
2. कार्यपालिका, जो कानून को लागू करती है।
3. न्यायपालिका, जो कानून का उल्लंघन करनेवालों को दण्डित करती है।"[1]

"भारत में कानून के विकास का इतिहास देखने पर ज्ञात होता है कि भारतीय कानून का निर्माण, अचानक एक दिन में नहीं हुआ, बल्कि यह एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसका मूल, भारत में चले सैकड़ों वर्षों के ब्रिटि ा ासन में अन्तर्निहित है। भारत में आधुनिक कानून-व्यवस्था की ुरुआत, सन् 1600 में ब्रिटि ा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ हुई और सन् 1950 में स्वतन्त्र भारतीय गणतन्त्र की स्थापना के साथ इसकी पूर्णता हुई।

भारत का संविधान, कठोर एवं लचीला, दोनों रूपों में साथ-साथ

1. जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ**, पृ ठ 27 के आधार पर

चलता है अर्थात् संविधान के कुछ प्रावधानों में तो सं ोधन किया ही नहीं जा सकता, जबकि कुछ प्रावधानों को संसद के वि ो ा बहुमत से और कुछ को साधारण बहुमत से सं ोधित किया जा सकता है।

भारत में मुख्यरूप से बड़े कानून इस प्रकार हैं, जो सभी नागरिकों पर समान रूप से प्रभावी हैं –

1. भारतीय संविधान
2. भारतीय दण्ड संहिता
3. दण्ड प्रक्रिया संहिता
4. सिविल प्रक्रिया संहिता
5. साक्ष्य अधिनियम
6. आयकर अधिनियम

इसी प्रकार भारत में कुछ धर्म-वि ो ा पर आधारित कानून भी हैं, जो उस धर्म से सम्बन्धित लोगों पर ही लागू होते हैं। भारत सरकार ने इन धार्मिक एवं सामाजिक कानूनों का निर्माण, इस उद्देश्य से किया है, ताकि धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियाँ और परम्पराएँ जीवित रहें और लोगों को अजनबीपन महसूस न हो। सामान्यतया ये पारिवारिक कानून हैं, जो परिवार-सम्बन्धी मामलों पर ही लागू होते हैं।

धर्म-विशेष पर आधारित सामाजिक कानून तीन प्रकार के हैं –

1. हिन्दू कानून 2. मुस्लिम कानून 3. ईसाई कानून'[1]

'हिन्दू कानून' से अलग 'स्वतन्त्र जैन कानून' की आवश्यकता

इस व्यवस्था में जैनों को हिन्दुओं के अन्तर्गत ामिल किया गया है और उनके पारिवारिक एवं सामाजिक विवादों को 'हिन्दू कानून' के माध्यम से सुलझाया जाता है; लेकिन इससे जैन समाज, अपनी अस्मिता (पहचान) को खोती जा रही है, उसे इसमें वही समस्या आ रही है, जिस कारण अलग-अलग धर्मों के अलग-अलग कानून बनाये गये थे। इस कारण हमारी समाज, हमारे जैन आगमों में उल्लिखित 'स्वतन्त्र जैन कानून' से भी वंचित हो रही है।

इसका दु परिणाम यह भी हो रहा है कि जैन समाज के पास जो

1. मह ि, दीपककुमार; **सभी के लिए कानून**, पृ ठ 15, 17, 31 के आधार पर

संविधान-सम्बन्धी प्राचीन अमूल्य धरोहर सुरक्षित है, जिसका लाभ सम्पूर्ण रा ट्र को मिलना चाहिए, लेकिन वह उससे लाभान्वित नहीं हो पा रहा है। उदाहरणार्थ, आज संविधान में इन तथ्यों को ामिल करने की आव यकता प्रतीत हो रही है कि बालकों के अपने माता-पिता एवं वृद्धजनों के प्रति क्या दायित्व हैं? इसे संवैधानिक दायरे में बाँधने की आवश्यकता है; क्योंकि युवा होने के बाद बालक, भौतिकता की चकाचौंध में अपने वृद्ध माता-पिता को भूलते जा रहे हैं।

इसी प्रकार अन्य अनेक वि ाय हैं, जिनका समावे ा हो जाने से हमारे दे ा का संविधान, सम्पूर्ण वि व के लिए मिसाल बन सकता है; अतः भारतीय संविधान में **'स्वतन्त्र जैन कानून की स्थापना'** करना, आत्यन्तिकरूप से आवश्यक है, उपयोगी है एवं प्रार्थनीय है।

इस ोध-कार्य में जैनों के आगम-ग्रन्थों में वर्णित गृहस्थ-व्रती श्रावकों एवं गृह-विरत मुनियों के आचरण से सम्बन्धित नियमों व उप-नियमों को 'जैन संविधान' के नाम से उल्लिखित किया गया है।

प्रो. (डॉ.) राजारामजी जैन ने जैनधर्म की लौकिक एवं पारलौकिक आचरण-सम्बन्धी नियमावली को 'संविधान' नाम से अभिहित किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'अहिंसा एवं पर्यावरण-संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय-स्रोत'[1] में पृ ठ 32-33 पर **'श्रावकाचार संविधान'** ाब्द का प्रयोग किया है। वे लिखते हैं – 'श्रावकाचार संविधान' के अनुसार प्रत्येक जैन श्रावक अथवा सद्गृहस्थ (House Holder) को नियमितरूप से निम्नलिखित दैनिक नियमों का पालन करना आव यक है –

1. प्रतिदिन देव-द ान
2. ास्त्र-स्वाध्याय
3. गुरु अर्थात् मुनि-आचार्य का सान्निध्य प्राप्त कर, उनकी वैयावृत्ति (सेवा) करना तथा उनके हितकारी प्रवचन सुनना।

जैनधर्म, एक वि ुद्ध आध्यात्मिक धर्म है। इस ा वत आत्मधर्म

1. राजाराम जैन; **अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत** : जैनधर्म तथा लोकनायक वर्धमान महावीर, पृ ठ 28.29,

का सम्बन्ध, किसी जाति-वि ो ा से कभी नहीं रहा। पुराणों के अनुसार – पूर्व में सभी जाति के मनु यों ने इस जैनधर्म का पालन करके आत्म-कल्याण के साथ-साथ वि व- ान्ति के लक्ष्य को प्राप्त किया है।

जैनधर्म की प्रवृत्ति, अनादिकाल से चली आ रही है। जाति-पाँति का अन्याय दूर करने व अजैनों को भी तपस्या का अधिकार देने का काम जैनधर्म ने किया है, इसे हम जैन तीर्थंकरों के पुराणों व जैन सन्तों के जीवन-चरित्रों के माध्यम से समझ सकते हैं; क्योंकि अनेक जैन सन्तों में जैनधर्म को स्वीकार करनेवाले जन्म से अजैन थे।

जैन तीर्थंकरों की वं ा-परम्परा निम्न प्रकार से प्राप्त होती है –

कुरुवं ा – श्री ान्तिनाथ एवं श्री कुन्थुनाथ
यादववं ा – श्री नेमिनाथ एवं श्री मुनिसुव्रतनाथ
उग्रवं ा – श्री पा र्वनाथ एवं श्री महावीरस्वामी
इक्ष्वाकुवं ा – ो ा 18 तीर्थंकर

'जैन' बनने का अर्थ, धर्म-परिवर्तन से न होकर हम जैसे भी हैं, वैसे ही रह कर, जैन-जीवन- ैली अपनाने एवं उसके सिद्धान्तों को स्वीकार करने से है।

जैनधर्म, वि ुद्ध जीवन- ैली, आध्यात्मिक ान्ति, आत्म-कल्याण और मुक्ति के मार्ग को बतानेवाला धर्म है। जो भी व्यक्ति, चाहे वह किसी भी जाति या सम्प्रदाय का क्यों न हो? – इस जीवन- ैली को अपना कर, जैन बन सकता है, क्योंकि जैनधर्म के अनुसार – **सभी आत्माएँ समान हैं, कोई छोटी-बड़ी नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा, अपने स्वपुरुषार्थ द्वारा भक्त से भगवान और पतित से पावन परमात्मा बन सकती है।**

वैदिकधर्म या हिन्दूधर्म से भिन्न जैनधर्म की विशेषता[1]

भारतीय धर्मों में वैदिक धर्म से भिन्न जैनधर्म की अपनी पृथक्

1. पाण्डे बि म्भरनाथ, **भारत और मानव संस्कृति,** भाग 1; पृ ठ 104-106 के आधार पर

वि ो ाताएँ हैं, जिनका उल्लेख श्री बि म्भरनाथ पाण्डे ने 'भारत और मानव संस्कृति' में किया है, वे लिखते हैं –

1. वैदिकधर्म के मुताबिक मुख्य धर्म यज्ञ था, उसमें प ुवध आव यक था। जबकि जैनधर्म का प्रधान वि ाय था – अहिंसा।

पहले भारत में अ वमेध आदि यज्ञों की परम्परा थी, लेकिन सम्भवतः यह परम्परा, अहिंसावादी जैनधर्म के प्रभाव से बन्द हो गई। यही कारण है कि बाद में वैदिक मत में भी गाय अवध्य मानी गई।

2. 'वेद' का काम्य स्वर्ग था। 'मुक्तिवाद' उसके (उसकी विचारश्रेणी के) बाहर की बात थी। अलबत्ता (यद्यपि) वेद में भी मुक्तिवाद ने बाद में प्रवे ा किया। वह मुक्तिवाद, ायद वेद के पहले से भारत में प्रचलित था। (यही जैनधर्म की अति-प्राचीनता का द्योतक है) जन्मान्तरवाद के सम्बन्ध में भी इसी तरह की बात आती है।

3. एक समय दक्षिण भारत में भी जैनमत प्रतिि ठित था। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जैनमत, सिर्फ वहीं तक सीमित था; बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि अति प्राचीन भारतीयत्व का भाव, जैन-मत में आदि काल से विद्यमान है। (इससे यह संकेत भी उजागर होता है कि सम्भवतया अति प्राचीन काल में जैनधर्म ही भारत का मूल धर्म रहा हो, क्योंकि द्राविड़, भारत के मूल निवासी माने जाते हैं और जैन-संस्कृति भी द्राविड़-संस्कृति के अन्तर्गत ही आती है।)

4. वेद का प्राचीन आद र् था – गार्हस्थ्य धर्म, संन्यास, और आचार; अतः ये वेद के पूर्व भी भारत में थे और परवर्ती वैदिक काल में भी थे .....लेकिन (विचारणीय बात यह है कि) चतुराश्रम की व्यवस्था में और इन आद ों में परस्पर सामंजस्य नहीं बैठता। जबकि जैन-बौद्ध आदि धर्मों में संन्यास-प्रधान होने का मूलभाव पहले से ही है।

5. रथ-यात्रा, स्नान-यात्रा आदि उत्सव भी आर्यों के पूर्व की किसी ऐसी धारा से आये हैं, पर यह अभी अनुसन्धान करके सोचने का विषय है। दामी गजेटीयर में स्प ट है कि कुण्डलपुर में रथोत्सव में प्रधान

महत्त्व की बात है – जल-यात्रा; उसमें महावीर को स्नान (जलाभिषेक) कराया जाता है और भक्त लोग उस स्नानावशेष (अभिषेकोपरान्त) जल को श्रद्धापूर्वक मस्तक पर लगाते हैं। (अर्थात् शरीर के अन्य अंगों एवं निम्न अंगों में कदापि नहीं।)

6. जैन-बौद्धादि धर्मों के धर्म-प्रवर्तक क्षत्रिय थे; यद्यपि कुछ लोग यह साबित करना चाहते हैं कि उनका धर्म उच्चवं ीय (ब्राह्मणवंशीय) महान पुरु ाों की परम्परा है; इसी से भारत के मध्य युग में भी बुनकर, धुनकर आदि जातियों के धर्म-प्रवर्तकों को भी ब्राह्मण बनाने के प्रयत्न हुए हैं। इस प्रकार हिन्दुओं के प्रतिष्ठित हो जाने के बाद भी जैन कभी ऐसा नहीं कहते कि उनके आदिगुरु ब्राह्मण थे।

इस प्रकार भारत में वेदों के अलावा अन्य सत्य को उदार भाव से स्वीकार करने का साहस क्षत्रियों (जैन तीर्थंकरों) ने ही किया है।

क्या जैनी, हिन्दू-धर्म-च्युत भिन्न-मतावलम्बी हैं ?[1]

कुछ लोग, जैनियों को पूर्व में किसी काल में हिन्दू-धर्म से च्युत भिन्न-मतावलम्बी (डिसेन्डर्ज) मानते हैं तथा ऐसा मानने के पीछे वे निम्न युक्तियाँ भी प्रस्तुत करते हैं –

1. जीवदया, पुनर्जन्म, नरक-स्वर्ग, सुख-शान्ति व मोक्ष-प्राप्ति और उसके उपाय के विषय में जैनियों के विचार ब्राह्मणों से मिलते हैं।

2. जाति-बन्धन के सम्बन्ध में भी दोनों के विचार समान हैं।

3. जैनी भी हिन्दू देवी-देवताओं को मानते हैं; यद्यपि वे उनको नितान्त अपने तीर्थंकरों के सेवक समझते हैं।

4. जैनियों ने हिन्दूधर्म की बेहूदगियों को और बढ़ा दिया है। जैसे, इन्द्र-इन्द्राणियों एवं देव-देवियों की निश्चित संख्या मानना।

हिन्दू कोड के पृष्ठ 180-181 पर ड. गौड़ ने भी इसी प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, परन्तु प्रथम दो युक्तियों के सम्बन्ध में उनका

1. देखो, **जैन लॉ (जैन कानून),** पृष्ठ 119-123 के आधार पर

ऐसा कहना तो दोनों पक्षों में समान हो सकता है। यदि यह कहा जाता है कि जैनियों ने हिन्दूधर्म से इन बातों को लिया है तो यह भी तो कहा सकता है कि हिन्दुओं ने अपने धर्म के इन आधारों को जैनधर्म से लिया हो।

इस सम्बन्ध में निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है –

1. जीवदया या अहिंसा को हिन्दूधर्म का चिह्न उस प्रकार से नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार से वह जैनधर्म का लक्षण है, क्योंकि 'अहिंसा परमो धर्मः' – यह तो जैनधर्म का आदर्श-वाक्य ही रहा है।

2. जैनी लोग, हिन्दू देवी-देवताओं को मानते हैं, पूजते हैं – इस बात में भी सच का आधार नहीं है। अरे, ऐसे दृश्य तो सभी धर्मों में सामान्यतया पाये जाते हैं। क्या कतिपय हिन्दू, मुसलमानों के ताजियों और दरगाहों को पूजते हुए नहीं दिख जाते हैं? इस कारण क्या हम हिन्दुओं को भी मुसलमान डिस्सेन्टर्ज' कह सकते हैं?

3. हमें किसी भी धर्म के सम्बन्ध में राय बनाने से पूर्व उस धर्म की मूलभूत शिक्षाओं एवं विश्वासों को आधार बनाना चाहिए, न कि कुछ व्यक्तियों की, किसी कारण की गई कोई तात्कालिक क्रिया-प्रतिक्रिया आधार बन सकती है।

4. इसी प्रकार यह कहना भी कितना बुरा प्रतीत होता है कि जैनियों ने हिन्दूधर्म की बेहूदगियों को बढ़ा दिया है। क्या हिन्दूधर्म बेहूदा है और जैनियों ने उसकी बेहूदगियों को और भी बढ़ा दिया है। क्या हिन्दूधर्म के अनुयायी स्वयं इससे सहमत होंगे

5. जैनधर्म में इन्द्रों एवं देवियों की एक निश्चित संख्या मानी गयी है। इसका कारण यह है कि जैनधर्म में तीर्थंकर सर्वज्ञदेव के द्वारा कथित अकृत्रिम स्वर्ग-नरक की व्यवस्था को स्वीकार किया गया है, उसके अन्तर्गत ही वे स्वर्ग के राजा 'इन्द्रों' एवं उनकी रानियों 'देवियों' की निश्चित संख्या मानते हैं; उसे वे एक स्व-पर-धर्म से अनभिज्ञ लेखक महाशय के कहने से मानना क्यों छोड़ दें? जबकि हिन्दुओं ने

इन्द्र आदि को आलंकारिक रूप में स्वीकार किया है, जो इस तथाकथित विचार-धारा से बिलकुल हटकर है।

6. यह भी एक विचारणीय तथ्य है, जो जैनमत को हिन्दूमत से भी अधिक प्राचीन सिद्ध करती है, क्योंकि यह नियम है कि घटना, अलंकार से पहले होती है अर्थात् वैज्ञानिकरूप से कोई भी ज्ञान, अलंकार रूपी सिद्धान्तों से पूर्व होता है। बात यह है कि जैन ग्रन्थ और वेद, दोनों में प्रायः जो एक बात कही गई है, उसमें जैन ग्रन्थों की भाषा स्पष्ट और वैज्ञानिक है, जबकि वेदों को कथन गुप्त और अलंकारिक है; अतः यह सिद्ध है कि जैनधर्म ही वेदों से अधिक प्राचीन है; उसके ही अहिंसा, सत्य आदि आचारपरक सिद्धान्तों को हिन्दू ग्रन्थों एवं परम्परा में स्वीकार किया गया है।

7. इस प्रकार जैनियों के शास्त्र, हिन्दुओं के शास्त्रों से सर्वथा भिन्न हैं, उनमें कोई समानता नहीं है। जैन नीति ग्रन्थ भी ब्राह्मणीय प्रभाव से नितान्त मुक्त हैं, उनके स्वतन्त्र नीतिपरक ग्रन्थ विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं।

8. यद्यपि जैन लोग, पूर्व में कभी-कभी अपने शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने के लिए अथवा विवाहादि लौकिक कार्यों को विधिपूर्वक कराने के लिए ब्राह्मणों की सहायता लेते रहे हैं; लेकिन इससे उनका हिन्दू-धर्म-च्युत होना कदापि सिद्ध नहीं होता है। अरे भाई! जब दो समाज, एक ही देश में हजारों वर्षों से एकसाथ रहती आईं हैं तो क्या उनमें पारस्परिक व्यवहार का निषेध किया जा सकता है?

9. एक कारण यह भी है कि बहुत पहले से दोनों समाजों में जाति-आधारित पारस्परिक विवाहादि कार्य होते आये हैं, इस कारण उनकी सन्तानें भी कभी-कभी एक धर्म को छोड़कर अन्य धर्म में सम्मिलित होती रही हैं, इस कारण भी उनके आचार-विचारों में परस्पर लेन-देन तथा धार्मिक सिद्धान्तों एवं पौराणिक कथा-कहानियों का भी पारस्परिक मिश्रण होता रहा है, जिससे भ्रमित होना स्वाभाविक है।

10. सामाजिक, राजनैतिक अथवा अन्य कारणों से कहीं-कहीं जैनधर्म के अनुयायी बिलकुल नहीं रहे, जबकि उनके मन्दिर आदि जैनियों की धरोहरें आज भी वहाँ विद्यमान हैं। इसी प्रकार मन्दिरों की दैनिक पूजा-पाठ आदि कार्यों के लिए भी ब्राह्मण पुजारी को रखना ही पड़ा है; लेकिन इसका ऐसा अनर्थकारी अर्थ निकालना कि 'जैन-धर्म, हिन्दू-धर्म-च्युत धर्म है' — यह कहाँ तक उचित है?

क्या जैनधर्म, 'बौद्धधर्म का बच्चा' है?

ड. गौड़, हिन्दू कानून के अन्तर्गत जैनधर्म को 'बौद्धधर्म का बच्चा' तक कहते हैं, उन्हीं का अनुसरण भारतीय कानून में भी किया गया है; अतः हमें निम्न तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक हिन्दू विद्वान् ड. टी. के. लड्डू ने स्वयं कहा था —

"वर्द्धमान महावीर के पहले के किसी प्रामाणिक इतिहास का तो हमें पता नहीं है, लेकिन इतना तो निश्चित और सिद्ध है कि जैन-धर्म, बौद्धधर्म से पुराना है।"[1]

स्वर्गीय महामहोपाध्याय ड. सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने भी इसी बात निर्णय पर पहुँचे थे —

"**इन्द्रभूति गौतम,** जो कि महावीर का निज शिष्य था और जिसने उनके उपदेशों का संग्रह किया।

गौतम बुद्ध, उनका समकालीन था, जिसने बौद्धधर्म चलाया।

इसी प्रकार **अक्षपाद गौतम** भी उनका समकालीन था, जो कि ब्राह्मण था और न्यायसूत्र का बनानेवाला था।"[2]

ड. जे. जी. बुह्लर ने भी लिखा है —

"जैनियों की तीर्थंकर-सम्बन्धी व्याख्याओं को बौद्ध स्वतः ही सिद्ध करते हैं। पुराने ऐतिहासिक शिलालेखों से वह सिद्ध होता है कि जैन

1. देखो, **स्याद्वाद महाविद्यालय,** बनारस से प्रकाशित व्याख्यान के आधार पर
2. देखो, **जैन लॉ (जैन कानून),** पृष्ठ 114

आम्नाय, स्वतन्त्ररूप में बुद्ध की मृत्यु के पहले की पाँच शताब्दियों में भी बराबर प्रचलित थी; और कुछ शिलालेख तो ऐसे हैं कि जिनसे जैनियों के कथन पर कोई सन्देह नहीं रह जाता है, बल्कि उसकी सत्यता दृढ़ता से सिद्ध होती है।''[1]

इसी प्रकार मेजर जनरल जे. जी. आर. फर्लांग लिखते हैं –

"ईसा से पहले 1500 से 800 वर्ष तक, बल्कि उससे भी पूर्व एक अज्ञात समय से उत्तरीय पश्चिमीय और उत्तरीय-मध्य भारत का राज्य द्राविड़-शासन में था और वहाँ वृक्ष, सर्प और लिंग-पूजा (नग्न दिगम्बरत्व की पूजा) का प्रचार था......किन्तु उस समय में भी उत्तरीय भारत में एक प्राचीन और अत्यन्त संगठित धर्म प्रचलित था; जिसके सिद्धान्त, सदाचार, और कठिन तपश्चरण के नियम, उच्च कोटि के थे– **यह जैनधर्म था; जिसमें से ब्राह्मण और बौद्धधर्मों के प्रारम्भिक तपस्वियों के आचार स्पष्टतया ले लिये गये हैं।**[2]

इसके अलावा 'दी एन्सायक्लोपीडिया अफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' में अन्तिम प्रामाणिक लेख के रूप जो निष्कर्ष बताया गया है, वह ड. गौड़ के विचारों से सर्वथा विरुद्ध है, वहाँ लिखा है –

"यद्यपि उनके (जैनधर्म और बौद्धधर्म के) सिद्धान्तों में मूल से ही अन्तर है; तथापि जैन और बौद्धधर्म के साधु, हिन्दूधर्म से व्यतिरिक्त होने के कारण, बाह्य भेष में एक से दिखाई पड़ते हैं और इस कारण भारतीय लेखकों ने भी उनके विषय में धोखा खाया है; अतः इसमें आश्चर्य ही क्या है कि कुछ यूरोपीय विद्वानों ने जिनको जैनधर्म का ज्ञान, अपूर्ण जैनधर्म की पुस्तकों से हुआ, उस कारण उन्होंने आसानी से यह समझ लिया कि जैनधर्म या जैनमत, बौद्धधर्म की शाखा है, किन्तु तत्पश्चात् यह निश्चयात्मकरूप से सिद्ध हो गया है कि यह उनकी भूल थी।

1. देखो, **दी जैनाज्,** पृष्ठ 22-23
2. देखो, **Short Studies in the Science of Compatative Religion,** PP. 243-244

...... बौद्धों की धर्म-पुस्तकों में भी जैनों का वर्णन बहुत मिलता है, वहाँ उनको प्रतिपक्षी मतानुयायी और पुराने नाम 'निग्गंथ' (निर्ग्रन्थ) से नामांकित किया गया है।

.... बुद्ध के समय जैन-गुरु (महावीर) को नातपुत्त और उनके निर्वाण-स्थान को 'पावा' कहा गया है। नात (नाथ) व नातपुत्त, जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के विशेषण थे।

इस प्रकार बौद्ध-पुस्तकों से भी जैनधर्म के कथन का समर्थन होता है। इधर जैनियों के धर्म-ग्रन्थों में महावीरस्वामी के समकालीन वही राजा कहे गये हैं, जो बुद्ध के समय में शासन करते थे और विचार-धारा में बुद्ध के प्रतिपक्षी थे।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि महावीर बुद्ध के समकालीन थे और बुद्ध से उम्र में कुछ बड़े थे; लेकिन महावीरस्वामी के पावापुर में निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् भी बुद्ध जीवित रहे। बुद्ध तो बौद्ध-धर्म के संस्थापक थे; किन्तु महावीर, जैनधर्म के संस्थापक या उत्पत्ति करनेवाले नहीं थे।[1]

अब इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना चाहिए, जो कि प्रत्येक विचार-वान् पाठक के मन में उत्पन्न होगा। क्या जैनियों का कर्म-सिद्धान्त, ...जैनदर्शन का प्रारम्भिक और आवश्यकीय अंग है ? अथवा यह कोई नवीन आधुनिक तत्त्वसंग्रह है, जो एक नये धार्मिक दर्शन के मूल पर लगाया या चिपकाया गया है, जिसका आशय जीव-रक्षा और सर्व प्राणियों की अहिंसा का प्रचार था, किन्तु इस मत का प्रतिकार, इस बात से ही हो जाता है कि यह कर्म-सिद्धान्त,......जैनधर्म के पुराने से पुराने ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

साथ ही उन ग्रन्थों के बहुत से वाक्यों और पारिभाषिक शब्दों में भी इसका पूर्व से ही अस्तित्व झलकता है, क्योंकि आस्रव, संवर, निर्जरा आदि शब्दों का अर्थ तभी समझ में आ सकता है, जब यह मान

1. **The Encyclopaedea of Religion and Ethics,** Vol. VII, P. 465

लिया जाए कि कर्म, एक प्रकार का सूक्ष्म द्रव्य है, जो आत्मा में बाहर से प्रवेश करता है (आस्रव), इस प्रवेश को रोका जा सकता है (संवर), तथा जिन कर्मों का आत्मा में प्रवेश हो गया है, उसका नाश या क्षय आत्मा के निज-पुरुषार्थ-बल से हो सकता है (निर्जरा)।

जैनधर्मावलम्बी, इन शब्दों का उनके शाब्दिक अर्थ में ही प्रयोग करते हैं और मोक्षमार्ग का स्वरूप इसी प्रकार करते हैं कि आस्रव का संवर और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने से मोक्ष होता है। इस प्रकार ये शब्द उतने ही पुराने प्रतीत होते हैं, जितना कि जैनदर्शन।

यद्यपि बौद्धों ने जैनदर्शन से आस्रव जैसा सारगर्भित शब्द ले तो लिया है; और वे उसका प्रयोग, उसी अर्थ में करने का प्रयत्न भी करते हैं, जिस अर्थ में जैनदर्शन में किया गया है, परन्तु वे यह नहीं मानते कि कर्म, कोई सूक्ष्म द्रव्य है और न वे स्वयं जीव का अस्तित्व ही मानते हैं, जिसमें कर्म का प्रवेश हो सके; अतः वे इस शब्द का प्रयोग करके भी उसका मर्म नहीं स्पष्ट कर पाते।

इस कारण ऐसा मानने में कोई सन्देह नहीं है कि उन्होंने इस शब्द को और ऐसे ही अन्य अनेक शब्दों को किसी ऐसे धर्म से लिया है कि जहाँ इसका प्रारम्भिक भाव प्रचलित था, और वह जैनदर्शन ही है, क्योंकि अन्यत्र कहीं भी ऐसे शब्दों की विस्तृत मीमांसा उपलब्ध ही नहीं होती है।

इस प्रकार एक ही युक्ति से यह स्पष्टतया सिद्ध हो गया कि जैनियों का कर्म-सिद्धान्त, जैनधर्म का वास्तविक और आवश्यक अंग है और जैनदर्शन, बौद्धधर्म की उत्पत्ति से बहुत पहले का है।[1]

यदि ड. गौड़, बौद्धों के शास्त्रों को पढ़ने का कष्ट उठाते तो उन्हें यह ज्ञात हो जाता कि बुद्धदेव ने स्वतः जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है, वे लिखते हैं –

'भाईयों ! कुछ ऐसे संन्यासी (अचेलक, आजीवक, निग्गंथ आदि)

1. **The Encyclopaedea of Religion and Ethics,** Vol. VII, P. 472

हैं, जिनका ऐसा श्रद्धान है और जो ऐसा उपदेश देते हैं कि प्राणी, जो कुछ सुख-दुःख या दोनों के प्रति माध्यस्थ्य भाव का अनुभव करता है, वह सब पूर्वकर्म के निमित्त से होता है और तपश्चरण द्वारा पूर्वकर्मों के नाश से, नये कर्मों के न करने से, आगामी जीवन में आस्रव के रोकने से कर्म का क्षय होता है और इस प्रकार सर्व पाप का क्षय और सर्व दुःखों का विनाश होता है। भाईयों! ऐसा निग्गंथ (जैन) कहते हैं।

...... मैंने (बुद्ध) उन (जैनधर्मावलम्बियों) से पूछा कि क्या यह सच है कि तुम्हारा ऐसा श्रद्धान है और तुम इसका प्रचार करते हो .....

तब उन्होंने उत्तर दिया कि ''हमारे गुरु निग्गंथ नातपुत्त सर्वज्ञ हैं .... उन्होंने अपने गहन ज्ञान से इसका उपदेश दिया है कि तुमने पूर्व में पाप किया है, इसको तुम इस कठिन और दुस्सह आचार से दूर करो और मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का जितना निरोध किया जाता है, उतने ही आगामी जन्म के लिए बुरे कर्म कट जाते हैं .... इस प्रकार सब कर्म, अन्त में क्षय हो जाएँगे और सारे दुःख का विनाश होगा।'' हम इससे सहमत हैं।[1]

इस प्रकार हिन्दू कानून में ड. गौड़ का जैनधर्म को 'बौद्धधर्म का बच्चा' कहना कहाँ तक उचित है।"

जवाहरलाल नेहरू एवं वैश्विक दृष्टि में जैनधर्म की विशेषता

* भूतपूर्व प्रधानमन्त्री, पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने 'हिन्दुस्तान की कहानी' में स्प ट तौर पर जैनधर्म को वैदिकधर्म या हिन्दूधर्म से पृथक् घो ित किया है तथा इससे विरुद्ध विचारधारा को सरासर गलतफ़हमी फैलानेवाली बात माना है। वे कहते हैं –

''बौद्धधर्म और जैनधर्म, यकीनी तौर पर हिन्दूधर्म नहीं हैं और न वैदिकधर्म ही हैं। फिर भी उनकी उत्पत्ति हिन्दुस्तान में ही हुई और ये

1. **मज्झिम निकाय,** 2/214 व 1/238; **The Encyclopaedea of Religion and Ethics,** Vol. II, P. 70
2. देखो, **जैन लॉ (जैन कानून),** पृष्ठ 114–118 के आधार पर

हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी, तहज़ीब और फ़िलसफे के अंग हैं।

हिन्दुस्तान में बौद्ध और जैनी, हिन्दुस्तानी विचारधारा और संस्कृति की सौ फीसदी उपज हैं, फिर भी इनमें से कोई भी मत के ख़याल से हिन्दु नहीं हैं; इसलिए हिन्दुस्तानी संस्कृति को हिन्दू संस्कृति कहना, एक सरासर गलतफ़हमी फैलानेवाली बात है।’’[1]

* पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में 8 नवम्बर 1948 को सम्बोधित करते हुए कहा था -

’’जिस संविधान का दे ावासियों के जीवन, उनके लक्ष्यों और आकांक्षाओं से कोई सरोकार नहीं होता, वह खोखला रह जाता है, उससे दे ावासियों की अवनति होती है। लोगों के मन-मस्ति क को ऊँचे लक्ष्यों की ओर केन्द्रित करना, संविधान का लक्ष्य होना चाहिए।[2]

* जैनधर्म की ऐतिहासिक विरासत को ध्यान में रखते हुए वि व के अन्तर्रा ट्रीय धर्मों के संगठन (IRO) ने दिनांक 5 मार्च 2006 के दिन जैनधर्म को वि व के दसवें धर्म के रूप में मान्यता प्रदान की है।

* अमेरिकी संसद ने भी दिनांक 27 अक्टूबर 2007 को विधेयक क्रमांक 747 के द्वारा यह स्वीकार किया है कि ‘अमेरिका व वि व में दीवाली के त्योहार को जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण-दिवस के उपलक्ष्य में मनाया जाता है।’

* इसी प्रकार अमेरिका के िकागो हर में सितम्बर 1893 को ‘प्रथम वि व-धर्म-संसद’ का आयोजन हुआ था, जिसमें श्री वीरचन्द्र गांधी, जामनगर ने जैनधर्म का प्रतिनिधित्व किया था। उनका व्याख्यान, प्रका ित भी है।

---

1. नेहरू जवाहरलाल, **हिन्दुस्तान की कहानी**, पृ ठ 97-98
2. जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ**, पृ ठ 45 के आधार पर
3. **‘नीलीज् हिस्ट्री ऑफ रिलीजन्स्’**, पृ ठ 733-736

‘जैन, हिन्दू नहीं हैं’ : प्रधानमन्त्री सचिवालय से भी पुष्टि[1]

इसी प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत का संविधान घो ित होने से एक दिन पूर्व, दिनांक 25 जनवरी 1950 को इसी अनुच्छेद के स्प टीकरण 2 के सम्बन्ध में उत्पन्न आ ांका के निराकरणार्थ, जैनों का एक प्रतिनिधि-मण्डल तत्कालीन प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू एवं अन्य प्रमुख नेताओं से मिला था और उन्हें अपनी ओर से एक ज्ञापन सौंपा था। उसमें स्प ट तौर पर यह कहा गया था कि **जैन, हिन्दू नहीं हैं।**

इससे लगभग चार माह पूर्व दिनांक 3 सितम्बर 1949 को स्वयं नेहरूजी ने इलाहाबाद के अपने भाषण में ‘जैन समाज की स्वतन्त्रता’ का समर्थन करते हुए उसे ‘अल्पसंख्यक समाज’ के नाम से उल्लिखित भी किया था।[2]

यद्यपि उक्त ज्ञापन पर तुरन्त कार्यवाही करते हुए प्रधानमन्त्री सचिवालय से 31 जनवरी 1950 को एक लिखित स्प टीकरण **ए. वी. पाई,** प्रधानमन्त्री के प्रमुख निजी सचिव की ओर से जारी किया गया था, तथापि जैनधर्मावलम्बियों को स्वतन्त्र दर्जा आज तक प्राप्त नहीं हो सका है। उस स्पष्टीकरण का मूल पाठ[5] निम्न प्रकार है –

प्रधानमन्त्री सचिवालय, नई दिल्ली संख्या 33/94/50

31 जनवरी, 1950

प्रिय महोदय,

25 जनवरी को प्रधानमन्त्री से मिले जैनों के एक प्रतिनिधि-मण्डल के सम्बन्ध में यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जैनों को अपने धर्म समुदाय के भवि य के बारे में आ ांका करने को कोई कारण नहीं है।

---

1. जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ**, पृ ठ 42-43 के आधार पर एवं जैन संजय, (अध्यक्ष, वि व जैन संगठन), **जैनधर्म की प्राचीनता**, पृ ठ 26, प्रका ाक, श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ, (2008)
2. देखें, **स्टेट्समेन**, प्रकाशन तिथि, 5 सितम्बर 1949

आपके प्रतिनिधि-मण्डल ने धारा 25 की ओर ध्यान दिलाया है कि जो संविधान की व्याख्या मात्र करती है। यह व्याख्या, धारा की मात्र एक व्यवस्था को लागू कर नियम को सीमित कर देती है।

इस तरह आप देखेंगे कि इसमें केवल जैनों का ही नहीं, बल्कि बौद्धों और सिक्खों का भी उल्लेख है। स्प ट है कि बौद्ध, हिन्दूधर्मी नहीं हैं, इसलिए यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि जैनों को हिन्दू माना गया है।

यह सत्य है कि जैन, कुछ मामलों में हिन्दुओं के काफी करीब हैं और दोनों में काफी कुछ रीति-रिवाज समान हैं; लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे एक भिन्न धार्मिक समुदाय से हैं और उनकी इस स्वीकृत स्थिति को संविधान किसी भी तरह से प्रभावित नहीं करता।

भवदीय

ए. वी. पाई

प्रधानमन्त्री के प्रमुख निजी सचिव

इसी प्रकार भारत सरकार के उपभोक्ता मामलों के मन्त्रालय ने दिनांक 1 मार्च 1950 को नामों व चिह्नों के प्रयोग के नियमों के अन्तर्गत ''सभी धर्मों के चिह्नों कों पंजीकृत किया है, जिसमें जैनों को स्वतन्त्र धर्म के रूप में 'चक्र' चिह्न दिया है।[1]

भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में जैनों का योगदान[2]

अंग्रेजों से भारत के प्रथम स्वाधीनता संघ ा में अमर ाहीद लाला हुकमचन्द जैन, कानूनगो, हांसी एवं फकीरचन्द जैन, हांसी को अंग्रजों के द्वारा 9 जनवरी 1858 को खुले आम फांसी पर लटका देने से लेकर अक्टूबर 1946 तक विभिन्न स्थानों में लिखित सूचनानुसार 20 जैनों

1. जैन संजय, (अध्यक्ष, वि व जैन संगठन), **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृ ठ 44, प्रका ाक, श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ, (2008)
2. **वही,** पृ ठ 23

ने अपने प्राण-त्याग दिये तथा 627 जैनों ने स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लिया।

उक्त अनेक ाहीदों एवं स्वतन्त्रता-सैनानियों का तो सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध है, इनके अलावा अन्य अनेकों का विवरण उपलब्ध न होने के कारण उन्हें निर्दि ट संख्या में ामिल नहीं किया गया है।

इसके अतिरिक्त आज़ाद हिन्द फौज में भी जैनों ने प्रत्यक्षरूप से ामिल होकर धनादि से सहयोग किया है। िक्षित समाज होने के कारण जैनों द्वारा निकाले जा गये अखबारों एवं पत्रिकाओं ने भी रा ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैनों का योगदान

"भारत की प्रगति एवं भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैनधर्म व जैनधर्मावलम्बियों का योगदान सकारात्मकरूप से रहा है। स्वतन्त्रता-संग्राम से लेकर संविधान की रचना तक जैन समुदाय ने अग्रणी भूमिका निभाई है। भारत की प्र ासन व्यवस्था में भी जैन पीछे नहीं रहे हैं।

..... भारत के संविधान में न केवल जैन वि ायक अवधारणाओं का समावे ा किया गया है, अपितु इसके निर्माण में जैन समुदाय ने महत्त्वपूर्ण योगदान भी किया है। यह इस बात का द्योतक है कि जैन समाज, हर जगह क्रिया ील रहा है तथा अपने अहिंसात्मक, सात्त्विक एवं बन्धुत्वभाव से प्रेरित कार्य-प्रणाली के माध्यम से दे ा की सेवा दीर्घकाल से करता आ रहा है।''[1]

जैन समाज : राष्ट्र के चतुर्मुखी विकास में अग्रणी

"जैन सिद्धान्तों, जैन जीवन पद्धतियों, जैन परम्पराओं और जैन समाज ने सदैव भारतीय इतिहास, संस्कृति, संविधान, विधि-विधान को आधारभूत योगदान एवं नए आयाम प्रदान किये हैं।

1. उपाध्याय मुनि ज्ञानसागर, आशीर्वचन, **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ,** पृष्ठ 13

भारत के राजनैतिक, प्र ाासनिक, आर्थिक एवं चारित्रिक विकास में जैन समाज द्वारा प्रदत्त महत्त्वपूर्ण भूमिका की एवं प्रत्येक स्तर पर उसके बौद्धिक मूल्यांकन की अत्यधिक सराहना की गई है।

जैन समाज, अपने लौकिक, सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन में अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्तों का सफलतापूर्वक उपयोग करते हुए रा ट्र के चतुर्मुखी विकास में अग्रणी रहा है।''[1]

भारतीय संविधान के निर्माण में जैनों की भूमिका[2]

"अंग्रेजी शासन के दौरान ही भारत का स्वतन्त्र संविधान लिखने की योजना तैयार हो गई थी। **'भारतीय संविधान तैयार करने की कहानी'** बहुत पुरानी नहीं है। इसके लिए सर्वप्रथम **महात्मा गाँधी** ने 5 जनवरी 1922 में माँग उठाई थी। पश्चात् **पण्डित मोतीलाल नेहरू** ने **'राष्ट्रीय माँग'** के रूप में 1924 में एक प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया था।

अनेक प्रयत्नों के उपरान्त अन्त में सन् 1946 में 'संविधान सभा' के लिए सदस्यों के चुनाव किये गये; जिसमें सभी राजनैतिक दलों के प्रमुख, सभी जातियों व धर्मों के लोग, वकील, ड क्टर, शिक्षाविद्, उद्योगपति, व्यापारी, श्रमिक-प्रतिनिधि, लेखक, पत्रकार, गणमान्य महिलाएँ आदि प्रमुख थे। इसके बाद 9 दिसम्बर 1946 को **'संविधान सभा'** का विधिवत् उद्घाटन हुआ और **ड . राजेन्द्रप्रसाद,** सभा के अध्यक्ष चुने गये। पश्चात् 15 अगस्त 1947 तक सभा पूर्ण रूप से **प्रभुता-सम्पन्न संस्था** बन गई और **ड . भीमराव बाबासाहेब आम्बेडकर,** समिति के अध्यक्ष चुने गये। इस सभा में लगभग 288 सदस्य थे।

इसके बाद संविधान सभा ने लगभग 3 वर्ष (2वर्ष, 11 माह, 17 दिन) तक कार्य किया। इसके कुल 11 सत्र, 165 बैठकें एवं प्रारूप समिति की 141 बैठकें हुईं। इस प्रकार अत्यन्त कम समय में **हमारा अपना संविधान** तैयार हो गया था और संविधान सभा के अन्तिम दिन **24 जनवरी 1950 को सभी सदस्यों के हस्ताक्षर** हुए।

---

1. सुरेश जैन, आई.ए.एस., **आमुख,** जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ,** पृ ठ 15
2. **वही,** पृ ठ 27-36 के आधार पर संक्षिप्त जानकारी

भारत के **संविधान-निर्माण में जैनों का अवर्णनीय योगदान** है; संविधान-निर्माण में विभिन्न प्रान्तों से चयनित जैनधर्मावलम्बियों ने भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। संविधान-सभा के सदस्य के रूप में 24 जनवरी 1950 को संविधान-सभा के अन्तिम दिन, इन सभी ने भी भारतीय संविधान के मूल दस्तावेज पर हस्ताक्षर भी किये थे।

यद्यपि उनमें से हमारे पास अनेक जैन महानुभावों का परिचय तो उपलब्ध भी नहीं है, किन्तु फिर भी प्रामाणिक जानकारी के अनुसार कुछ के नाम एवं परिचय निम्न प्रकार है —

1. श्री रतनलाल मालवीय (मलैया), जन्म-स्थान - सागर (म. प्र.)

सागर के मलैया वंश में जन्मे मालवीय उपनाम वाले **श्री रतनलाल जैन 'मालवीय'** का जन्म, दिनांक 8 नवम्बर 1907 के दिन सागर में हुआ था।

असहयोग आन्दोलन के दौरान आपने अपने प्रधानाध्यापक श्री खूबचन्दजी सोधिया के साथ स्कूल छोड़ दिया था, देश-भक्ति के कारण ही उनके प्रधानाध्यापकजी को बाद में भारतीय संसद में भी चुना गया था। आपने काशी एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय से कानून की शिक्षा प्राप्त की थी और तब भी आप स्वतन्त्रता-आन्दोलन से जुड़े रहे।

1934 में महात्मा गांधी के सागर आने पर, 'हरिजन सेवक संघ' के नाते आपको गाँधीजी की सेवा-सुश्रुषा करने का सौभाग्य भी मिला था। आप स्टेट प्यूपिल कांग्रेस उड़ीसा एवं छत्तीसगढ़ से भी जुड़े।

सन् 1947 के बाद आपका सम्बन्ध मजदूर आन्दोलन से हो गया। 1948 में संविधान सभा के लिए चुने गये, जिसमें आपने मजदूरों के हितों के लिए जोरदार बहस की थी।

आपके नाम से 'रतनलाल मालवीय स्मृति ग्रन्थ' प्रकाशित हुआ; उसमें आपने अपने जीवन के अनुभव बताते हुए लिखा —

'देश के संविधान पर दस्तखत होना, मेरे जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य है।'

अन्यत्र दीपावली की डायरी में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख में यह भी लिखा –

'विधान-निर्माता के रूप में उस पर श्रद्धा रखना तथा उसके अनुसार काम करना मेरा प्रथम कर्तव्य है ..... संविधान में पूरे देश का हित निहित है।'

आप सन् 1954 एवं 1960 में राज्यसभा के लिए भी चुने गये। सन् 1962 में नेहरूजी के मन्त्री-मण्डल में पार्लियामैन्टरी सचिव नियुक्त हुए और संयुक्त मन्त्री भी। शास्त्री मण्डल में भी आप संयुक्त मन्त्री रहे।

आप इन्टरनेशनल लेबर अ र्गेनाइजेशन (आई. एल. ओ.) से भी जुड़े रहे। सन् 1969 में आपको आई. एल. ओ. के 'एशियन राउण्ड टेबल कान्फ्रेंस' में चेयरमैन बनने का भी सौभाग्य आपको प्राप्त हुआ।

संविधान के प्रति आपकी अटूट श्रद्धा थी। उनकी सुपुत्री श्रीमती सुधा पटोरिया ने उनकी स्मृतियों को याद करते हुए लिखा है –

'वे संविधान की सुनहरी जिल्दवाली वृहदाकार प्रति को शास्त्रों की तरह कपड़े में लपेट कर, अपनी गोदरेज की अलमारी में इतने प्यार और श्रद्धा से रखते थे, जैसे, कोई अपने जन्मभर की जमा पूँजी सहेज रहा हो।

2. श्री अजितप्रसाद जैन, जन्म-स्थान - मेरठ (उ.प्र.)

मेरठ, उ.प्र. में जन्मे और सहारनपुर में वकालत करते हुए वहीं के निवासी **श्री अजितप्रसाद जैन,** केन्द्र सरकार में खाद्य एवं कृषिमन्त्री (1957), केरल के राज्यपाल (1965-66), उ.प्र. कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष (1961-64) और राज्यसभा के सदस्य (1968-74) भी रह चुके हैं।

आप अछूतोद्धार के प्रबल समर्थक थे एवं उनके साथ सहभोज करने के कारण उन्हें एक बार जाति से बहिष्कृत करने का भी प्रयत्न किया गया था।

पहली बार आपको सन् 1930-1932 तक दो वर्ष तक जेल में रखा गया। 1941 में भी सत्याग्रह करते हुए आप गिरफ्तार हुए। 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भी आपको मेरठ की जेल में रखा गया था। इसके अलावा आजादी के पूर्व 1936 के उ.प्र. असेम्बली-चुनाव में भी आप चुने गये थे; जबकि आजादी के बाद 1952 एवं 1957 में आप संसद-सदस्य के रूप में चुने गये।

कृषि-मामलों के विशेषज्ञ होने से आपने इस सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें लिखी एवं अनेक लेख भी लिखे। आपकी 'यू. पी. टिनेन्सी एक्ट' नामक पुस्तक अत्यधिक प्रसिद्ध हुई थी। आपने सेवा-निधि ट्रस्ट की स्थापना कर, समाज-सेवा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

आपने सहारनपुर सन्दर्भ (भाग 2) में ड . हरिदेव शर्मा को दिये एक साक्षात्कार में यह बात विशेषरूप से उल्लिखित की थी कि 'उनके कहने पर ही भारतीय संविधान के अनुच्छेद 31 में इस बात की व्यवस्था की गई थी।'

3. श्री भवानी अर्जुन खीमजी, जन्म-स्थान - खामगाँव (महा.)

आपका जन्म खामगाँव में हुआ था। श्री खीमजीभाई, कच्छ प्रान्त एवं व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के उद्देश्य से 'संविधान सभा' से जुड़े थे। कांग्रेस के निर्माण में आपका भारी योगदान था।

सन् 1930 के बहिष्कार आन्दोलन ने आपका जीवन ही बदल डाला था, उसके बाद आप राजनीति और सार्वजनिक कार्यों से विशेष संलग्न हो गये थे।

आपका रुई का बड़ा व्यापार था; आप तत्कालीन 'बम्बई क टन मर्चेण्ट्स एसोसिएशन' के अध्यक्ष, 'ईस्ट इण्डिया क टन एसोसिएशन' के निदेशक एवं अनेक दातव्य संस्थाओं के ट्रस्टी भी रहे थे; जब आपको सन् 1930 में बहिष्कार आन्दोलन के कारण गिरफ्तार किया गया था तो उससे रुई-बाजार में विशेष गतिरोध पैदा हो गया था, इसलिए आपको अविलम्ब रिहा भी कर दिया गया था।

आप सन् 1940 के व्यक्तिगत सत्याग्रह में आप एक वर्ष तक जेल

में रहे थे। 1942 में भी आपको दो वर्ष तक नजरबन्द रखा गया था। गाँधीजी और सरदार पटेल से आपके घनिष्ठ सम्बन्ध थे।

'जैन सन्देश' पाक्षिक-पत्रिका के राष्ट्रीय अंक में आपके विषय में लिखा गया था – **'गाँधीजी, आपके विचारों में दृढ़ निष्ठा, जबकि सरदार वल्लभभाई पटेल, आपमें अपने विचारों को क्रियान्वित करने के योग्य परखी हुई प्रतिभा पाते हैं।'**

4. श्री कुसुमकान्त जैन, जन्म-स्थान - थांदला, झाबुआ (म.प्र.)

आपका जन्म 23 जुलाई 1921 को म. प्र. के झाबुआ जिले में थांदला नामक स्थान पर हुआ था। आप संविधान सभा के सबसे कम उम्र के सदस्य थे। आपकी आरम्भिक शिक्षा धर्मदास जैन विद्यालय, थांदला में हुई थी। बचपन से ही आपका जीवन राष्ट्र-भक्ति से ओतप्रोत हो गया था और आपने खादी पहनने का व्रत ले लिया था। 1939-40 में आपको छह माह की सजा भी हो गई थी।

अगस्त क्रान्ति के दौरान आप भूमिगत हो गये थे। वेश बदलकर झाबुआ, रतलाम आदि में क्रान्ति की अलख जगाने के कारण आप मार्च 1943 में गिरफ्तार कर नजरबन्द कर दिये गये।

आदिवासियों में आपकी गहरी पैठ थी। 18 जनवरी 1948 को मन्त्रियों के शपथ-ग्रहण समारोह में आपने भी शपथ ली थी। आप सबसे कम उम्र के कैबिनेट मन्त्री बने थे। मध्य भारत प्रान्त में श्री लीलाधर जोशी मन्त्री-मण्डल में भी आप कैबिनेट मन्त्री बनाये गये थे।

आप संविधान सभा में झाबुआ, रतलाम आदि रियासतों के प्रतिनिधि के रूप में चुने गये और आपने मात्र 28 वर्ष की उम्र में यह गौरव हासिल किया था। 11 मार्च 1989 को महामहिम राष्ट्रपति आर. वेंकटरमन के द्वारा आपको सम्मानित किया गया था। 1992 में आपके नाम पर एक लोकोपकारी ट्रस्ट की भी स्थापना हुई थी। 9 अगस्त 1997 में आजादी की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर 'संविधान सभा' के जिन 10-12 जीवित-सदस्यों का सम्मान किया गया था, उनमें से आप भी एक थे।

5. श्री बलवन्तसिंह मेहता, जन्म-स्थान - उदयपुर (राज.)

आपका जन्म 8 फरवरी 1900 के दिन उदयपुर में एक खानदानी सामन्त परिवार में हुआ था। मात्र 15 वर्ष की उम्र से ही आपने अपनी वंश-परम्परा और सामन्ती-जीवन का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया था। 1915 में आप 'प्रताप सभा' के माध्यम से राजनीति में आये। 1938 में प्रजा-मण्डल आन्दोलन के कारण एक वर्ष तक जेल में रहे।

'भारत छोड़ो आन्दोलन' के दौरान पुनः आपको 21 अगस्त 1942 में गिरफ्तार कर डेढ़ वर्ष तक जेल में बन्द कर दिया गया था। मेवाड़ के आदिवासियों में आपकी गहरी पकड़ थी। 'भील आन्दोलन' के जनक श्री मोतीलाल तेजावत से आप काफी प्रभावित रहे। उदयपुर में 'वनवासी छात्रावास' और 'रैन बसेरा' के आप संस्थापक रहे हैं।

मेहताजी ने प्रारम्भिक जीवन में जैन विद्यालय में अध्ययन और अध्यापन किया था। प्राकृत एवं जैन विद्या के अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था आपने अनेक स्थानों पर कराई थी। इस प्रकार जैन समाज के लिए आपने काफी कार्य किये थे।

जीवन में एक विशिष्ट कार्य करने का यश भी आपको प्राप्त हुआ था। जब प्रान्तिय बँटवारे में आबू पर्वत गुजरात को दे दिया गया था तो 'संविधान सभा' में आपने तीखे तर्कों के प्रहार करके, नेहरूजी एवं सरदार पटेल से गहन मन्त्रणा करके, उसे वापस राजस्थान को दिलाने में आपने सफलता प्राप्त की थी। 1997 में आजादी की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर, संविधान सभा के जीवित सदस्यों के सम्मान-समारोह में आप भी विद्यमान थे।

हमारे राष्ट्रीय ध्वज-चिह्न-गान में विद्यमान जैन-तत्त्व[1]

''किसी भी दे ा के रा ट्रीय ध्वज, रा ट्रीय चिह्न, रा ट्रीय गान और

1. जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ,** पृ ठ 23-26; जैन संजय, **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृ ठ 22, एवं 9. आचार्य विद्यानन्द मुनि, **जैनधर्म, अहिंसा एवं महात्मा गांधी,** पृ ठ 26, के आधार पर

रा ट्रीय संविधान में उस दे ा की आत्मा का वास होता है; इनसे उस दे ा का निर्माण होता है।

● हमारे रा ट्रीय ध्वज के बीच में एक चक्र बना हुआ है, उसमें 24 तीलियाँ बनी हुई हैं, जो 24 तीर्थंकरों की प्रतीक हैं।

● हमारे रा ट्रीय चिह्न में सिंह की प्रतिकृति है, जो भगवान महावीर का सूचक है। इस चिह्न के नीचे 'सत्यमेव जयते' लिखा हुआ है, जो जैनधर्म के पाँच व्रतों में दूसरे क्रमांक पर है और द ा धर्मों में चौथे या पाँचवें क्रमांक पर आता है। जिनागम में इसका उल्लेख कहीं-कहीं चौथे क्रमांक पर तो कहीं-कहीं पाँचवें क्रमांक पर मिलता है।

* यह चिह्न, सम्राट् अ ोक के ासन का प्रतीक भी है। आपको यह जानकर आ चर्य होगा कि सम्राट् अ ोक, अपने आरम्भिक काल में जैन थे। उसके पिता, पितामह आदि भी जैन थे। बाद में वह बौद्ध हो गये थे।

* सम्राट् अशोक के उत्तराधिकारियों ने जैनधर्म की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। उसने अपने अधिकां ा िलालेखों में प्राकृत भा ा का प्रयोग किया है, जो विशेषरूप से जैनों की भाषा है।

* अहिंसा और महावीर के ासनवाले संस्कारों में पले अ ोक के हृदय में जैन तीर्थंकरों और जैनधर्म के प्रति बहुत सम्मान था। अहिंसा के संस्कारों के कारण ही कलिंग के युद्ध में भी ाण रक्तपात को देख कर, उसका हृदय तिलमिला गया था और उसने भवि य में युद्ध न करने की घो ाणा की थी।

* सम्भवतया उसने जब अपना कीर्तिस्तम्भ बनाया तो अनायास ही उसे भगवान महावीर के प्रतीक – सिंह की स्मृति हो आई हो और इसी कारण उसने चौबीस तीर्थंकरों के प्रतीक चौबीस आरोंवाले चक्र को भी उसमें बनवाया।

* इसी प्रकार उसके नीचे के भाग में भगवान ऋषभदेव, अजित-नाथ एवं सम्भवनाथ के चिह्न बैल, हाथी एवं घोड़ा भी प्रदर्शित हैं।

* हमारे रा ट्र-गान 'जन-गण-मन अधिनायक जय हे ....' इत्यादि में पाँच पद हैं। इसके दूसरे पद की दूसरी पंक्ति में 'जैन' ाब्द भी आता है –

अहरह तव आह्वान प्रचारित, सुनि तव उदार वाणी,
हिन्दू बौद्ध सिख **जैन** पारसिक, मुसलमान ख्रिस्तानी,
पूरब-प िचम आसे, तब सिंहासन पा ो;
प्रेमहार हय गाथा।

जन-गण ऐक्य विधायक, जय हे भारत-भाग्य-विधाता!
जय हे! जय हे!! जय हे!!! जय जय जय, जय हे!।।

* इस गीत में यह सिद्ध किया है कि हमारा दे ा लोकतन्त्रात्मक महान देश है। हमारे दे ा का संविधान संसार में सबसे अधिक लोकप्रिय और सबसे बड़ा है।

* प्रत्येक देश का संविधान, उसकी रीढ़ होता है। संविधान का अर्थ है – ासन की व्यवस्था का स्वरूप। हमारे दे ा में ासन के तीन अंग हैं –

* पहला अंग है – व्यवस्थापिका, जो कानून का निर्माण करती है।

* दूसरा अंग है – कार्यपालिका, जो कानून को लागू करती है।

* तीसरा अंग है – न्यायपालिका, जो कानून का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देती है।

भारतीय संविधान की हस्तलिखित प्रति में भी जैनत्व[1]

भारतीय संविधान के विभिन्न पहलुओं पर जैनधर्म के सिद्धान्तों का विशेष प्रभाव रहा है – रा ट्रीय प्रतीकों में जैनत्व के प्रतिबिम्बों का सहजता के साथ प्रयोग किया गया है तथा नागरिक के मूल अधिकारों एवं कर्तव्यों में सन्निहित जैन-जीवन-पद्धतियों के मूलभूत तत्त्वों का भी

1. जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ,** पृ ठ 28-29 के आधार पर

उसमें समावे ा किया गया है।

* हमारे दे ा के संविधान की मूल तीन प्रतियाँ हैं – एक हस्तलिखित प्रति अंग्रेजी में, एक हस्तलिखित प्रति हिन्दी में और एक मुद्रित प्रति भी अंग्रेजी में है।

* अंग्रेजी की पूरी प्रति चित्रों से सुसज्जित की गई है; उसमें चित्रों के माध्यम से क्रम ाः पूरा इतिहास द ााया गया है।

* इसके प्रथम पृ ठ पर मोहनजोदड़ो (मोहनजो दारो) से प्राप्त उस सील को द ााया गया है, जिस पर एक बैल अंकित है, जो हमारे प्रथम तीर्थंकर ऋ ाभदेव का चिह्न है।

* इसी प्रकार इसके पृ ठ 63 पर भगवान महावीर का चित्र अंकित है। इस चित्र के साथ लिखा है –

Jainism is another stream of Spiritual renaissance, which seeks to refine and sublimate man's conduct and emphasises Ahimsa, non-violence, as the means to achieve it. That became a potent weapon in the hands of Mahatma Gandhi in his political struggle against the British Empire.

अर्थात् जैनधर्म, आध्यात्मिक क्रान्ति की वह धारा है, जो मनु य के आचरण व व्यवहार को परि कृत या उदात्त करने की दि ाा में सक्रिय है। यह धारा, अहिंसा पर जोर देती है और इसे उदात्त चारित्र की प्राप्ति का साधन मानती है। ब्रिटि ा साम्राज्य के विरुद्ध राजनैतिक संघ ार्ा में यही अहिंसा, महात्मा गांधी के हाथों में एक ाक्ति ााली हथियार सिद्ध हुआ।

* इसके पृ ठ 154 पर महात्मा गाँधी को तिलक करती एक महिला प्रद ार्ित है, जो सम्भवतः गाँधीजी की दाण्डी यात्रा के समय का है। ध्यातव्य है कि गाँधीजी की दाण्डी यात्रा के समय महिलाओं का नेतृत्व श्रीमती सरलादेवी providing साराभाई देसाई (जैन) ने किया था।

ऐतिहासिक दृष्टि में भारत : एक प्राचीन लोकतन्त्रात्मक गणराज्य

आज से लगभग 44 वर्ष पूर्व ड. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर ने तीर्थंकर भगवान महावीर के 2500वें निर्वाणोत्सव के अवसर पर प्रकाशित अपनी पुस्तक में, पुराणों एवं इतिहास की साक्षी से, तीर्थंकर महावीर की जन्मभूमि को **गण-राज्य,** राजा चेटक को **वैशाली गण-तन्त्र के अध्यक्ष** एवं महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ को **कुण्डग्राम. कुण्डलपुर के शासक** के रूप में उल्लिखित करते हुए लिखा था –

"आज से 2572 वर्ष पूर्व (2500 + 72 वर्ष आयु) इसी भारतवर्ष में धन-धान्य परिपूर्ण, विशाल 'वैशाली' नगरी, **गणतन्त्र-शासन की केन्द्र** बनी हुई थी। अपने यात्रा-विवरणों में **चीनी यात्री ह्यूनसांग** ने वैशाली को कई मीलों में फैली हुई बड़ी ही सुन्दर नगरी स्वीकार किया है।

उस समय **गणतन्त्र के अध्यक्ष** थे राजा चेटक; उसी के अन्तर्गत कुण्डलपुर (कुण्डग्राम) नामक अत्यन्त मनोहर नगर था। प्रसिद्ध राज-नेता लिच्छवि राजा सिद्धार्थ, उसके सुयोग्य शासक थे। राजा सिद्धार्थ की पत्नी का नाम त्रिशला था। राजा सिद्धार्थ को अत्यन्त प्रिय होने के कारण उन्हें प्रियकारिणी भी कहा जाता था। .... वे महाराजा चेटक की सबसे बड़ी पुत्री थीं।

राजा सिद्धार्थ का वैशाली-गणतन्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। लिच्छवियों के नव गणों में एक नाथ (ज्ञातृ) वंश भी था। राजा सिद्धार्थ, इसी नाथ वंश के प्रसिद्ध क्षत्रिय राजा थे।"[1]

* इससे सिद्ध होता है कि जैन संविधान से प्रेरित होकर ही मानो भारत के संविधान की उद्दे ािका में भारत को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बताते हुए कहा है –

"हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, समाजवादी, पन्थ-निरपेक्ष, लोक-तन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के

1. **तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,** पृष्ठ 42

लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक (दृष्टि से) न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करनेवाली बन्धुता बढ़ाने के लिए, दृढ़-संकल्प होकर, अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई. (तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतत् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधि-नियमित और आत्मार्पित करते हैं।''[1]

'जियो और जीने दो' का पावन-सन्देश[2]

हमारे भारतीय संविधान में जैनधर्म और द र्न में सन्निहित भावनाओं का समावे । यत्र-तत्र-सर्वत्र दृ टिगोचर होता है —

* सुप्रसिद्ध संविधान वि ोज्ञ डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी ने भगवान महावीर के 2600वें जन्म-जयन्ती व ि के समापन के अवसर पर 25 अप्रैल 2002 को ठीक ही कहा था कि **'भगवान महावीर ने (समग्र) विश्व को मनुष्यता का संविधान दिया है।'**

* **धारा 21** — हमारा संविधान **'जियो और जीने दो'** का पावन-सन्दे । प्रदान करता है। इस उक्ति के प्रथम अं । **'जियो'** का सन्दे । प्रदान करनेवाली **धारा 21, 'प्राण और दैहिक स्वतन्त्रता पूर्वक जीने का अधिकार'** प्रदान करती है।

धारा 51 — इसी प्रकार **'जीने दो'** का सन्दे । प्रदान करनेवाली **धारा 51 (छ) एवं (झ), 'प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव और हिंसा से दूर रहने का विधान'** करती है।

---

1. जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ,** पृ ठ 38 के आधार पर
2. आगे देखो, **वही,** पृ ठ 37-50 के आधार पर

जैनधर्म में भी पन्थवाद और साम्प्रदायिकता का निषेध

''जिस प्रकार जैनधर्म में पन्थवाद और साम्प्रदायिकता की भावना का निराकरण, मानसिक अहिंसा के सिद्धान्त **'अनेकान्त और स्याद्वाद'** के माध्यम से प्रद ित किया गया है, क्योंकि यहाँ धर्म को **'वत्थुसहावो धम्मो'** अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है — ऐसा निरूपित किया है; उसी प्रकार यहाँ (भारतीय संविधान में) भारत को पन्थ-निरपेक्ष कहा गया है। साथ ही विचार, अभिव्यक्ति, वि वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता भी इसी उद्दे िका में वर्णित है।''

* अनुच्छेद 15 द्वारा धर्म, मूल वं ा, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर विभेद करने का नि ोध किया गया है।

* अनुच्छेद 16 द्वारा लोक-नियोजन के वि ाय में अवसर की समानता का प्रावधान किया गया है।

* अनुच्छेद 25, हमें अन्तःकरण की स्वतन्त्रता और धर्म के अबाधरूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

यद्यपि इस अनुच्छेद के स्प टीकरण 2 के अन्तर्गत बौद्ध और जैनों को हिन्दुओं में समावि ट किया गया है, तथापि गत व ि 2002 में गठित 'संविधान समीक्षा आयोग' ने यह संस्तुति की है कि इस स्प टीकरण को हटा देना चाहिए।

सार्वजनिक उपक्रमों के द्वारा अहिंसा और शान्ति का उपदेश[१४]

इस वि ाय में अनुच्छेद 49 कहता है कि ऐसे स्मारकों, स्थानों या वस्तुओं का, लुंठन, विरूपण, विना ा, अपसारण, व्ययन या निर्यात से संरक्षण करना एवं उनकी यथास्थिति बनाए रखना, सरकार की बाध्यता है। हमें चाहिए कि हम इसका पूरा लाभ उठाएँ।

जैन संस्कृति ने अपने जिनालयों के माध्यम से अहिंसा और वि व- ाान्ति का उपदे । दिया है। आरम्भ से ही रा ट्रीय और धार्मिक

महत्त्व के कलात्मक मन्दिरों, स्मारकों, जिनबिम्बों का निर्माण आदि जैन समाज करता रहा है।

यद्यपि रा ट्रीय महत्त्व के अनेक स्मारकों को ाासन ने अपने हाथ में ले लिया है, किन्तु उनकी व्यवस्था व द ाा कैसी दयनीय हो चुकी है ? यह बताने की आव यकता नहीं है।

जीवमात्र के प्रति दया : भारतीय नागरिकों का कर्तव्य

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 51(क), 51(छ), 51(झ) 47, 48, 48(क) की अनेक उप-धाराओं में अहिंसा और जैनत्व की भावना समाहित की गई है।

अनुच्छेद 51(क), इस धारा को भारतीय नागरिकों के मूल कर्तव्य के अन्तर्गत समाहित किया गया है।

यह अनुच्छेद, जहाँ रा ट्र पर मर मिटने की प्रेरणा देता है, वहीं पर्यावरण संरक्षण के दृ टि से प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखने का भी विधान करता है।

अहिंसा का मात्र धार्मिक दृ टि से ही महत्त्व नहीं है, बल्कि राष्ट्र-प्रेम की दृष्टि से भी यह हमारा परम कर्तव्य है।

इस अनुच्छेद का मूल पाठ निम्न प्रकार है –

अनुच्छेद 51 (क)

मूल कर्तव्य

भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

1. संविधान का पालन करे और उसके आद ाों, संस्थाओं, रा ट्रध्वज और रा ट्रगान का आदर करे।

2. स्वतन्त्रता के लिए हमारे रा ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आद ाों को हृदय में संजाए रखे और उसका पालन करे।

3. भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करें और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे।

4. दे ा की रक्षा करे और आह्वान किये जाने पर रा ट्र की सेवा करे।

5. भारत के सभी लोगों में परस्पर समरसता और समान-भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे; जो धर्म, भा ाा और प्रदे ा या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो।

6. हमारी सामासिक (समरसता-प्रधान) संस्कृति की गौरव ाली परम्परा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे।

7. ऐसी प्रथाओं का त्याग करें, जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध है।

8. **प्राकृतिक पर्यावरण, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव आते हैं, उनकी रक्षा करें और उसका (प्राकृतिक पर्यावरण का) संवर्धन करें तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखें।**

9. वैज्ञानिक दृ टिकोण, मानवतावाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।

10. सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे।

11. व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्क ा की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे, जिससे रा ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू ले।

संविधान में जैनत्व की प्रतीक : पशु–संरक्षण की भावना

भारतीय संस्कृति में गाय को माता का स्थान दिया गया है। प्राचीन भारत में गौ-धन से ही समृद्धि आंकी जाती थी। जीवों के प्रति दया और करुणा हमारी संस्कृति के प्रमुख अंग रहे हैं। यह सब भारतीय संविधान को प्रभावित करनेवाले जैनत्व के प्रतीक अहिंसाप्रधान भावनात्मक बिन्दु ही हैं।

आज मूक प्राणियों का वध न केवल माँसाहार के लिए किया जा रहा है, अपितु फै ान-परस्ती और विदे ाी मुद्रा कमाने के लिए भी मूक प्राणियों की हत्या की जा रही है।

वैज्ञानिकों के अनुसार भूकम्प का एक कारण प ु-वध भी है। प ु-वध के कारण हमारी प्रकृति का सन्तुलन बिगड़ गया है। सरकार को भी विदे ी मुद्रा का लालच कत्लखाने के लिए उकसाता रहता है। लगभग हर पार्टी वादा करती है कि उनके नेतृत्व मे चलने वाली सरकार के राज मे गो-वध बन्द हो जाएगा, लेकिन होता कुछ नहीं।

गौ-वं ा से हमें न केवल घी, दूध, दही आदि मिलता है, अपितु हमारी कृ ि का मूलाधार भी यही है। उसके गोबर और मूत्र तक उपयोगी हैं। सम्राट् अकबर ने भी गो-वध पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

जुलाई, 2002 के अन्तिम सप्ताह में आई 'गो प ु आयोग' की रिपोर्ट में आयोग ने भारत सरकार से सिफारि ा की है कि संविधान में सं ोधन कर, गो-रक्षा को मौलिक अधिकारों की सूची में ामिल किया जाए। इस बात के लिए भी संविधान में सं ोधन हो कि संसद एक केन्द्रीय कानून बनाए, जिससे गो-वध पर कानूनी रोक लगाई जा सके। आयोग ने गाय को रा ट्रीय प्राणी घो ित करने की सिफारि ा करते हुए यह भी कहा है कि गो-वध को संवैधानिक अपराध घो ित किया जाए।

हमारे संविधान में प्राणिमात्र के प्रति करुणा के साथ साथ गौ-वं ा के वध का प्रति ोध, सरकार की जिम्मेदारी है; परन्तु जो परिस्थिति है, उससे पाठक भलीभाँति परिचित हैं।

जैनाचार्य, करुणा और दया की प्रतिमूर्ति होते हैं। पिछले कुछ व ों से उन्होंने गो-वं ा के संरक्षण का बीडा उठाया है, वि ोातः मध्यप्रदे ा, उत्तरप्रदे ा, छत्तीसगढ़ और राजस्थान में हजारों की संख्या में गौ- ाालायें जैनाचार्यों की प्रेरणा और उपदे ा से संचालित हैं।

माँसाहार का निर्यात रोकने के लिए भी जैन समाज ने अहिंसक आन्दोलन चलाकर जन-जागरण किया है।

आज प्रत्येक भारतीय, विशेषतः अहिंसक समाज का कर्तव्य है कि सरकार को गो-वध पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए बाध्य करें तथा

इससे सम्बन्धित भारतीय संविधान के **अनुच्छेद 51 छ** व **झ** की ओर उसका ध्यान आक ित करे।

इस वि ाय में अन्य अनुच्छेद निम्न हैं –

अनुच्छेद 48

कृषि और पशु–पालन का संगठन

राज्य, कृ ि और प ु-पालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने का प्रयास करेगा और वि ि टतया गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक प ुओं की नस्लों के परिरक्षण और सुधार के लिए उनके वध का प्रति ोध करने के लिए कदम उठायेगा।

अनुच्छेद 48 क

पर्यावरण का संरक्षण–संवर्धन तथा वन व वन्य–जीवों की रक्षा

राज्य, दे ा के पर्यावरण के संरक्षण और संवर्धन का और वन तथा वन्य-जीवों की रक्षा करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 47

पोषाहार और जीवन–स्तर को ऊँचा करने और लोक–स्वास्थ्य का सुधार करने हेतु राज्य का कर्तव्य

राज्य, अपने लोगों के पो ाहार-स्तर और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने और लोक-स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में मानेगा और राज्य, वि ि टतया मादक पेयों और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक औ ाधियों के औ ाधीय प्रयोजनों से भिन्न, उपयोग का प्रति ोध करने का प्रयास करेगा।

द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव के अनुसार संविधान में परिवर्तन अनिवार्य

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा को सम्बोधित करते हुए परिवर्तन के इस अकाट्य नियम को स्वीकार करते हुए कहा था –

''संविधान, यदि अपरिवर्तन ील और गतिहीन है तो चाहे वह कितना ही अच्छा और पूर्ण क्यों न हो, उपयोगी नहीं रह सकता, वह पुराना पड़ जाता है और धीरे-धीरे अनुपयोगी हो जाता है। जीवन्त-संविधान को तो अनिवार्यतः विकास ील होना चाहिए; उसमें अनुकूल-ीलता, लचीलापन और परिवर्तन- ीलता के गुण होने चाहिए।''

जैन संविधान में विद्यमान विज्ञान को दिशा-प्रदायक तत्त्व

धर्म के सम्बन्ध में हमारा दृ टिकोण आज के रूढ़िवादी, अन्ध-वि वासी, एकान्ती, जिद्दी, धार्मिकों के कारण बदनामी की हद तक जा चुका है। इन धार्मिकों की नासमझी के कारण आज का मानव, धर्म से ही दूर होने लगा है। उसे लगता है कि 'पता नहीं, यह धर्म क्या बला है? जिसके कारण मानव-संस्कृति एवं सभ्यता का विकास अवरुद्ध हो गया है;' अतः औद्योगिक क्रान्ति के इस युग में पढ़ा-लिखा ि ाक्षित वर्ग यह मानने लगा है कि धर्म की तुलना में आधुनिक विज्ञान, मानव-सभ्यता को विकास-पथ पर अधिक अग्रसर कर सकता है।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो विज्ञान, एक नीति-निरपेक्ष ाक्ति है, क्योंकि विज्ञान, भौतिक-प्रगति तो प्रदान कर सकता है, किन्तु उसका उपयोग कैसे किया जाए ? – इसकी उपयुक्त दि ाा प्रदान करने में वह सक्षम नहीं है, उसके लिए धर्म की ही शरण अनिवार्य है।

जैसे, विज्ञान द्वारा अग्नि का उत्पादन तो सम्भव हुआ है, परन्तु उसका उपयोग, भोजन पकाने में किया जाए या घर-जंगल आदि जलाने में – ऐसे प्र ास्त-अप्र ास्त कार्य का विवेक प्रदान करने में विज्ञान समर्थ नहीं है, उसके लिए तो 'सच्चा धर्म' ही सच्चा मार्गद ान कर सकता है। कहा भी है –

विद्या विवादाय, धनं मदाय, शक्तिः परे ाां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्, ज्ञानाय दानाय च परिरक्षणाय।।

अर्थात् दुर्जन के हाथ में पड़ जाने पर विद्या, कलह-कारिणी होती है; धन-सम्पत्ति, अहंकार का कारण बनती है; और ाारीरिक- ाक्ति, दूसरों को पीड़ित करने के लिए हो जाती है; परन्तु सज्जन पुरु ा के हाथों में आने पर, ये तीनों ाुभकारी फल देते हैं अर्थात् **विद्या, ज्ञान का संवर्धन करती है; धन, साधन-विहीनों को दान देने का साधन बनता है; और शारीरिक-शक्ति, असमर्थों की रक्षा करने में काम आती है।**

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विज्ञान की ाक्ति अपूर्व है, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु उसके उपयोग के लिए भी विवेकपूर्ण दि ाा-निर्दे ा 'धर्म' ही कर सकता है।

जैन-समाज को धर्म पर आधारित अल्पसंख्यक का दर्जा

जैन-समाज की इस पृथक् विचारधारा को दृ टिगत रखते हुए उसे धार्मिक आधार पर रा ट्रीय स्तर पर अल्पसंख्यक का दर्जा प्राप्त करने का भी प्रयत्न अनेक वर्षों से किया किया जा रहा था, **दिनांक 21 जनवरी 2014 को केन्द्र सरकार ने उसे अल्पसंख्यक का दर्जा देने का फैसला कर लिया है,** जबकि भारत के निम्न विभिन्न प्रदे ा-सरकारों द्वारा पहले से ही अल्पसंख्यक का दर्जा दिया जा चुका है –

* **21.01.2014 को केन्द्र सरकार द्वारा**
* 17.09.1994 को कर्नाटक सरकार द्वारा
* 09.05.2001 को मध्यप्रदे ा सरकार द्वारा
* 04.12.2002 को छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा
* 09.03.2003 को उत्तरप्रदे ा सरकार द्वारा
* 09.09.2003 को राजस्थान सरकार द्वारा
* 07.10.2003 को उत्तरांचल सरकार द्वारा
* 07.05.2004 को महारा ट्र सरकार द्वारा
* 07.09.2007 को प िचम बंगाल सरकार द्वारा
* 04.06.2008 को दिल्ली सरकार द्वारा
* **08.05.2016 को गुजरात सरकार द्वारा**

अल्पसंख्यक घोषित होने से जैनों को प्राप्त होनेवाले अधिकार[5]

यद्यपि किन्हीं विशेष प्रावधानों के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को प्राप्त होनेवाले अधिकारों में भी अपवाद सम्भव हैं, तथापि सामान्य परिस्थिति में तो वे प्राप्त होंगे ही; अतः सामान्य परिस्थिति में प्राप्त होनेवाले वे अधिकार निम्न प्रकार हैं –

1. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 29-30 के उपबन्धों के अनुसार जैन-धर्म-भाषा-संस्कृति की रक्षा करने का अधिकार

2. जैन समाज द्वारा स्थापित एवं संचालित शिक्षण संस्थाओं में पढ़ाई करने व कराने के लिए जैनधर्मावलम्बियों को स्वतन्त्र अधिकार

3. जैनधर्मावलम्बियों की धार्मिक संस्थाओं, मन्दिरों, तीर्थस्थानों व ट्रस्टों का सरकारीकरण या अधिग्रहण नहीं किया जा सकेगा।

4. जैनधर्मावलम्बियों के द्वारा संचालित ट्रस्टों की सम्पत्ति को किराया-नियन्त्रण-अधिनियम से भी मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे, जिससे मन्दिर के मकान, दुकान आदि को आसानी से खाली कराया जा सकेगा।

5. अल्पसंख्यक-वित्त-आयोग से व्यवसाय, उच्च व तकनीकी शिक्षा के लिए बहुत कम ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध हो सकेगा।

6. यदि भविष्य में केन्द्र एवं राज्य सरकारें, अल्पसंख्यकों को सरकारी नौकरियों में व राजनैतिक पदों पर एवं चुनाव में उम्मीदवार होने पर आरक्षण की सुविधा प्रदान करती है तो यह लाभ, जैनधर्मावलम्बियों भी प्राप्त हो सकेगा।

7. जैनधर्मावलम्बियों के द्वारा स्थापित एवं संचालित शिक्षण संस्थाओं में जैन विद्यार्थियों के लिए 50 प्रतिशत सीटें आरक्षित की जा सकेंगी।

8. जैनधर्मावलम्बी, अपनी प्राचीन संस्कृति एवं पुरातत्त्व का संरक्षण कर सकेंगी।

5. श्री भागचन्द जैन एडवोकेट, **सरिता** (मासिक), अक्टूबर 2003 एवं जस्टिस श्री पानाचन्द जैन, जयपुर, वर्द्धमान सन्देश, जनवरी 2014 के आधार पर

9. जैनधर्मावलम्बियों को बहुसंख्यक समुदाय के द्वारा प्रताड़ित किये जाने की स्थिति में सरकार जैनत्व की रक्षा करेगी।

10. जैन समुदाय के द्वारा संचालित जिन संस्थाओं पर कानून की आड़ में बहुसंख्यकों ने कब्जा जमा रखा है, उनसे मुक्ति मिलेगी।

11. जैनधर्मावलम्बियों के द्वारा पुण्यार्थ, प्राणी-सेवार्थ, शिक्षार्थ हेतु दान से एकत्रित किया गया धन, कर से मुक्त होगा।

12. जैनधर्मावलम्बियों के द्वारा स्थापित एवं नियन्त्रित संस्थाओं में जैनधर्म-सम्बन्धी प्रार्थना एवं स्तुति की जा सकेगी।

13. जैन समाज के प्रतिभावान् अभ्यर्थियों को बेरोजगारी से मुक्ति मिल सकेगी।

14. जैन मन्दिरों और शिक्षण संस्थाओं के प्रबन्ध की जिम्मेदारी जैनियों के हाथ में हो जाएगी।

15. शिक्षण और अन्य संस्थान स्थापित करने और उनके संचालन में सरकारी हस्तक्षेप कम हो जाएगा।

16. विश्वविद्यालयों द्वारा संचालित किये जानेवाले कलेजों में अल्पसंख्यक समुदाय के छात्रों को फीस नहीं देनी पड़ेगी।

17. जैनधर्म के छात्रों को प्रशासनिक सेवाओं और व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के प्रशिक्षण के लिए 50 लाख रुपये तक का अनुदान मिल सकेगा।

18. जैन समाज को स्कूल, कलेज, छात्रावास, शोध या प्रशिक्षण संस्थान खोलने के लिए सरकार सभी सुविधाएँ उपलब्ध कराएगी और रियायती दरों पर जमीन देगी।

उक्त अधिकारों के अतिरिक्त अल्पसंख्यक आयोग भी अल्पसंख्यक समाज के हितार्थ समय-समय पर विभिन्न निर्देश जारी करता रहता है तथा उसका पक्ष भी सरकार के समक्ष रखता है; अतः हम हमारी कोई वैधानिक माँग आयोग के समक्ष रख सकते हैं।

सामान्यतया हम यह समझ सकते हैं कि जो भी लाभ अन्य अल्पसंख्यकों को प्राप्त हैं, वे सभी जैनों को भी प्राप्त हैं, या हो सकते हैं। हम वैधानिक तरीके से अपनी माँग उठाएँ।

शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक-नैतिक शिक्षा-सम्बन्धी स्वतन्त्रता

* हमारी जैन संस्कृति, जितनी प्राचीन है, उतनी ही समृद्ध भी है। हमने लोक-हित की अनेक संस्थाएँ बनाई हैं। हमारा संविधान, हमें ऐसी संस्थाओं की स्थापना और संचालन का अधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद 26 में स्प ट उल्लेख है कि लोक-व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर, कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय या उसका अनुभाग, ऐसी संस्थाओं का संचालन कर सकता है।

* एक और महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद का यहाँ उल्लेख करना प्रासंगिक है कि हमारे जैन समाज ने अनेक ि क्षण संस्थाओं की स्थापना की है। अरबों रुपये का व्यय, इन ि क्षण संस्थाओं पर होता है, किन्तु इनमें धार्मिक पढ़ाई या तो होती नहीं या अल्प होती है। जब पदाधिकारियों से इस सन्दर्भ में चर्चा की जाती है तो उनका एक ही जवाब होता है कि संविधान हमें ऐसा करने की अनुमति नहीं देता।

जबकि संविधान कुछ ार्तों के साथ ऐसी अनुमति देता है। प्रथमतः यदि संस्था, सरकार से अनुदान नहीं ले रही है तो वह ऐसी ि क्षा देने के लिए स्वतन्त्र है। आज तमाम हिन्दू, सिख, जैन, मुस्लिम, क्रि चियन संस्थाएँ ऐसी ि क्षा दे रही हैं।

राज्य से सहायता प्राप्त संस्थाओं को धार्मिक उपासना और धार्मिक स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में अनुच्छेद 28 इस प्रकार है –

* राज्य-निधि से पूर्णतः पो ित किसी ि क्षा-संस्था में कोई धार्मिक ि क्षा नहीं दी जाएगी।

* उक्त बात ऐसी ि क्षा संस्था पर लागू नहीं होगी; जिसका प्र ाासन, राज्य करता है; किन्तु **जो किसी ऐसे विन्यास या न्यास के आधीन स्थापित हुई है, जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है, वहाँ वह दी जा सकती है।**

* राज्य से मान्यता-प्राप्त या राज्य-निधि से सहायता पानेवाली ि क्षा संस्था में उपस्थित होनेवाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में या उससे संलग्न स्थान में की जानेवाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए तब तक बाध्य नहीं किया जाएगा, जब तक कि उस व्यक्ति ने या यदि वह अवयस्क है, जो उसके संरक्षक ने इसके लिए अपनी सहमति नहीं दे दी है। इसका अर्थ यह हुआ –

1. राज्य, किसी विशेष धार्मिक शिक्षा के लिए संस्था की स्थापना कर, उसका पोषण कर सकता है।

2. यदि व्यक्ति की पूर्वानुमति है तो धार्मिक उपासना में व्यक्ति को आने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

3. राज्य-निधि से सहायता प्राप्त शिक्षा संस्था में धार्मिक शिक्षा दी जा सकती है।

धार्मिक संस्थाओं को प्राप्त धन पर करों में छूट का प्रावधान

* जैन समाज, दान देने में अग्रणी समाज रहा है। समाज, अनेक धर्मायतनों का संचालन करता है। मन्दिरों और धर्मायतनों और धार्मिक कार्यों/सिद्धान्तों की अभिवृद्धि के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना भी इस समाज ने की है। संविधान के अनुच्छेद 27 के अनुसार ऐसी संस्थाओं को प्राप्त धन पर कर नहीं लगाया जा सकता।

धर्म, परिभाषा नहीं, प्रयोग है; और जीवन है उसकी प्रयोगशाला

इस अधिकार के अन्त में मैं ड. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित निम्न पंक्तियों को उद्धृत करना चाहता हूँ –

"भगवान महावीर ने सदा ही अनेकान्तात्मक विचार, स्याद्वादमयी वाणी और अहिंसात्मक आचरण पर जोर दिया है। जैन आचरण, छुआ-छूतमूलक न होकर, जिसमें हिंसा न हो या कम से कम हिंसा हो, इसके

आधार पर निश्चित किये गये हैं। जैसे, पानी छानकर काम में लेना, रात्रि में भोजन नहीं करना, मद्य-माँसादि का सेवन नहीं करना आदि समस्त आचरण, मुख्यतः अहिंसा को लक्ष्य में रखकर अपनाये गये हैं।

भगवान महावीर ने 'अहिंसा को परम धर्म' घोषित किया है। लेकिन सामाजिक जीवन में विषमता रहते अहिंसा पनप नहीं सकती; अतः अहिंसा के सामाजिक प्रयोग के लिए जीवन में समन्वय वृत्ति, सह अस्तित्व की भावना एवं सहिष्णुता अति आवश्यक है। इसीलिए हिंसा को कम करने या अहिंसा पर बल देने के लिए ही सह अस्तित्व, सहिष्णुता और समताभाव पर जोर दिया।

सहिष्णुता और समताभाव, तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता, जब तक कि आग्रह समाप्त नहीं हो जाता; क्योंकि आग्रह, विग्रह को जन्म देता है, प्राणी को असहिष्णु बना देता है। धार्मिक असहिष्णुता से भी विश्व में बहुत कलह और रक्तपात हुआ है, इतिहास इसका साक्षी है। जब-जब धार्मिक आग्रह सहिष्णुता की सीमा को लांघ जाता है, तब-तब वह अपने प्रचार-प्रसार के लिए हिंसा का आश्रय लेने लगता है।

धर्म का यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि उसके नाम पर रक्तपात हुए और वह भी रक्तपात के कारण विश्व में घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा।......... भगवान महावीर ने उक्त तथ्य को भली प्रकार समझा था, अतः उन्होंने साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता पर पूरा-पूरा जोर दिया।

सहिष्णुता के बिना सह-अस्तित्व सम्भव नहीं है; क्योंकि संसार में अनन्त प्राणी हैं और उन्हें इस लोक में साथ-साथ ही रहना है। यदि हम सब ने एक-दूसरे के अस्तित्व को चुनौती दिये बिना रहना नहीं सीखा तो हमें निरन्तर अस्तित्व के संघर्ष में जुटे रहना होगा।

संघर्ष, अशान्ति का कारण है और उसमें हिंसा अनिवार्य है। हिंसा, प्रतिहिंसा को जन्म देती है। इस प्रकार हिंसा-प्रतिहिंसा का कभी समाप्त नहीं होनेवाला चक्र चलता रहता है। यदि हम शान्ति से रहना

चाहते हैं तो हमें दूसरों के अस्तित्व के प्रति सहनशील बनना होगा।

आज हमने मानव-मानव के बीच अनेक दीवारें खड़ी कर ली हैं। ये दीवारें प्राकृतिक न होकर हमारे द्वारा ही खड़ी की गई हैं। ये दीवारें रंगभेद, वर्णभेद, जातिभेद, कुलभेद, देश व प्रान्तीय भेद आदि की हैं।

यही कारण है कि आज सारे विश्व में एक तनाव का वातावरण है। एक देश, दूसरे देश से शंकित है और एक प्रान्त, दूसरे प्रान्त से।. .... इस प्रकार सभी एक-दूसरे के प्रति तनाव लेकर जी रहे हैं। तनाव से सारे विश्व का वातावरण एक घुटन का वातावरण बन रहा है।

वास्तविक धर्म वही है, जो इस तनाव व घुटन को समाप्त करे या कम करे। तनावों से वातावरण विषाक्त बनता है और विषाक्त वातावरण मानसिक शान्ति-भंग कर देता है।

इस सम्बन्ध में लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष माननीय अनन्तशयनम् अय्यंगार लिखते हैं – जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भगवान महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है, क्योंकि जैनधर्म का तत्त्वज्ञान, अनेकान्त पर आधारित है और जैनधर्म का आचार, अहिंसा पर प्रतिष्ठापित है। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्धश्रद्धा रखकर चलनेवाला सम्प्रदाय नहीं है, **वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है।**

प्रत्येक सिद्धान्त तभी मान्य होता है, जब वह प्रयोगों पर खरा उतरे। **धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है और जीवन है धर्म की प्रयोग-शाला।** तीर्थंकर भगवान महावीर ने धर्म की परिभाषाएँ नहीं रटी थीं, उसका सही रूप समझ कर, अनुभव करके प्रयोग किया था। .... वे स्वयं इसी मार्ग पर चलकर, अनन्त सुखी वीतरागी-सर्वज्ञ महावीर बने और जगत् को भी यही सन्मार्ग बता गये हैं। **उनका उपदेश, भक्त नहीं, बल्कि भगवान बनने के लिए प्रेरित करता है।** *****

---

1. **तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,** पृष्ठ 175-176

द्वितीय अध्याय

जैन संविधान

आज भौतिकता के युग में जैन समाज भी अपने संविधान को भूलता जा रहा है, अतः उसे भी 'जैन संविधान' के मूल्यों से परिचित कराने की अत्यन्त आव यकता है। सामान्य मनु य, अपनी सुविधा के अनुसार कार्य करता है, दूसरों के हित-अहित का विचार नहीं करता; क्योंकि वह जैन समाज की शास्त्र-विहित नि ोधाज्ञाओं से परिचित नहीं हैं, इसी कारण वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है; अतः उसको **अपराधों का वास्तविक एहसास करा कर, अपराधों की निवृत्ति हेतु आचार-शुद्धि कराना ही प्रायश्चित्त-विधान का मुख्य उद्देश्य है।**

जैन संविधान की प्रासंगिकता

यद्यपि जैनाचार्यों ने श्रद्धावान श्रावक, व्रती श्रावक एवं महाव्रती श्रमणों सम्बन्धी 'जैन संविधान' का प्रतिपादन तो स्पष्टतया किया है; तथापि जिनागम में विद्यमान तत्त्वों के आधार पर आज इसे विस्तृत करते हुए जन-जन का विषय बनाने की आवश्यकता है। साथ ही इसके माध्यम से समाज को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत करने की जरूरत महसूस हो रही है।

जिनागम में वर्णित इस 'जैन संविधान' को प्रका । में लाना, आज इसलिए भी प्रासंगिक प्रतीत हो रहा है; क्योंकि इस वि ाय पर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अभी तक कोई ोध-कार्य नहीं हुआ है। 'जैन संविधान' को मात्र ास्त्रों की ोभा बनाकर नहीं, बल्कि वह जन-जन के कल्याण में किस प्रकार उपयोगी बने – यह विचार करना जरूरी है।

आज समाज ही क्या? प्रत्येक व्यक्ति एवं परिवार, सब अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र रह कर मनमानी करना चाहते हैं,

उसका प्रतिफल समाज को भुगतना पड़ रहा है। हर परिवार में धर्म-पालन, जमीन-जायदाद, पारिवारिक रीति-नीति, िक्षा, व्यापार आदि को लेकर लड़ाई-झगड़े चलते ही रहते हैं, जिसके कारण व्यक्ति के मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं धार्मिक मूल्यों में कमी आ रही है।

जो इन्द्रियों को जीते और जिन का अनुयायी हो, उसे **जैन** कहते हैं; लेकिन आज जैनी, अपने धर्म के संविधान को भूलते जा रहे हैं, अतः उसका उद्‌घाटन करने की आव यकता है; इसलिए इस ोध-कार्य के माध्यम से यह प्रयास किया जा रहा है कि इसके द्वारा मात्र जैन समाज की उन्नति ही नहीं, वरन् गाँव, शहर, प्रदे ा, रा ट्र एवं सम्पूर्ण जगत् की उन्नति की भी नींव रखी जाए।

गांधीजी ने जैनधर्म के मात्र एक अहिंसा-सिद्धान्त को अपनाया, जिससे सारा दे ा आजाद हो गया तो क्या हमारा कर्तव्य नहीं बनता कि हम जैनधर्म के अन्य सिद्धान्त; जैसे, अनेकान्त-स्याद्वाद, अपरिग्रह या परिग्रह-परिमाण, अकर्तृत्व, नयवाद, वस्तु-स्वातन्त्र्य, सत्य, शील आदि को प्रत्येक व्यक्ति, घर-कुटुम्ब, दे ा-विदे ा में भी प्रचारित करें।

मनु य, एक सामाजिक प्राणी है, उसकी उन्नति का कारण समाज की कानून-व्यवस्था है; क्योंकि जिस समाज का कानून जितना स ाक्त होता है, उस समाज का व्यक्ति उतना ही अनु ाासित होता है और अनु ाासित जीवन; व्यक्ति, परिवार, समाज, दे ा और रा ट्र की उन्नति में कारण बनता है – यह निर्विवाद सत्य है।

जैन संविधान : सर्वत्र एक रामबाण अचूक उपाय

आज भौतिकता के युग में वि ाय-भोगों की पूर्ति करने पर वि ो ा ध्यान दिया जा रहा है। नैतिकता एवं सदाचार के लोप हो जाने के कारण समाज में भी अनाचारी वृत्तियाँ पनप रही हैं, उसे दूर करने हेतु **'जैन संविधान'**, एक रामबाण अचूक उपाय है। समाज में जो अपराध होते हैं, उनके ामन के लिए दण्ड-संहिता का वर्णन, जिनागम में मिलता है, मात्र उन्हें प्रका ा में लाने की आव यकता है।

ध्यान रहे कि जैनधर्म में प्रायि चत्त का निर्णय एवं क्रियान्वयन, प्राणियों के अपराधों की 'क्रिया, परिणाम और अभिप्राय'[1] की गम्भीरता अर्थात् तीव्रता-मन्दता के आधार पर किया जाता है, जिसमें कुछ सामान्य पाप, जो अभिप्रायपूर्वक जान-बूझ कर तो न किये गये हों, अबुद्धिपूर्वक लग गये हों – ऐसे क्रियामात्र पाप केवल आत्म-ग्लानि करने से ही दूर हो जाते हैं; जबकि कुछ विशेष पाप, जो प्रमाद आदि के निमित्त से लग जाते हैं, उन्हें उपवासादि तपों से दूर किया जाता है; लेकिन जिन पापों को अभिप्रायपूर्वक व्रत आदि की अवहेलना करते हुए किया जाता है, उन्हें गुरु के सम्मुख सम्यक् आलोचना अर्थात् सम्पूर्ण विवरण प्रगट करके, उनके निर्देशानुसार दूर किया जाता है।

जिनागम में वर्णित प्रायश्चित्त-स्वरूप किये जाने वाले सामायिक, आलोचना, प्रतिक्रमण, तपश्चरण आदि क्रियाओं से मन ाान्त होता है, उससे सन्तो ामय जीवन-यापन होकर, आत्मसाधना के बल से इहलोक -परलोक में ाान्ति और सुख का अनुभव करते हुए उस व्यक्ति के जीवन से अपराधों से निवृत्ति हो जाती है। अपराधों की निवृत्ति करना ही हमारा प्रयोजन भी है, अपराधी को कष्ट देना या उसे प्रताड़ित करना, जिनधर्म का अभीष्ट कभी नहीं है।

इस प्रकार यद्यपि श्रावकाचार एवं श्रमणाचार में जब अभिप्रायपूर्वक प्रमादसहित ािथिलाचार होता है तो वह अपराध या दोष, विशेष श्रेणी का माना जाता है; अतः उस अपराध की निवृत्ति के लिए योग्य एवं उपयुक्त आचार्य के समक्ष निवेदन किया जाता है और तब आचार्य, उन्हें अपराध के अनुसार जो उचित प्रायि चत्त-विधि होती है, उसका पालन कराके उस श्रावक या श्रमण को ाुद्ध करते हैं।

ध्यान रहे कि जिस किसी व्यक्ति का दोष हो, उसे स्वयं अपने

---

1. पण्डित श्री अभयकुमारजी, देवलाली द्वारा रचित पुस्तक **क्रिया, परिणाम और अभिप्राय,** प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर में विस्तार से देखें।
2. देखें, **प्रवचनसार गाथा 211.212** एवं टीकाएँ, इन गाथाओं को प्रायश्चित्त-विधान की प्रतिनिधि गाथाएँ भी माना जा सकता है।

दोष को आचार्य के समक्ष निवेदन करना चाहिए। किसी दूसरे के द्वारा अपना दोष कहलाना और प्रायश्चित्त माँगना, कदापि उचित नहीं है; क्योंकि इससे वह दूसरा व्यक्ति गलत शिक्षा ग्रहण कर सकता है, सुननेवाला वह यह भी सोच सकता है कि यदि ऐसी गलती 'मैं भी करूँ तो बस! इतना-सा ही तो प्रायश्चित्त होगा', इस प्रकार वह गलत-सन्देश भी ग्रहण कर सकता है; अतः सबके लिए प्रायश्चित्त एक जैसा नहीं होता – यह भी नियम है तथा स्वयं निवेदन करना भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त है, अनेक पाप तो उससे स्वयं प्रगट करने से ही कट जाते हैं, गुरु भी उन्हें अतिरिक्त प्रायश्चित्त नहीं देते।

भारतीय समाज, जैन संविधान से अपरिचित क्यों ?

आज **'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'** की उक्ति को चरितार्थ करनेवाले एवं समाज को अनुशासित रखनेवाले नि पक्ष 'जैन संविधान' से अधिकांश भारतीय समाज के लोग परिचित नहीं हैं, उसका एक कारण यह भी है कि जिस समय संविधान-निर्माता दे ा के संविधान का निर्माण कर रहे थे, उस समय जैनियों ने अपने ाास्त्रों को उन्हें देने से मना कर दिया था, इसके पहले भी जब-जब आव यकता पड़ी तो हमारी समाज के लोगों ने उन्हें सरकारी न्यायालयों या सार्वजनिक रूप से देने का लगभग विरोध ही किया।

यद्यपि एक दृ टि से उनका यह विरोध करना उचित भी माना जा सकता है; क्योंकि न्यायालयों में किसी भी धर्म के ग्रन्थों का वि ो ा रीति से सम्मान नहीं होता है। न्यायाधी ा और अन्य कर्मचारीगण, ाास्त्रों के पृ ठों को पलटने में मुँह का थूक भी लगाते देखे जाते हैं, जिससे प्रत्येक धार्मिक हृदय को दुःख पहुँचता है, परन्तु इस दुःख का यह उपाय कदापि नहीं था कि हमने ाास्त्र पे ा ही नहीं किये, उससे जैन संविधान को जन-जन का संविधान बनाने से हमने रोक दिया। भाई! प्रत्येक कार्य का निर्णय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को ध्यान में रख कर ही लिया जाना चाहिए, जो कि उस समय नहीं लिया गया।

जैनियों के द्वारा ास्त्रों को न्यायालयों तथा संविधान-निर्माताओं को नहीं देने का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने मान लिया कि जैनियों का स्वयं का कोई नीति- ास्त्र ही नहीं है; अतः एक प्रकार से उन न्यायालयों और नीति-निर्माताओं का इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि उन्होंने अनेक अवसरों पर इस बात की कोि ा की कि जैनियों के झगड़े, उनके ही संविधान अर्थात् उनके रीति-रिवाजों के अनुसार निपटाये जाएँ, परन्तु रूढ़िवादी विचारधारा के सामने प्रगति ील विचार -धारा को नत-मस्तक होना पड़ा, जिसका दु परिणाम जैन समाज के साथ-साथ सम्पूर्ण दे ा को भी भुगतना पड़ रहा है, क्योंकि उसमें उपलब्ध अनेक जन-कल्याणकारी नीतियों से दे ा वंचित रह गया है।

यदि उन्हें भारत के संविधान में शामिल कर लिया गया होता तो दे ा की कानून-व्यवस्था के संचालन में बहुत सार्थक प्रयास सम्भव हो गये होते।

इतना ही नहीं, जैनियों की महासभा ने बारम्बार यह प्रस्ताव भी पास किया कि ास्त्रों को प्रेस में छापना-छपाना धर्म-विरुद्ध है। इसका परिणाम भी यह रहा कि अभी तक लोगों को यह पता ही नहीं था कि जैनधर्म वास्तव में है क्या? और इसका प्रारम्भ कब हुआ है? तथा इसकी िक्षाएँ क्या हैं? कौन से नीति-नियम जैनियों को मान्य हैं और कौनसे नहीं? तथा उनकी कानून-व्यवस्था क्या है?

लौकिक्-जीवन का जैन संविधान या जैन कानून

'भारत के संविधान-निर्माण' के समय जब भारत की सभी जातियों के प्रतिनिधियों से उनकी सामाजिक रीति-नीतियों की जानकारी माँगी गई थी तो हमने अपने ग्रन्थों को तो उन्हें नहीं सौंपा था; लेकिन हाँ, उस समय जैन समाज के प्रतिनिधि विद्वान् श्रीमान् बैरिस्टर चम्पतरायजी ने जिनागम में वर्णित श्रावकाचारों के आधार पर 'जैन लॉ' या 'जैन कानून' अर्थात् 'जैन संविधान' के नाम से एक दस्तावेज सौंपा था; इसमें तो मात्र लौकिक-दृ टि को ही आधार बनाया गया था, लेकिन

यहाँ उसे और भी विस्तारित करते हुए सामाजिक एवं नैतिक-दृ टि को भी आधार बनाकर वर्णन किया जा रहा है।

इस पुस्तक के माध्यम से यह स्थापित करने का भी प्रयत्न किया जा रहा है कि सामान्यतया जैनों के पारिवारिक मतभेदों को दूर करने के लिए न्यायालयों द्वारा 'हिन्दू लॉ' का प्रयोग किया जाता है, जबकि **जैनों का अपना स्वतन्त्र जैन लॉ, भद्रबाहु-संहिता, अर्हन्नीति, वर्द्धमान-नीति, इन्द्रनन्दि-जिन-संहिता, त्रिवर्णाचार, आदिपुराण आदि ग्रन्थों में वर्णित है,** उसे ही आधार बनाना चाहिए।

बैरिस्टर चम्पतरायजी द्वारा लिखित 'जैन लॉ' या 'जैन कानून'[1]

'जैन लॉ' या 'जैन कानून' पुस्तक के लेखक बैरिस्टर चम्पतरायजी, एट लॉ, विद्या-वारिधि, पुस्तक की आद्य प्रस्तावना में लिखते हैं –

1. 'जैन लॉ', एक स्वतन्त्र न्याय- ास्त्र (Jurisprudence) है। इसके आदि रचयिता महाराजा भरत चक्रवर्ती हैं, जो प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथस्वामी (राजा ऋ ाभदेव) के बड़े पुत्र थे।

2. वर्तमान में जितने ग्रन्थों का पता चलता है, उनमें मुख्यतः नीति- ास्त्र का ही वर्णन मिलता है, किसी में भी सम्पूर्ण कानून का वर्णन नहीं मिलता है, तो भी यह सब कानून-निर्माण के लिए यथे ट मार्गदर्शक हो सकता है। चाहे उसका भाव समझने में प्रथम कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़े।

3. जब अंग्रेजों ने जैनियों से न्याय-कार्य के उद्दे य से ास्त्र माँगे तो जैनियों ने अपने ास्त्रों को छिपाया व सरकारी न्यायालयों में पे ा करने का विरोध किया, परन्तु जैनियों के ास्त्रों को न्यायालयों में नहीं

---

1. स्व. बैरिस्टर चम्पतराय, ने **'जैन लॉ'** या **'जैन कानून'** – इस वि ाय पर, भारतीय संविधान के निर्माण के प्रसंग में एक लघु पुस्तिका का निर्माण किया था, उसे विस्तृतरूप से समझने का विचार ही इस ोधकार्य का प्रमुख उद्दे य रहा है। मूल अंग्रेजी पुस्तक 'जैन लॉ' की प्रस्तावना एवं उसके हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना, पृ ठ 5-18 के आधार पर यहाँ संक्षिप्त विवेचन किया है।

देने का परिणाम यह हुआ कि न्यायालयों ने यह निर्णय कर लिया कि जैनियों का कोई नीति- ाास्त्र ही नहीं है।

4. 'जैन लॉ' इस समय न्यायालय में सामान्यतया अमान्य है, परन्तु वर्तमान न्यायालयों की न्याय-नीति यही रही है कि यदि 'जैन लॉ' पर्याप्त वि वस्तरूप से प्रमाणित हो सके तो वह कार्यरूप में परिणत होना चाहिए।

'जैन लॉ' के उपस्थित न होने के कारण प्रायः न्यायालयों के न्याय में भूल होती है। कहीं-कहीं रिवाज के रूप में 'जैन लॉ' के नियमों को भी माना है, अन्यथा सर्वत्र 'हिन्दू लॉ' का ही अनुकरण किया गया है।

यह जैनियों का कर्तव्य है कि तन-मन-धन से चे टा करके अपने ही 'जैन लॉ' का अनुकरण करें और सरकार व न्यायालयों में उसे प्रचलित करावें; लेकिन इसमें बड़े भारी प्रयास की आव यकता है।

अनायास ही यह प्रथा/मान्यता टूट नहीं सकेगी कि 'जैनी, हिन्दू डिस-सेन्टर्स (धर्म-विमुख-हिन्दु) हैं और हिन्दू लॉ के पाबन्द हैं,' जब तक कि हम कोई वि ो ा रिवाज साबित न कर दें।

यदि सर्व जैन जातियाँ अर्थात् दिगम्बर, वेताम्बर और स्थानक -वासी; तीनों सम्प्रदाय मिलकर, इस बात की चे टा करेंगे कि 'जैन लॉ' प्रचलित हो जाए तो कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता कि ऐसा न हो सके, यद्यपि प्रत्यक्षतः यह वि ाय आसानी से सिद्ध न होगा।

उनकी दृष्टि में यदि हम निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन करें तो अनुमानतः ीघ्र सफल भी हो सकते हैं —

* प्रत्येक सम्प्रदाय को अपनी-अपनी समाजों में प्रथमतः इस 'जैन लॉ' के पक्ष में प्रस्ताव पास कराने चाहिए।

* फिर एक स्थान पर, प्रत्येक समाज के नेताओं की एक सभा एकत्रित करके, उन प्रस्तावों पर स्वीकृति प्रदान करनी चाहिए।

* जो सज्जन, किसी कारण से 'जैन लॉ' के नियमों को अपनी इच्छाओं के विरुद्ध पावें, तो वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति वसीयत के

द्वारा कर सकते हैं। इस भाँति, धर्म और जाति की स्वतन्त्रता भी बनी रहेगी और उनकी मानसिक इच्छा की पूर्ति भी हो जाएगी।

* मुकदमेबाजी की सूरत में यदि किसी स्थान पर कोई रीति, यथार्थ में 'जैन लॉ' के लिखित नियमों के विरुद्ध है तो स्प ट ाब्दों में यह कहना चाहिए कि 'जैन लॉ' तो यही है, जो पुस्तक में लिखा हुआ है, किन्तु रिवाज इसके विरुद्ध हैं, फिर उसको प्रमाणित भी करना चाहिए।

*** इस पुस्तक (जैन कानून) में वर्तमान दिगम्बर या श्वेताम्बर, सभी जैन सम्प्रदाय के शास्त्रों का संग्रह किया गया है। यह हर्ष की बात है कि उनमें परस्पर मतभेद नहीं है; इसलिए यह व्यवस्था, संविधान या कानून, सब ही सम्प्रदायवालों को सर्वमान्य हो सकती है और किसी को इसमें विरोध भी नहीं होना चाहिए।**

5. यद्यपि सन् 1873 ई. में कुछ जैन नीति- ाास्त्रों के नाम, न्यायालयों में प्रकट हो गये थे और इससे भी पूर्व सन् 1833 ई. में भी जैन नीति- ाास्त्रों का उल्लेख आया है, परन्तु न्यायालयों का इसमें कुछ अपराध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि न्यायालयों ने तो प्रत्येक अवसर पर इस बात की कोि ा की कि जैनियों की नीति या कम से कम उनके रिवाजों[1] की जाँच की जाए, ताकि उन्हीं के अनुसार उनके झगड़ों का निर्णय किया जाए।

6. जैनियों के समान हिन्दुओं को भी ऐसा ही भय अपने धर्म- ाास्त्रों की मान-हानि का था, परन्तु उन्होंने बुद्धिमानी से काम लिया। जैनियों की भाँति उन्होंने अपने धर्म- ाास्त्रों को नहीं छिपाया और उनके छपने (मुद्रण करने) व छपाने (मुद्रण कराने) में बाधक नहीं हुए, परन्तु जैनियों की महासभा ने बारम्बार यही प्रस्ताव पास किया कि छापा (ग्रन्थ-प्रकाशन) धर्म-विरुद्ध है। इसका परिणाम यह हुआ कि अब तक लोगों को यह भी प्रकट नहीं हुआ कि जैनधर्म वास्तव में क्या है? कब से

---

1. और विशेष देखें, **जैन ल (जैन कानून)**, पृष्ठ 123-131 के आधार पर

प्रारम्भ हुआ ? इसकी िक्षा क्या हैं ? कौन-कौनसे नीति और नियम, जैनियों को मान्य हैं ? तथा उनकी कानूनी पुस्तकें क्या-क्या हैं ?

7. रायबहादुर बाबू जुगमन्धरलाल जैनी, बैरिस्टर-एट-लॉ, भूतपूर्व चीफ-जस्टिस, हाईकोर्ट, इन्दौर ने प्रथम बार इस कठिनाई का अनुभव करके 'जैन लॉ' नामक एक पुस्तक सन् 1908 ई. में तैयार की थी, जिसको स्व. कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन, आरा-निवासी ने सन् 1916 ई. में प्रकाित कराया था, परन्तु यह भी सुयोग्य सम्पादक को अधिक अवका ा न मिलने एवं जैन समाज के प्रमाद के कारण अपूर्ण ही रही और विद्वान् रचयिता ने विद्यमान नीति-पुस्तकों में से कुछ के संग्रह करने और उनमें से एक का अनुवाद किया है, इसके बाद उन्होंने वर्धमान-नीति एवं इन्द्रनन्दि जिन-संहिता का भी अनुवाद किया। इन पुस्तकों का सहयोग 'जैन कानून' लिखते हुए हमने भी किया है।

8. सन् 1921 में जब डॉ. गौड़ का 'हिन्दू कोड' प्रकाित हुआ और उसमें जैनियों को 'धर्म-विमुख हिन्दू' और जैनधर्म को 'बौद्धधर्म का बच्चा' तथा उसे 'बौद्ध और हिन्दू धर्मों का समझौता' तक लिख डाला; तो उस समय जैनियों ने उसका कुछ विरोध किया भी, 'जैन लॉ' कमेटी का गठन किया गया था; जिसमें उस समय के अंग्रेजी भाा के जानकार वकीलों, ाास्त्रज्ञों, पण्डितों और अनुभवी विद्वानों की एक समिति बनाई गई थी, परन्तु यह समिति भी अनेक कारणों से अपना उद्दे य पूरा नहीं कर सकी।

9. इसीप्रकार सन् 1867 आदि के कोर्ट-फैसलों में भी जैनियों के फैसले 'हिन्दू लॉ' के आधार हुए, या कतिपय फैसले, जैन रीति-रिवाजों के अनुसार भी हुए, परन्तु वे भी पूर्णतः 'जैन लॉ' के अनुसार नहीं हुए।[1]

10. सरकार तथा न्यायालयों का भी यही कर्तव्य है कि वे जैनियों के मुकदमों का निर्णय, जैन-लॉ या जैन-रीति-रिवाजों के अनुसार ही करें। यह कोड (जैन ल) इसी अभिलाा से तैयार किया गया है कि

1. और देखो, **जैन ल (जैन कानून)**, प्रस्तावना, पृष्ठ 8

'जैन लॉ' स्वतन्त्रतापूर्वक एक बार फिर प्रका ा में आकर, कार्यरूप में परिणत हो सके तथा जैनी, अपने ही कानून के पाबन्द रहकर, अपने धर्म का समुचित पालन कर सकें।

प्रश्न – हिन्दू-लॉ की पाबन्दी में जैनियों का क्या बिगड़ता है?

उत्तर – लेकिन इसप्रकार तो हम भी यह पूछ सकते हैं कि यदि मुसलमानों और ईसाइयों के मुकदमों के फैसले, हिन्दू-नीति के अनुसार कर दिये जावें तो क्या हानि है; परन्तु स्वतन्त्रता के इच्छुकों को स्वयं ही विदित है कि प्रत्येक रीति-क्रम एक ऐसे दृटिकोण पर निर्भर होता है कि जिसमें किसी दूसरे रीति-क्रम के प्रवे ा कर देने से सामाजिक विचार और आचार की स्वतन्त्रता का ना ा हो जाता है और व्यर्थ की हानि अथवा गड़बड़ी के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता।

11. यदि जैनी, अपने कानून की पाबन्दी नहीं कर पाएँगे तो किस प्रकार की हानियाँ होंगी ? इसे बताने के लिए मात्र एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। जैसे, –

* जैनियों में पुत्र का अधिकार माता के आधीन रखा गया है, जिसकी उपस्थिति में वह विरसा (पिता की सम्पत्ति) नहीं पाता है।

* स्त्री, अपने पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती है।

* वह स्वतन्त्र होती है कि वह उसे चाहे जिसको दे डाले, उसको कोई रोक नहीं सकता, सिवाय इसके कि उसके छोटे बच्चों के पालन-पो ाण का ध्यान अव य रखना होता है।

* इस उत्तम नियम का यह प्रभाव है कि पुत्र को सदाचार, ाील और आज्ञा-पालन में आद ी बनना पड़ता है, ताकि माता का उस पर प्रेम बना रहे।

* माता की उपस्थिति में पुत्र को स्वतन्त्र स्वामित्व देने का यह परिणाम होता है कि माता की आज्ञा नि फल हो जाती है।

* जैनियों में दोियों की संख्या का कम होना, जैसी कि अन्य

जातियों की अपेक्षा वर्तमान में है — यह 'जैन कानून' बनाने वालों की बुद्धिमत्ता का ज्वलन्त उदाहरण है।

12. इसी प्रकार जैन ल और हिन्दू ल में विशेष भिन्नता यह है कि हिन्दू ल में सम्मिलित कुल में ज्वाइन्ट स्टेट (Joint Estate) और सरवाईवरशिप (Survivorship) का नियम है। जबकि जैन ल में ज्वाइन्ट टेनेन्सी (Joint Tenancy) का नियम है।

इसमें भेद यह है कि ज्वाइन्ट स्टेट में यदि कोई सहभागी मर जाए तो उसके उत्तराधिकारी दायाद (हकदार/अधिकारी) नहीं होते हैं, अवशिष्ट सहभागियों की ही जायदाद रहती है और हिस्सों का तखमीना (हिसाब-किताब) बँटवारे के समय तक नहीं हो सकता है।

जबकि जैन ल के अनुसार ज्वाइन्ट टेनेन्सी (Joint Tenancy) में सरवाईवरशिप (Survivorship) सर्वथा नहीं होती। उसमें एक सहभागी के मर जाने पर उसके दायाद उसके भाग के अधिकारी हो जाते हैं; जबकि हिन्दू ल में खानदान-मुश्तरिका-मिताक्षरा में (संयुक्त परिवार के विभाजन होने पर) मृत भ्राता की विधवा की कोई हैसियत ही नहीं होती है, वह केवला भोजन-वस्त्र पा सकती है।

जैन ल में वह मृत पुरुष के भाग की अधिकारिणी होगी, चाहे उसकी विभक्ति (अलग) हो चुकी हो या नहीं।

पुत्र भी जैन ल के अनुसार केवल पैतामहिक सम्पत्ति में पिता का सहभागी होता है और अपना भाग विभक्त कराकर पृथक् करा सकता है, किन्तु पिता की मृत्यु के बाद पिता की सम्पत्ति को माता की उपस्थिति में नहीं पा सकता है, माता की मृत्यु के बाद ही वह उस भाग को पा सकेगा।

अस्तु हिन्दू ल में स्त्री का कोई अधिकार ही नहीं है। पति मरा, और वह भिखारिणी हो गई। पुत्र चाहे अच्छा निकले या बुरा, माता को हर समय उसके समक्ष कौड़ी-कौड़ी के लिए हाथ पसारना और गिड़-गिड़ाना पड़ता है।

बहुतेरे नये नवाब, भोग-विलास और विषय-सुख में घर का धन नष्ट कर देते हैं। वेश्याएँ तक उनकी धन-सम्पत्ति द्वारा मजे (आनन्द) करती हैं और उसको पानी की तरह बहा देती हैं।

यदि भाई-भतीजों के हाथ धन लगा तो वे मृतक की विधवा की चिन्ता क्यों करेंगे और यदि करेंगे भी तो टुकड़ों पर बसर करायेंगे।

इसी प्रकार हिन्दू ल के अन्तर्गत सौभाग्यवश यदि पति कहीं पृथक् दशा में अर्थात् संयुक्त-परिवार से अलग होकर मरे तो भी विधवा को सम्पत्ति के सर्वाधिकार नहीं दिये जाते हैं।

कुछ भी उसने धर्मकार्य या आवश्यकता के निमित्त खर्च किया और विवाद शुरु हुआ, कभी-कभी मुकदमे तक की नौबत आ जाती है, रोज इसी भाँति के मुकदमे न्यायालय में उपस्थित होते रहते हैं और इसी कारण परिवार में परस्पर शत्रुता बढ़ती रहती है।

जबकि जैन ल में इस प्रकार के मुकदमे हो ही नहीं सकते, क्योंकि पुत्र की उपस्थिति में भी विधवा का, मृत पति की सम्पत्ति को स्वामिनी की हैसियत से पाना, अत्यन्त लाभदायक है।

इससे पुत्र को व्यापार आदि करने का साहस (पुरुषार्थ) बना रहता है और वह जड़ता (प्रमाद) से बचता है। इसके सिवा उसको सदाचारी और आज्ञाकारी भी बनना ही पड़ता है।

हिन्दू ल को मानने की स्थिति में नये नवाब (नौजवान पुत्रादि) कितना ही धन, विषय-सुख और हरामखोरी में खर्च कर देते हैं, लेकिन यदि जैन ल के अनुसार सम्पत्ति उनको न मिली होती तो वह सर्वथा नष्ट होने से बच जाती। यही कारण है कि जैनियों में सदाचारी व्यक्तियों की संख्या अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है।

ऐसा विचार करना कि पुत्र के न होने पर विधवा, समस्त धन को अपनी पुत्री और उसके पश्चात् नाती अर्थात् पुत्री के पुत्र को दे देगी, तो यह भी व्यर्थ है; क्योंकि हिन्दू ल में भी यदि पुत्र नहीं है और सम्पत्ति

विभाज्य है तो विधवा के पश्चात् पुत्री और उसके पश्चात् नाती ही पाता है, उसे पति के कुटुम्ब के लोग नहीं पाते है, वरन हिन्दू ल के अनुसार तो ऐसी विधवा की सम्पत्ति को नाती पाता ही पाता है, क्योंकि वह पूर्ण स्वामिनी नहीं होती है, वह तो केवल यावज्जीवन (भरण-पोषण का) अधिकार रखती है। यदि वह इच्छा भी करे तो भी नाती को अनधिकृत करके पति के भाई पति के भाई-भतीजों को वह नहीं दे सकती।

इसके विरुद्ध जैन ल में विधवा, सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती है। पुत्री या नाती का कोई अधिकार नहीं होता; अतः यदि उसके भाई-भतीजे, उसको प्रसन्न रखें और उसका आदर और विनय करें तो वह उनको सम्पूर्ण धन भी उन्हें दे सकती है।

इस कारण जैन ल की विशिष्टता, सूर्यवत् कान्तियुक्त है, इसमें विरोध करना मूर्खता का कारण है।

यह भी ज्ञात रहे कि यदि कहीं ऐसा प्रकरण उपस्थित हो कि पुरुष को अपनी स्त्री पर विश्वास न हो तो उसका प्रबन्ध भी जैन ल में मिलता है। लेकिन ऐसे अवसर पर वसीयत के द्वारा कार्य करना चाहिए और स्वेच्छानुकूल अपने धन का प्रबन्ध कर देना चाहिए।

यदि कोई स्त्री दुराचारिणी है तो वह अधिकारिणी नहीं हो सकती हे। यह स्पष्टतया जैन ल में दिया हुआ है।

मेरे विचार से यदि ध्यान से देखा जाएगा तो सम्पत्ति के नष्ट होने का भय नये नवाबों से इतना अधिक है कि जैन ल के रचयिताओं के प्रति आक्रोश या आशंका करने का कोई अवसर नहीं रहता है।

अस्तु, जो सज्जन अपने धर्म से प्रेम रखते हैं और उसके स्वातन्त्र्य को नष्ट नहीं करना चाहते हैं और जिनको जैनी होने का गौरव है, उनके लिए यही आवश्यक है कि वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति से यह चेष्टा करें कि विरुद्ध तथा हानिकारक अजैन कानूनों की दासता से जैन ल को मुक्त करा दें।

इसी प्रकार गुलामी में आनन्द मानने वाले सज्जनों से भी मेरा

अनुरोध है कि वे आँखें खोलकर जैन ल के लाभों को समझें और व्यर्थ की बातें बनाने या कलम चलाने से निवृत्त होवें।

13. यहाँ इतना कह देना भी पर्याप्त न होगा कि रीति-रिवाजों के रूप में भी जैन-नीति के उद्दे यों का पूर्णतया परिपालन हो जाता है, इसलिए अब तक जैसा होता रहा है, वैसा होते रहने दो; क्योंकि प्रत्येक कानून का जाननेवाला जानता है कि किसी वि ो ा रीति-रिवाज को प्रमाणित करना कितना कठिन कार्य है।

ध्यान रहे कि इन्हें प्रमाणित करने के लिए सैकड़ों साक्ष्यों और उदाहरणों की आव यकता होती है, जो साधारण या छोटे मुकदमे वालों की ाक्ति एवं हैसियत से बाहर की बात है और फिर भी अन्याय का पूरा भय रहता है, जैसा कि अनेक अवसरों पर पहले भी हो चुका है।

समाज भी सदा भयभीत बना रहता है कि न मालूम, मौखिक साक्ष्यों द्वारा प्रमाणित होनेवाले रिवाज-वि ो ा पर न्यायालय में क्या निर्णय हो जाए; क्योंकि यदि कहीं फैसला, उलटा-पुलटा हो जाता है तो अ ान्ति और भी बढ़ जाती है, क्योंकि यह निर्णय, वास्तविक जाति-रिवाज के प्रतिकूल हुआ है।

किसी साधारण मुकदमे में अन्याय हो जाना भी यद्यपि अनुचित है, किन्तु उससे अधिक हानि की सम्भावना नहीं है; क्योंकि उसका प्रभाव केवल व्यक्तियों पर ही पड़ता है, परन्तु सामाजिक रिवाजों के सम्बन्ध में ऐसा होने से उसका प्रभाव सर्व समाज पर पड़ता है।

इसी प्रकार की और भी हानियाँ हैं, जो उसी समय दूर हो सकेंगी, जब 'जैन लॉ' स्वतन्त्रता को प्राप्त हो जाएगा।

14. कुछ व्यक्तियों का विचार है कि जैनधर्म, हिन्दूधर्म की ाखा है तथा जैन-नीति भी वही है, जो हिन्दुओं की नीति है। ये लोग, जैनियों को धर्म-विमुख हिन्दू (Hindu dissenters) मानते हैं, परन्तु वास्तविकता इससे सर्वथा विपरीत है; क्योंकि –

* जैनधर्म, ई वर को जगत् का कर्ता नहीं मानता; वह जगत् को

अनादि-निधन मानता है अर्थात् वह सदा से है और सदाकाल रहेगा – ऐसा मानता है; अतः उसे अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए किसी ई वर की आव यकता नहीं है।

* प्रत्येक आत्मा में परमात्मा (ई वर) बनने की ाक्ति है, भूतकाल में ऐसी अनन्त आत्माएँ हो चुकी हैं, जो अपनी ाक्ति का विकास करके परमात्मा बन चुकी हैं।

* इसी प्रकार भवि य में भी ऐसी अनन्त आत्माएँ होंगी, जो अपनी सामर्थ्य को विकसित करके परमात्मा बनेंगी – यह क्रम सदाकाल चलता रहेगा।

* जैनद न के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव की कर्ता है और पर की अकर्ता है।

* इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा भी अपने स्वभाव का कर्ता है और अपने से भिन्न परपदार्थ का अकर्ता है। कहा भी है –**'वत्थुसहावो धम्मो'** अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है, और उसके अनुसार परिणमन करना ही उसका परम कार्य है।

* कोई वस्तु अपने स्वभाव के विरुद्ध परिणमन नहीं कर सकती। यदि कोई आत्मा, अपने स्वभाव से विरुद्ध परिणमन करने की चे टा करता भी है तो भी वह वास्तव में ऐसा परिणमन कर नहीं सकता। हाँ ! इस दु कृत्य के फलस्वरूप उसे चतुर्गति-परिभ्रमणरूप सज़ा अव य मिलती है, और उसे वह भोगनी भी पड़ती ही है।

लौकिक कार्यों में स्वतन्त्र जैन संविधान या जैन कानून

अब यहाँ जैन कानून के संवैधानिक पहलुओं पर किंचित् विस्तार के साथ विचार किया जाता है।

जैन कानून के लेखक बैरिस्टर चम्पतरायजी लिखते हैं –

"जैन संविधान में इस अधिकार को स्वीकार किया गया है कि कोई व्यक्ति, अपने जीवन-काल में वसीयत द्वारा अपनी सम्पत्ति का

कोई प्रबन्धक या संरक्षक नियुक्त कर दे, जो उसकी विधवा एवं उसकी सम्पत्ति की रक्षा करे। लेकिन ऐसे नियुक्ति-पत्र की साक्षियों के समक्ष पंचों या सरकार से रजिस्ट्री अवश्य कराना चाहिए।

यदि सम्पत्ति के स्वामी की मृत्यु के पश्चात् प्रबन्धक, विश्वासघाती हो जाए तो विधवा को अधिकार है कि वह अदालत के माध्यम से उसे पृथक् कर दे और उसके स्थान पर अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर दे; अतः प्रबन्धक का कर्तव्य है कि वह सम्पत्ति की देखभाल पूर्ण साव ाानी से करे, ताकि सम्पत्ति सुरक्षित रहें और परिवारजनों का निर्वाह भलीभाँति हो सके।

वर्द्धमान-नीति के अनुसार वह विधवा स्वयं भी अपनी सम्पत्ति का प्रबन्धन कर सकती है। यदि विधवा ने प्रबन्धकार्य का दायित्व, स्वयं अपने ऊपर ले लिया है तो उसको वसीयत या नियुक्ति-पत्र के अनुसार उस सम्पत्ति को दान करने, गिरवी रखने तथा बेच देने का आवश्यकता के अनुसार अधिकार होता है।

यदि उसका कोई औरस पुत्र या दत्तक पुत्र हो तो वह उसके इस प्रकार सम्पत्ति के व्यय करने में बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि विधवा को वे सब अधिकार हैं। उसको धार्मिक कार्यों अथवा व्यापार सम्बन्धी आवश्यकताओं में उसे सम्पत्ति को दान देने, गिरवी रखने और बेचने का अधिकार भी होता है।"[1]

वसीयत : एक संवैधानिक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज

वसीयत, एक अहम संवैधानिक कानूनी दस्तावेज है, जो बेहद महत्त्वपूर्ण है, इसलिए इसे अत्यन्त सावधानी एवं समझदारी के साथ बनाना चाहिए। हमारा मनुष्य-जीवन, निश्चित ही अनिश्चितताओं से भरा पड़ा है, इसलिए अगर वसीयत है तो सम्बन्धित व्यक्ति के परिवार में जीवित न रहने पर भी विवादास्पद स्थिति नहीं बनती है।

1. देखो, **जैन ल (जैन कानून)**, स्व. बैरिस्टर श्री चम्पतरायजी, पृष्ठ 43

भारतीय संविधान के अनुसार वसीयत बनाते समय ध्यान रखने योग्य अहम् बिन्दु निम्न हैं –

वसीयत कैसे लिखें ?[1]

1. अपने सभी सम्बन्धियों के नाम की सूची बनाकर रख लें, इससे आपको यह निर्णय लेने में मदद मिलेगी कि वसीयत किसके नाम की जाए अथवा किन-किनके नाम कितनी-कितनी की जाए।

आपको यह भी निश्चित करना है कि आप अपनी सम्पत्ति का उसे निर्वाहक बनाना चाहते हैं या इस्तेमाल करनेवाला बनाना चाहते हैं या स्वामी बनाना चाहते हैं, इत्यादि।

2. आप अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का विवरण तैयार कर लें। ध्यान रहे – आपको अपने खुद के नामवाली और पैतृक-सम्पत्तियों में अपने अधिकारों को दूसरे के नाम कर देने का पूरा-पूरा अधिकार है।

3. वसीयत लिखने के पूर्व अपने दायित्वों एवं जिम्मेदारी का ध्यान रखें। अपनी समस्त देनदारी की सूची भी तैयार कर लें। साथ ही यह भी निर्धारित करें कि आपके जीवनोपरान्त, आपकी सम्पत्ति को बेचने के बाद किस क्रम में इन दायित्वों का निर्वाह किया जाएगा।

4. अगर सम्पत्ति का ट्रस्ट बनाना चाहते हैं तो ट्रस्टियों के नाम, मुख्य ट्रस्टी का नाम, पद, कर्तव्य, अधिकार आदि का विचार कर लें और उनका उल्लेख भी अवश्य करें।

5. वसीयत के अन्तिम प्रारूप में निम्न बिन्दुओं का होना अत्यन्त आवश्यक है –

* अपना नाम, पिता या पति का नाम, उम्र, पता, आदि सही-सही (आपके दस्तावेजों के अनुसार) लिखना चाहिए।

1. **सुभाष लखोटिया,** सुप्रसिद्ध कर विशेषज्ञ, दैनिक अखबार, **अमर उजाला,** दिनांक 21 मई 2007 के लघु लेख, 'वसीयत बनाने में लापरवाही नहीं करें!' के आधार पर

* जिसके या जिनके नाम आप वसीयत कर रहे हैं, उनके नाम आदि भी स्पष्टतया लिखना आवश्यक है।

* यदि आपको लगता है कि वसीयत के अनुसार आपको अपने किसी विशेष सम्बन्धी को वित्तीय लेन-देन से दूर रखना है तो उसका नाम आदि भी आप इस दस्तावेज में उल्लिखित कर सकते हैं।

* यदि आपने कोई वसीयत पहले भी बनाई है, और उसे आप बदलना चाहते हैं तो उसका उल्लेख एवं संक्षिप्त विवरण भी आपको कर देना चाहिए।

* विशेष बात यह है कि वसीयत बनाने के लिए किसी स्टाम्प पेपर की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि आप सादे पेपर पर भी इसे लिख सकते हैं।

* आप अपनी वसीयत को भारत में कहीं भी दर्ज करा सकते हैं। इसका रजिस्ट्रेशन भी कराया जा सकता है। जहाँ हमारी सम्पत्ति दर्ज होती है, वहीं सब-रजिस्ट्रार के कार्यालय में इस दस्तावेज का रजिस्ट्रेशन भी हो सकता है। इसके रजिस्ट्रेशन कराने में बहुत ही मामूली खर्च आता है।

* आप अपनी वसीयत की कम से कम दो कपी तैयार करें। वसीयत के प्रथम पृष्ठ पर चिपकाने के लिए दो फोटो भी साथ रखें।

* वसीयत बनने के बाद इसे संभाल कर रखना चाहिए। इसकी एक-दो फोटोकपी भी साथ रख लेना चाहिए।

* ध्यान रहे कि जिस व्यक्ति के नाम पर आप वसीयत कर रहे हैं, उसे यह पहले से ही नहीं देना चाहिए।

6. जैन संविधान में 'श्रावक की आचार-संहिता' के अन्तर्गत श्रावक के पंचाणुव्रतों में परिग्रहपरिमाणव्रत भी बताया गया है; अतः उसे स्वीकार करते हुए यद्यपि श्रावक के पास इतना अधिक परिग्रह जुड़ ही नहीं सकता, जिससे गृह-कलह की स्थिति उत्पन्न हो; तथापि यदि पुण्योदय से उसके पास अधिक धन एकत्रित हो गया हो तो उस

श्रावक को विरासत के रूप में इन सभी क्रियाओं की शिक्षा अपने परिवार को देते हुए 'जैन संविधान' के अनुकूल वसीयत लिखते समय भी इन सभी धार्मिक कार्यों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए, इससे हमारा लौकिक जीवन तो गौरवशाली बनता ही है, मरण भी समाधिपूर्वक होने से आगामी भवों में सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है।

'जैन संविधान' के अनुसार सम्पत्ति का विभाजन[1]

'जैन ल' के अनुसार सम्पत्ति के स्थावर और जंगम – ऐसे दो भेद होते हैं; उनमें जो पदार्थ, अपनी जगह पर स्थिर होते हैं और हलचल नहीं कर सकते, वे 'स्थावर' कहलाते हैं; जैसे, गृह, बाग इत्यादि। तथा जो पदार्थ, एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुगमतापूर्वक आ जा सकते हैं; वे 'जंगम' कहलाते हैं।

यद्यपि दोनों प्रकार की सम्पत्ति विभाजित हो सकती है, परन्तु ऐसा अनुरोध है कि स्थावर-सम्पत्ति को अविभाजित ही रखा जाए, क्योंकि इसके कारण प्रतिष्ठा और स्वामित्व बना रहता है।[2]

अविभाजित सम्पत्ति कौनसी ?

'जैन ल' के अनुसार निम्न प्रकार की सम्पत्ति विभाग योग्य नहीं होती है –

1. जिसे पिता ने अपने निजी मुख्य गुणों, योग्यताओं या पराक्रम द्वारा प्राप्त किया हो; जैसे, राज्य आदि।

2. पैत्रिक-सम्पत्ति की सहायता के बिना जो द्रव्य, किसी ने विद्या आदि गुणों द्वारा उपार्जन किया हो; जैसे, विद्या या ज्ञान द्वारा प्राप्त आय, विभाग योग्य नहीं है।

1. **जैन ल (जैन कानून)**, स्व. बैरिस्टर श्री चम्पतरायजी, पृष्ठ 13-28 के आधार पर
2. देखें, **अर्हन्नीति**, श्लोक 5

3. जो सम्पत्ति, किसी ने अपने मित्रों अथवा अपनी स्त्री के बन्धु-जनों से प्राप्त की हो।

4. जो खानों में गड़ी हुई उपलब्ध हो जावे अर्थात् दफीना आदि।

5. जो युद्ध अथवा सेवाकार्य से प्राप्त हुई हो।

6. जो साधारण आभूषणादि, जिसे पिता ने अपनी जीवनावस्था में अपने पुत्रों वा उनकी स्त्रियों को स्वयं प्रदान कर दी हो। इसके अलावा और भी आभूषण आदि स्त्री-धन कहलाता है; इसके सम्बन्ध में आगे विस्तार से लिखा जा रहा है।

7. पिता के समय की डूबी हुई सम्पत्ति, जिसको किसी भाई ने अविभाजित-सम्पत्ति की सहायता बिना प्राप्त की हो, परन्तु यदि वह सम्पत्ति, स्थावर है तो उसे प्राप्त करनेवाले पुरुष को अपने सामान्य भाग से चतुर्थ अंश अधिक प्राप्त होगी।

सम्पत्ति का विभाग किस-किसको और कितना-कितना ?

जैन संविधान के अनुसार निम्न प्रकार से सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं –

1. **संयुक्त-परिवार की अपेक्षा विभाजित-परिवार उत्तम** – हिन्दू ल के विरुद्ध जैन ल, संयुक्त-परिवार रखने की अपेक्षा विभाजित-परिवार को उत्तम बतलाता है, क्योंकि उससे धर्म की वृद्धि होती है और प्रत्येक भाई को पृथक्-पृथक् धर्म-लाभ का शुभ अवसर प्राप्त होता है।

2. **विभाग-योग्य सम्पत्ति का विभाजन** – विभाग-योग्य जो सम्पत्ति नहीं है, उसे छोड़कर सब प्रकार की सम्पत्ति, जैन-नीति और मुख्य रीति-रिवाजों (पद्धतियों) के अनुसार दायादों में विभक्त हो सकती है।

3. **अविभाजित सम्पत्ति का अधिकार** – पिता की जो सम्पत्ति, विभाग-योग्य नहीं है, जैसे, राज्यादि; उसके लिए केवल सबसे बड़ा

पुत्र ही अधिकारी है, लेकिन उसका भी व्यसनादि से रहित योग्य होना आवश्यक है।

4. **पैतृक (पितामह आदि की) सम्पत्ति के अधिकारी कौन ?**— बाबा-दादा की सम्पत्ति में से पुत्र के पुत्रों (पौत्रों) को, उनकी माताओं को और पुत्र को समान भाग मिलने चाहिए।

5. **पिता की सम्पत्ति का अधिकार** — यदि सम्पत्ति, स्वयं पिता की उपार्जित है तो उसमें पुत्रों को विभाजित करने का कोई अधिकार नहीं है, उसमें पिता को अधिकार है कि वह जितना जो कुछ भाग, पुत्रों को देना चाहे, पुत्रों को दे; पुत्रों को उसी में सन्तोष करना चाहिए।

6. **माता का विशेष अधिकार** — जैन संविधान के अनुसार पिता की मृत्यु के बाद पिता की सम्पत्ति की स्वामिनी माता हो जाती है और उसकी स्वयं की जीवनावस्था में जिस द्रव्य की वह स्वामिनी है; उसको भी पुत्र, केवल उसकी इच्छा के अनुसार ही पा सकता है।

* यदि माता का कोई पुत्र न हो, सिर्फ विवाहिता पुत्री हो तो वह उस पुत्री को अपना दायाद नियुक्त कर सकती है तथा उस पुत्री के मरण के पश्चात् भी वह सम्पत्ति, पूर्व के कुटुम्बीजनों को नहीं मिलेगी, उसके पुत्र को मिलेगी और यदि पुत्र न हो तो उसके पति को मिलेगी।

* लेकिन यदि माता के सामने ही विभाग होता है तो माता को पुत्र के समान भाग मिलता है।

वास्तव में उल्लेख तो यह है कि उसे पुत्रों से भी कुछ अधिक मिलता है, जिससे वह परिवार और कुटुम्ब की स्थिति को बनाये रखे; बेटियों एवं उनके ससुराल पक्ष से यथायोग्य व्यवहार निभा सके।

यद्यपि इस अधिक की कुछ सीमा निश्चित नहीं की गई है, अर्थात् आवश्यकतानुसार अधिक की सीमा का विचार करना चाहिए, क्योंकि माता के बाद तो उसकी सारी सम्पत्ति, पुत्रों को ही जानी है और तत्पश्चात् समस्त व्यवहार भी उन पुत्रों को ही चलाना है।

* अर्हन्नीति में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि पिता के मरण के पश्चात् यदि विभाग होता है तो प्रत्येक भाई, अपने-अपने भाग में से आधा-आधा माता को देवें। जैसे, चार भाई हैं तो प्रत्येक भाई, चार आना हिस्सा पावेगा और माता का भाग उक्त प्रकार से चार आने के अर्द्ध भाग का चौगुना होगा।

* इसी प्रकार पिता की जीवनावस्था में विभाग होने पर माता को भी एक भाग मिलना चाहिए, क्योंकि पुत्रोत्पत्ति होने से माता एक भाग की अधिकारी हो जाती है।

7. **पुत्रों के अधिकार** — माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् सभी पुत्र, पैत्रिक (पिता की) सम्पत्ति को समानरूप से बाँट लें; उसमें भी सर्वप्रथम ऋण चुकाना चाहिए, तत्पश्चात् ही शेष सम्पत्ति का विभाग करना उचित है।

* यद्यपि जैन-नीति के अनुसार माता के समान ज्येष्ठ पुत्र का भी कुछ अधिकार विशेष माना गया है अर्थात् माता-पिता की मृत्यु के बाद बाबा (पैतृक) की सम्पत्ति के अतिरिक्त, पिता की स्वयं उपार्जित समस्त सम्पत्ति का स्वामी ज्येष्ठ पुत्र ही होता है, अन्य लघु पुत्र अपने ज्येष्ठ भ्राता को पिता के समान मानकर उसकी आज्ञा में रहेंगे और उनके निर्वाह का दायित्व बड़े भाई पर होगा।

* लेकिन माता-पिता के बाद विभाग (बँटवारे) के समय माता-पिता की सम्पत्ति का कुछ भाग, ज्येष्ठ भ्राता के लिए पहले से पृथक् कर दिया जाए; फिर शेष सम्पत्ति को ज्येष्ठ भ्राता सहित सभी भाइयों में समानतः विभाजित किया जाना चाहिए।

* यदि वे भाई, विभक्त होने के पश्चात् किसी कारण (बिना पूर्व समझौता किए) पुनः एकत्र हो जाएँ और फिर पुनः विभाजित हों तो उस समय 'ज्येष्ठ भ्राता होने का अलग से हक' नहीं माना जाता है।

---

1. देखो, **जैन ल (जैन कानून)**, पृष्ठ 31; भद्रबाहु-संहिता 95-97; अर्हन्नीति 115-117/27-28 के आधार पर

* अब अन्य भाईयों में यदि कोई भाई, वयस्क न हों तो वे बड़े भाई के संरक्षण में रहेंगे, उस समय उस अवयस्क भाई की शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति आदि की देखभाल और सुव्यवस्था का भार भी ज्येष्ठ भाई पर ही होता है। बाद में छोटे भाई के अलग होते समय उसकी सम्पत्ति का विभाग, उसे प्राप्त हो जाता है।

* यदि अनेक पुत्र, एक साथ (जुड़वा) उत्पन्न हुए हों तो जो प्रथम उत्पन्न हुआ हो, वह ज्येष्ठ माना जाता है।

8. **बाबा (पैतृक) की सम्पत्ति के विभाग कैसे ?** – विभाग के समय बाबा (पैतृक) की सम्पत्ति का विभाग, पीढ़ियों के अनुसार होता है अर्थात् बाबा (पैतृक) की सम्पत्ति, उनके पुत्रों में बराबर-बराबर विभाजित होती है, तत्पश्चात् जिसके जितने पुत्र होते हैं, उनमें उनके पिता के विभाग का बराबर-बराबर बँटवारा होता है।

9. **कुँवारी बहिन का अधिकार** – भद्रबाहु संहिता में बहिन को भी समान भाग की अधिकारिणी माना है, परन्तु बैरिस्टर श्री चम्पतरायजी ने यह बात, कुँवारी बहिन की अपेक्षा मानी है, जिसके विवाह का दायित्व भाईयों (विशेषरूप से बड़े भाई) पर ही होता है; अतः उसका भाग भी विवाह-व्यय एवं कन्या-दान करने की अपेक्षा भ्राताओं के समान ही बताया गया है; अतः जैन- नीति में स्पष्ट कहा है – अविवाहिता पुत्री एक हो या अधिक, भाईयों की उपस्थिति में पिता की सम्पत्ति में से गुजारे और विवाह-व्यय के अतिरिक्त भाग पाने की अधिकारी नहीं है।

10. **विवाहिता पुत्री का अधिकार** – विवाहिता पुत्री का अपने भाईयों की उपस्थिति में पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं है। विवाहिता लड़कियाँ, अपनी-अपनी माताओं के स्त्री-धन को पाती हैं। पुत्री के अभाव में दौहित्री और उसके भी अभाव में पुत्र, माता के स्त्री-धन का अधिकारी होता है।

---

1. देखो, **जैन ल (जैन कानून)**, पृष्ठ 26; भद्रबाहु संहिता, 19; वर्धमान नीति 9; अर्हन्नीति, 25 के आधार पर

11. **विशेष नियम** – विभाग का विशेष नियम यह है कि एक भागाधिकारी के पृथक् हो जाने पर सबकी पृथक्ता स्वयमेव हो जाती है, परन्तु विभाग के बाद जितने भाई चाहें, फिर सम्मिलित हो सकते हैं। यदि विभाग के समय कोई सन्तान, माता के गर्भ में है तो वह भी एक भाग की अधिकारी होती है।

* यदि कोई सन्तान, विभाग के बाद ही गर्भ में आये तो उसे कोई अधिकार, विभाग में नहीं होता है, वह केवल अपने पिता का विभाग पा सकता है।

* यदि कोई मनुष्य, विभाग के पश्चात् मर जाए और उसका कोई अधिक करीबी-वारिस न हो तो उसका हिस्सा उसके भाई-भतीजों को प्राप्त होता है।

12. **अन्य वर्णों की पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों के अधिकार** – जैन संहिता ग्रन्थों में लिखा है कि यदि ब्राह्मण पिता है और उसकी चारों वर्णों की स्त्रियाँ हैं तो शूद्रा और दासी के पुत्रों को हिस्सा नहीं मिलेगा, लेकिन वे गुजारा पाने के अधिकारी हैं अथवा उनके पिता, अपनी जीवित अवस्था में उन्हें जो कुछ दे गये हों, वह उनको मिलेगा।

* भद्रबाहु संहिता और अर्हन्नीति, दोनों में ऐसा उल्लेख है कि विभाज्य सम्पत्ति के दस समान भाग करने चाहिए, जिनमें से चार ब्राह्मणी के पुत्र को, तीन क्षत्राणी के पुत्र को, दो वैश्याणी के पुत्र को देना चाहिए और एक अवशिष्ट भाग धर्मकार्य में लगा देना चाहिए।

इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णों में भी लगा लेना चाहिए।

* शूद्र पिता और शूद्रा माता के पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति, बराबर-बराबर पावेंगे। यदि शूद्र पिता से दासी पुत्र उत्पन्न हो तो वह विवाहिता स्त्री के पुत्र से अर्द्ध भाग पाएगा। विवाहिता स्त्री के पुत्र के अभाव में शूद्र का दासीपुत्र ही अपनी माताओं के बाद उनकी सर्व सम्पत्ति का अधिकारी हो जाएगा।

13. **गोधन का विभाग** – गोधन अर्थात् जीवित गाय, भैंस, घोड़ा आदि भी सम्पूर्णता एवं अखण्डता के साथ विभाग-योग्य हैं।

14. **जंगम एवं स्थावर-सम्पत्ति का स्वामित्व एवं अधिकार** – आभूषण, गोधन, अनाज और इसी प्रकार की अन्य जंगम-सम्पत्ति का मुख्य स्वामी पिता है, उसकी आज्ञा से आवश्यकतानुसार कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति उसे व्यय कर सकता है; परन्तु स्थावर-सम्पत्ति का पूर्ण स्वामी न पिता है, न पितामह; अर्थात् उनको अकेले उन्हें बेचने का अधिकार नहीं है।

* कुटुम्ब की सब स्थावर-सम्पत्ति, उत्पन्न या अनुत्पन्न पुत्रों या दूसरे उन सभी व्यक्तियों के होते हुए, जिन्हें उसके माध्यम से अपना भरण-पोषण पाने का अधिकार है, किन्हीं धार्मिक कार्यों, तीर्थयात्रा या मित्रों की सहायतार्थ भी नहीं दी जा सकती।

* इसी प्रकार स्त्री को भी उसका विरोध करने का अधिकार होता है, चाहे वह सम्पत्ति, किसी अच्छे कार्य के लिए या अन्य प्रकार से ही क्यों न दी जा रही हो; क्योंकि कौटुम्बिक-सम्पत्ति से उचित प्रकार भरण-पोषण पाने का उन सभी को अधिकार होता है।

15. **पैत्रिक एवं पिता की सम्पत्ति का स्वामित्व व अधिकार** – पुत्र की सम्मति के बिना पैत्रिक-सम्पत्ति, किसी को देने का अधिकार पिता को नहीं है तथा इसी प्रकार बाबा की अविभाजित-सम्पत्ति, भ्रातृवर्ग (परिवार) की सम्मति के बिना किसी को नहीं दी जा सकती है। इतना ही नहीं, वह सम्पत्ति पुत्री, दौहित्र, बहन, माता अथवा स्त्री के किसी सम्बन्धी को भी नहीं दी जा सकती है।

16. **वयस्क पुत्र के अधिकार** – यदि पुत्र बालिग (वयस्क) हो जाए तो वह पिता की स्वयं उपार्जित सम्पत्ति में से भरण-पोषण का अधिकार नहीं माँग सकता है, लेकिन पैत्रिक सम्पत्ति में से उसे ऐसा करने का अधिकार होता है। यद्यपि ऐसा कानून, जैन तथा हिन्दू दोनों में समान है, क्योंकि पिता की सम्पत्ति में भी उसकी मृत्यु के पश्चात् सभी पुत्र सदा ही अधिकारी नहीं होते, किन्तु विधवा माता और कभी-कभी ज्येष्ठ भ्राता ही उस अधिकार को पाते हैं।

17. **सम्पत्ति पृथक् करने का अधिकार** – यद्यपि माता, पिता, भाई आदि सम्पूर्ण मिलकर, सम्पत्ति पृथक् कर सकते हैं अर्थात् बेच सकते हैं या गिरवी आदि रख सकते हैं। यदि पुत्र वयस्क न हों तो पिता भी योग्य आवश्यकताओं के लिए उसे बेच सकता है या गिरवी आदि रख सकता है।

* इसी प्रकार जो सम्पत्ति, माता ने विरसे में पाई हो, उसमें भी उसे ऐसा करने का अधिकार होता है।

* पिता की सम्पत्ति का पौत्र के न होने पर पुत्र को पूर्ण अधिकार होता है और वह जिस भाँति चाहे उसे व्यय कर सकता है, क्योंकि उसे ऐसा करने से रोकनेवाला कोई नहीं है।

* जो जंगम द्रव्य, माता ने पुत्र को व्यापार या प्रबन्ध करने के लिए दिया हो, उसे व्यय कर डालने का पुत्र को अधिकार नहीं है।

* माता-पिता के जीवित रहते हुए दत्तक या औरस पुत्र को उनकी या पितामह की दोनों प्रकार की सम्पत्ति को पृथक् करने का कोई अधिकार नहीं है, परन्तु बाबा की सम्पत्ति में पुत्रों को मिलकर विभाग करने का अधिकार होता है।

* विभाग के पश्चात् प्रत्येक भागी को अपने भाग का व्यय करने का अधिकार होता है।

18. **प्रबन्धन के अधिकार** – पुत्र हों या न हों, लेकिन पिता को यह अधिकार है कि वह अपनी मृत्यु के पश्चात् अपनी विधवा के निमित्त तथा सुप्रबन्धार्थ, किसी अन्य पुरुष द्वारा अपनी निजी सम्पत्ति का वसीयत के अनुसार प्रबन्धन करावे।

19. **विधवा के अधिकार** – विधवा भाभी या जिसका पति साधु हो गया है, वह अपने पति के भाग को पाती है और उसे अपने पति

के जीवित भाईयों से अपना भाग पृथक् कर लेने का अधिकार होता है और उसे अपने लिए पुत्र गोद लेने का भी अधिकार होता है।

* पितामह के जीवित रहते हुए पौत्र मर जाए तो उसकी विधवा को सास-श्वसुर के रहते हुए कोई अधिकार नहीं है। इसी प्रकार श्वसुर की सम्पत्ति में भी विधवा पुत्रवधू को सास के रहते हुए कोई अधिकार नहीं है, लेकिन गुजारे का अधिकार अवश्य है। यह भी हो सकता है कि वह सास-श्वसुर की आज्ञा से दत्तक पुत्र गोद ले सकती है।

* विधवा पुत्रवधू, उस सम्पत्ति को, जो उसके पति ने अपने जीवन-काल में माता-पिता को दे दी है, उसे वापस नहीं ले सकती है, चाहे उसे अपना गुजारा थोड़े में ही क्यों न करना पड़े, क्योंकि भद्र पुरुष, उस सम्पत्ति को वापिस नहीं माँगा करते हैं, जो किसी को दे दी गई हो।

* यदि श्वसुर पहले मर जाए और पति बाद में तो विधवा बहू अपने पति की सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी हो जाती है, परन्तु उसको अपनी सास को और कुटुम्ब को गुजारा देना चाहिए, लेकिन ऐसी स्थिति में सास, दत्तक पुत्र नहीं ले सकती है, क्योंकि उस समय उस सम्पत्ति की स्वामिनी पुत्रवधू है, न कि सास।

* हाँ, श्वसुर की उपार्जित सम्पत्ति या बाबा की सम्पत्ति में जो श्वसुर के अधिकार में आई हो, उसमें विधवा पुत्रवधू को व्यय का अधिकार नहीं है, परन्तु अपने मृत पति की स्वयं उपार्जित सम्पत्ति को व्यय करने का अधिकार है। श्वसुर के मर जाने पर विधवा पुत्रवधू का पुत्र, अपने पितामह की सम्पत्ति का स्वामी होता है, विधवा पुत्रवधू को केवल गुजारे का अधिकार है।

दायभाग के अयोग्य कौन ?

जैन संविधान के अनुसार निम्न व्यक्ति, दायभाग के अयोग्य समझे जाते हैं –

1. परिवार में उत्पन्न पैदायशी नपुंसक, उन्मत्त, असाध्य रोग का रोगी, सर्व सदाचार का विरोधी (माँसभक्षण आदि व्यसन करनेवाला), लँगड़ा, अन्धा, बौना (रजील/क्षुद्र), कुब्जा, जाति-च्युत, अपाहिज, माता-पिता का घोर विरोधी, मृत्यु-निकट, गूँगा, बहरा, अतीव क्रोधी, अंगहीन, दायभाग लेने का अनिच्छुक, आदि; यद्यपि दायभाग से वंचित होते हैं, तथापि उक्त सभी गुजारे के अधिकारी अवश्य हैं।

2. यदि उक्त व्यक्तियों का रोग आदि शान्त हो जाता है तो वे अपने दायभाग के अधिकारी भी हो जाते हैं, वरना उनका भाग उनकी पत्नि या पुत्रों या पुत्री के पुत्रों को मिलता है।

3. दायभाग की अयोग्यता का अर्थ यह कदापि नहीं है कि उस व्यक्ति को उसके अधिकार से या उसकी निजी सम्पत्ति से वंचित कर दिया जावे।

4. यदि कोई पुरुष, विभाजित होने के पूर्व ही साधु होकर घर छोड़कर चला गया हो तो उसकी सम्पत्ति के भाग भी उसी प्रकार करने चाहिए; जैसे, उसकी उपस्थिति में होते और उसका भाग उसकी पत्नि या उसके अभाव में उसके पुत्र को दे देना चाहिए और यदि कोई अविवाहित मर जाता है या साधु हो जाता है तो उसका भाग, उसके भाई-भतीजों को यथायोग्य मिलता है।

5. उक्त के सम्बन्ध में यदि कोई विवाद उपस्थित होता है तो पंचों या न्यायालय आदि का सहयोग/परामर्श लिया जा सकता है।

सम्पत्ति-विभाग करने की विधि

1. सर्वप्रथम ही मन और भावों की शुद्धता के निमित्त तीर्थंकर भगवान् की पूजा करना चाहिए।

2. इसके बाद कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के समक्ष अविभाजित सम्पत्ति का अनुमान करके पुत्र का भाग निकाल लेना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भाग भी लगा लेने योग्य हैं।

3. यदि पिता ने स्वार्थवश या द्वेषभाव से अपनी स्त्रियों के या अयोग्य दायादों के स्वत्वों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है या विभाग में कोई अन्याय किया गया है तो वह अमान्य होगा, परन्तु यदि वह विभाग धर्मानुकूल किया गया है तो वह मान्य होगा, चाहे किसी को कुछ कम ही मिला हो। लेकिन वास्तव में विभाग, अधर्म और अन्याय से युक्त नहीं होना चाहिए।

4. ऐसे पिता का किया हुआ विभाग अयोग्य होगा, जो अत्यन्त अशान्त, क्रोधी, अति-वृद्ध, काम-सेवी, व्यसनी, असाध्य-रोगी, पागल, जुआरी, शराबी आदि हो।

5. यदि बड़ा भाई, विभाग करते समय कुछ सम्पत्ति कपट करके छोटे भाईयों से छिपा ले तो वह दण्डनीय अपराध होगा और वह अपने भाग से वंचित किया भी किया जा सकता है।

6. यदि भाईयों में सम्पत्ति-विभाग के विषय में झगड़ा (विवाद) हो तो नियमानुसार न्यायालय अथवा पंचायत द्वारा निर्णय करा लेना चाहिए। यदि विभाग के विषय में कोई सन्देह उत्पन्न हो (जैसे, कौन-कौनसी जायदाद किस-किसने पाई) तो ऐसी दशा में पंचों या न्यायालय के समक्ष मौखिक अथवा लिखित साक्षी द्वारा निर्णय करा लेना चाहिए।

7. यदि कोई भाई संसार-त्याग करके साधु हो जाय या मरण को प्राप्त हो जाए तो उसका भाग उसकी स्त्री को मिलना चाहिए।

* जब कोई मनुष्य, संसार त्यागना चाहे तो उसे सम्पत्ति का विभाग करते हुए सबसे पहले तीर्थंकरदेव की पूजा करना चाहिए।

* पुनः प्रतिष्ठित व्यक्तियों के सामने धार्मिक कार्यों एवं दानादि के लिए विभाग करके अपनी सम्पत्ति का यथोक्त स्त्री-पुत्रादि में विभाग करे। अथवा अपने बड़े पुत्र को छोटे पुत्रों का संरक्षक नियुक्त करे।

8. विभाग करने से पूर्व सर्वप्रथम ऋण चुका देना चाहिए या ऋण

चुकाने के लिए प्रबन्ध करके शेष सम्पत्ति के विभाग कर लेना चाहिए। ध्यान रहे –

* वस्त्र, आभूषण, खत्तियाँ (अनाज रखने के लिए कोठियाँ) आदि इसी प्रकार की दूसरी वस्तुएँ विभाज्य नहीं हैं।

* कुआँ आदि का भी विभाग नहीं किया जा सकता है।

* मवेशियों का पूरा पूरा भाग करना चाहिए, न कि टुकड़ों में या हिस्सों में।

* भाग करने से पूर्व छोटे भाईयों का विवाह कर देना उचित है या उनके विवाह के लिए धन का प्रबन्ध करके विभाग करना चाहिए।

* यदि एक से अधिक छोटी सहोदर बहिनें हों तो प्रत्येक भाई को अपने भाग का चतुर्थांश, उनके विवाह के लिए अलग निकाल देना चाहिए।

* यदि किसी मनुष्य ने कौटुम्बिक स्थावर सम्पत्ति को, जो पिता के समय जाती रही हो, उसे पुनः प्राप्त कर लिया हो तो उसको अपने जंगम सम्पत्ति के साधारण भाग से अधिक चतुर्थ भाग, और मिलना चाहिए।

* भाग इस प्रकार करने चाहिए कि किसी अधिकारी अर्थात् परिवार के सदस्य को असन्तोष न हो।

दायाद अर्थात् सम्पत्ति-विभाग के अधिकारी कौन-कौन?[1]

जैन ल के अनुसार दायाद के अधिकारियों का क्रम, विभिन्न संहिता ग्रन्थों में किंचित् अन्तर के साथ निम्न प्रकार से माना है –

1. विधवा अथवा विधुर
2. पुत्र एवं अविवाहित पुत्री
3. भ्राता

1. **जैन ल (जैन कानून),** पृष्ठ 29-35 के आधार पर

4. भतीजा
5. सात पीढ़ियों में सबसे निकट सम्बन्धी
6. विवाहित पुत्री
7. पुत्री का पुत्र
8. निकटवर्ती बन्धु
9. निकटवर्ती गोत्रज (14 पीढ़ियों तक का)
10. ज्ञात्या
11. राजा

इनके सम्बन्ध में विशेष परिस्थिति में निम्न नियम लागू होंगे –

1. जैन ल में जमाई, भांजा, सास-श्वसुर, लड़के की बहू, आदि को उत्तराधिकारी या दायाद नहीं माना है। व्यभिचारिणी विधवा का भी कोई अधिकार या दायका नहीं होता, वह केवल गुजारा पा सकती है।

2. विभाजित भाई के मरने पर उसकी विधवा अथवा पुत्र के अभाव में उसकी सम्पत्ति, उसके शेष भाईयों में बराबर बाँट ली जाएगी, लेकिन यदि पुत्र होगा तो वही अधिकारी होगा। यदि उसने कोई निकटवर्ती सम्बन्धी नहीं छोड़ा है तो उसकी सम्पत्ति का अधिकार पूर्वोक्त क्रम के अनुसार होगा।

3. यदि किसी मनुष्य के पुत्र नहीं है तो जायदाद, प्रथम उसकी विधवा को, पुनः मृतक की जीवित माता को मिलेगी।

4. दायभाग की जो नीति किसी मृत व्यक्ति पर लागू होती है, वही मनुष्य के लापता और संसार-विरक्त (साधु आदि) हो जाने पर लागू होती है। जिस व्यक्ति का सात वर्ष तक कुछ पता न चले, उसे मृतक मान लिया जाता है।

5. दाय सम्बन्धी सर्व वाद-विवाद को न्यायालय या स्थानीय रिवाज के अनुसार निर्णय करा लेना चाहिए, जिससे पुनः झगड़ा न होने पावे।

6. यदि किसी पुरुष के एक से अधिक स्त्रियाँ हों और वे राजी

हों तो सबसे बड़ी विधवा को अधिकारी बनाकर वह कुटुम्ब का भरण-पोषण करे। उन सब विधवाओं की सम्पत्ति को उनका पुत्र या सौतेला पुत्र प्राप्त करता है।

7. जैन संविधान के अनुसार राजा का कर्तव्य है कि यदि किसी मनुष्य का उत्तराधिकारी ज्ञात न हो तो वह तीन वर्ष पर्यन्त उसकी सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और यदि फिर भी कोई व्यक्ति आकर उसका अधिकार न सिद्ध कर सके तो राजा उसे स्वयं ले सकता है, परन्तु वह उस द्रव्य को पारमार्थिक कार्यों में खर्च करे।

स्त्रीधन किसे कहते हैं ?[1]

जिस प्रकार पैत्रिक सम्पत्ति विभाग योग्य नहीं होती, उसी प्रकार स्त्रीधन भी विभाग योग्य नहीं होता। पिता के किसी कुटुम्बी को कोई ऐसी वस्तु पुनः ग्रहण नहीं करनी चाहिए, जो उन्होंने विवाहिता पुत्री को दे दी हो या जो उसके श्वसुर/पति के परिवार से उसको मिली हो; इस प्रकार निम्न पाँच प्रकार की सम्पत्ति स्त्रीधन कहलाती है –

1. वह आभूषण इत्यादि जो पुत्री को उसके माता-पिता विवाह के समय देते हैं।

2. जो द्रव्य, वधू अपने पिता के घर से अपने पिता और भाईयों के सम्मुख, उनकी जानकारी में लावे।

3. जो सम्पत्ति, सास-श्वसुर, वधू को विवाह के समय देते हैं।

4. जो वस्तुएँ, विवाह के समय अपनी या पति के कुटुम्ब की स्त्रियों ने दी हों।

5. जो सम्पत्ति, विवाह के पश्चात् माता-पिता-भाई आदि मायरे से मिले।

6. विवाह के पश्चात् जो सम्पत्ति, सास-श्वसुर या पति से मासिक, पाक्षिक या साप्ताहिक रूप से हाथ-खर्च हेतु मिले।

1. **जैन ल (जैन कानून)**, पृष्ठ 36-38 के आधार पर

इस प्रकार संक्षेप में जो कुछ कपड़े, गहने, गाड़ी, घोड़े आदि विवाह के समय या विवाह के पश्चात् स्त्री को कुटुम्बीजनों या श्वसुर के परिवारजनों या पति से मिलता है, वह सब उसका 'स्त्रीधन' कहलाता है, वह स्वयं ही उसकी स्वामिनी होती है, किन्तु वह किसी 'स्थावर-सम्पत्ति' की स्वामिनी नहीं है, जो उसे उसके पति ने दी हो।

अपवाद के रूप में जैन संविधान के अनुसार स्त्रीधन को अकाल के समय अथवा धर्म पर आई हुई आपत्ति के समय अथवा पति के कारागृह में होने पर उपयोग की जा सकती है, परन्तु वह स्त्रीधन को उसी दशा में ले सकता है, जब उसके पास अन्य सम्पत्ति न हो तो भी यदि पति स्त्रीधन को लेने पर बाध्य हो जावे और उसको वापिस न कर सके तो वह उसे देने के लिए बाध्य नहीं है।

लेकिन स्त्री को स्वयं अपने स्त्रीधन को व्यय करने का अधिकार अवश्य होता है, वह उसको अपने भाई-भतीजों को भी दे सकती है।

स्त्री के मरण होने के पश्चात् उसका स्त्रीधन, पुत्री या दोहिता-दोहित्रियों के अभाव में उसके पुत्र या बहिन की पुत्री को भी मिल सकता है। यदि स्त्री सन्तान-हीन ही मर जाए तो उसका स्त्रीधन उसके पति को मिलेगा।

इस प्रकार विवाहिता पुत्रियाँ ही अपनी माताओं के स्त्रीधन को पाती हैं। विवाहिता स्त्री का स्त्रीधन, उसके पिता तथा पिता के कुटुम्बी-जनों को कदापि नहीं लेना चाहिए। जबकि अविवाहिता पुत्री का स्त्रीधन, उसकी मृत्यु के बाद उसके भाई को मिलता है।

'जैन संविधान' के अनुसार दत्तक पुत्र का विधान[1]

जैन संविधान के अनुसार सम्पत्ति के अधिकारी पुत्र दो ही माने गये हैं – **औरस पुत्र,** जो विवाहिता स्त्री से उत्पन्न हुआ हो, **दत्तक पुत्र,** जो कानूनन गोद लिया गया हो।

1. **जैन ल (जैन कानून),** पृष्ठ 1-7 के आधार पर

दत्तक पुत्र लेने का प्रयोजन

दत्तक पुत्र लेने के अनेक कारण हो सकते हैं; जैसे,

1. यदि औरस पुत्र हो ही नहीं,

2. यदि औरस पुत्र मर गया हो,

3. यदि औरस पुत्र को उसके दुराचार के कारण घर से निकाल दिया हो और उससे पुत्रत्व-सम्बन्ध तोड़ दिया हो,

4. यदि पूर्व दत्तक पुत्र को उसके चारित्र-भ्रष्टता के कारण घर से निकाल दिया हो और उससे पुत्रत्व-सम्बन्ध तोड़ दिया हो तो भी दूसरा दत्तक पुत्र गोद लिया जा सकता है,

5. लेकिन जैन संविधान के अनुसार यदि पुत्र अविवाहित मर गया हो तो उसके लिए गोद नहीं लिया जा सकता अर्थात् उसके पुत्र के रूप में गोद नहीं लिया जा सकता है।

6. यदि पति मर गया हो, तो विधवा स्त्री भी गोद ले सकती है। विधवा को किसी की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। इसमें विशेष इतना ही है कि वही विधवा गोद ले सकती है, जिसने जायदाद पाई है।

दत्तक पुत्र बनने की योग्यता

1. देवर, पति के भाई का पुत्र, पति के कुटुम्ब का बालक, पुत्री का पुत्र, बहन का पुत्र, पति के गोत्र का कोई भी बालक, अथवा जैन-नीति के अनुकूल अनाथ आदि गोद लिये जा सकते हैं।

2. उक्त क्रम से ही गोद लेना श्रेष्ठ माना गया है।

3. बड़ी आयु का विवाहित या सन्तानवाला पुरुष भी गोद लिया जा सकता है। लेकिन ध्यान रहे, वह उसकी होनेवाली माँ या विधवा से बड़ी उम्र का न हो।

4. यदि दत्तक लेने योग्य पुत्र, वयस्क है तो उसके माता-पिता

के साथ सम्मति भी आवश्यक है, लेकिन यदि वह अवयस्क है तो उसके निकट-सम्बन्धी की सम्मति पर्याप्त मानी जाएगी।

5. यदि दत्तक पुत्र, अपनी माता-पिता की प्रथम सन्तान है तो उसे गोद नहीं देना चाहिए।

दत्तक पुत्र को गोद लेने की विधि

1. दत्तक लेने योग्य पुत्र का निर्धारण होने के उपरान्त पिता या विधवा प्रातःकाल मन्दिरजी में जाकर, श्री तीर्थंकरदेव की पूजा करें।

2. पश्चात् दिन में कुटुम्ब एवं समाज के लोगों को एकत्रित करके, उनके सामने पुत्र-जन्म का उत्सव एवं पुत्र-जन्म की भाँति आवश्यक संस्कार करें।

3. इस अवसर पर दत्तक के मूल माता-पिता स्वयं, नवीन माता-पिता या विधवा माता की गोद में देने की विधि अवश्य सम्पन्न करें, तथा यदि बालक अनाथ हो तो समाज के गणमान्य व्यक्ति के द्वारा गोद देने की विधि सम्पन्न कराना चाहिए।

4. साथ ही इस विधि के सम्बन्ध में वकील आदि के माध्यम से कानूनन लेख आदि भी तैयार करके रजिस्ट्री करावें।

5. यदि कोई विधवा गोद लेती है तो उस विधवा को चाहिए कि वह सर्व सम्पत्ति का भार, अपने दत्तक पुत्र को सौंप कर स्वयं धर्म-कार्य में संलग्न हो जाए।

दत्तक पुत्र के अधिकार

1. यदि दत्तक पुत्र, माता-पिता की प्रेमपूर्वक सेवा करता है और उनका आज्ञाकारी है तो वह औरस पुत्र के समान ही समझा जाता है।

2. माता-पिता के जीवन पर्यन्त दत्तक पुत्र को कोई अधिकार, उसकी पैतामहिक (बाबा की) सम्पत्ति को बेचने या गिरवी रखने का नहीं होता है।

3. यदि दत्तक पुत्र, अयोग्य (कुचलन) हो जाए या सदाचार के नियमों के विरुद्ध कार्य करने लगे या धर्म-विरुद्ध हो जाए और किसी भी प्रकार से न माने तो उसे न्यायालय द्वारा चाहे वह विवाहित हो, अथवा अविवाहित हो, उसे घर से निकाल दें और उससे पुत्रत्व-सम्बन्ध तोड़ दें तो फिर उसका दत्तक-पुत्र-सम्बन्धी कोई अधिकार शेष नहीं रह जाता।

तात्पर्य यह है कि जैन संविधान के अनुसार पुत्रत्व तोड़ने का मुकदमा हो सकता है। ध्यान रहे कि इस मुकदमे का फैसला करते समय न्यायालय, प्राकृतिक न्याय को लक्ष्य में रखकर फैसला करे। साथ ही अर्हन्नीति के शब्द तो इस सम्बन्ध में इतने विशाल हैं कि उसमें औरस पुत्र भी आ जाता है।[1]

4. यदि दत्तक पुत्र लेने के बाद पिता की सवर्णा स्त्री से औरस पुत्र उत्पन्न हो जाए तो दत्ताक पुत्र को चतुर्थ भाग सम्पत्ति देकर, पहले से ही पृथक् कर देना चाहिए अथवा वह भी औरस पुत्र के समान वसीयत का अधिकारी होता है। लेकिन यदि वह औरस पुत्र, असवर्णा शूद्रा स्त्री से उत्पन्न है तो वह दत्तक पुत्र को अनधिकारी नहीं कर सकेगा, मात्र गुजारा-भत्ता लेने का अधिकारी है।

5. सामान्यतया पगड़ी बाँधने के योग्य औरस पुत्र ही होता है, परन्तु यदि औरस पुत्र के उत्पन्न होने से पहले ही दत्तक पुत्र को पगड़ी बाँध दी गई है तो औरस पुत्र को पगड़ी नहीं बँधेगी, बल्कि दोनों ही पुत्र, समान भाग के अधिकारी होंगे।

भरण-पोषण (गुजारा) के अधिकारी[2]

'जैन ल' के अनुसार सम्पत्ति पानेवाले का कर्तव्य है कि वह अपने परिवार के उन व्यक्तियों का भरण-पोषण (गुजारा) करे, जो कि

1. देखो, **अर्हन्नीति,** 86-88, एवं 95

2. **जैन ल (जैन कानून),** पृष्ठ 39-41 के आधार पर

उसके अधिकारी हैं। उन भरण-पोषण (गुजारा) के अधिकारियों का क्रम, विभिन्न संहिता ग्रन्थों में निम्न प्रकार से माना है —

1. जीवित बालक एवं मृतक पुत्रों की विधवाएँ व सन्तानें, यदि कोई हों।

2. परिवार का वह सदस्य, जो भागाधिकार पाने के अयोग्य हो।

3. सबसे बड़े पुत्र के सम्पत्ति पाने की अवस्था में परिवार के अन्य सदस्य।

4. अविवाहित पुत्रियाँ और बहिनें।

5. विभाग होने के पश्चात् उत्पन्न हुए भाई, जबकि पिता की सम्पत्ति पर्याप्त न हो, परन्तु ऐसी दशा में केवल विवाह करा देने तक का भार बड़े भाइयों पर होता है। यहाँ 'विवाह तक' से तात्पर्य स्वभावतः कुमार-अवस्था में होने वाला विद्याध्ययन और भरण-पोषण भी इसमें शामिल है।

6. विधवा बहुएँ, उस अवस्था तक, जब तक कि वे सदाचारिणी और शीलवती हों।

7. ऐसी विधवा माता, जिसको व्यभिचार के कारण दायभाग नहीं मिला हो।

8. तीनों उच्च वर्णों के पुरुषों से, जो शूद्र स्त्री के पुत्र हों।

9. माता और पिता, जब वे दायभाग के अयोग्य हों।

10. दासी-पुत्र।

उक्त क्रम से निष्कर्ष के रूप में ज्ञात होता है कि —

1. सामान्यतः सब बच्चे चाहे वे उत्पन्न हो गये हों या गर्भ में हों और वे सभी सदस्य, जो परिवार-कुटुम्ब से सम्बन्ध रखते हों, कौटुम्बिक सम्पत्ति में से भरण-पोषण के अधिकारी हैं।

2. परिवार की पुत्रियों के विवाह भी उसी सम्पत्ति में से होना चाहिए।

3. वयस्क पुत्रादि सदस्य, भरण-पोषण के अधिकारी नहीं हैं।

4. जो युवतियाँ (बहुएँ), विवाह द्वारा अपने परिवार में आ जावें, वे सब भी भरण-पोषण की अधिकारी हैं, चाहे उनके सन्तान हो या न हो, परन्तु उसी अवस्था में जबकि उनके पति भी परिवार में सम्मिलित होकर रहते हों।

* यदि उनमें से कोई व्यभिचारिणी है तो घर से निकाल दी जाएगी, लेकिन यह बात विधवा माता पर लागू नहीं होती, परन्तु वह भी दाय की भागीदार तो नहीं ही होगी।

5. माता के गुजारे में उस व्यय को भी सम्मिलित किया गया है, जो उसे धार्मिक क्रियाओं के लिए आवश्यक हो। भावार्थ यह है कि तीर्थ-यात्रा आदि धार्मिक आवश्यकताओं के लिए पुत्र तथा विधवा पुत्रवधू से, जिसके पास सम्पत्ति के अधिकार हों; वह विधवा माता खर्चा पाने की अधिकारिणी है।

6. पुत्रियों के विवाह के सम्बन्ध में सीमा के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है, जो अनुमानतः इस कारण से है कि कोई नित्य और अविचल नियम इस विषय में नियुक्त नहीं हो सकता, जिसका व्यवहार प्रत्येक अवस्था में हो सके।

* भद्रबाहु संहिता, वर्द्धमान नीति और अर्हन्नीति के अनुसार सब भाईयों को अपने अपने भाग का चतुर्थांश सहोदर बहिनों की शादी के लिए अलग निकाल देना चाहिए, परन्तु इन्द्रनन्दि जिन संहिता के अनुसार यदि दो भाई और एक अविवाहिता बहिन हों तो दाय-सम्पत्ति के तीन समान भाग करने चाहिए।

7. दासीपुत्रों के भरण-पोषण की सीमा उनके पिता की सम्मति पर है, जब तक वे जीवित हैं, और पिता के पश्चात् वह असली पुत्रों से अर्द्धभाग तक पा सकता है। यदि पिता ने उसके गुजारे का कोई अन्य प्रबन्ध नहीं कर दिया हो तो वह गुजारे का अधिकारी नहीं है।

8. यदि किसी विधवा ने कोई पुत्र, गोद लेकर उसी को अधिकार

दे दिया हो तो वह गुजारा पाने तथा दत्तक को कुमारावस्था में उसकी संरक्षिका होने की अधिकारिणी होगी।

9. यदि पिता की सम्पत्ति माता ने पाई हो तो पुत्र भी माता से गुजारे का अधिकारी है। सद्व्यवहार के नाते भी माता अपने बच्चों का भरण-पोषण करने पर बाध्य ही है, यदि वह ऐसा करने की सामर्थ्य रखती हो।

'जैन संविधान' के अनुसार संरक्षकता का कर्तव्य[1]

जो पुत्र-पुत्रियाँ, जब तक विवाह-योग्य वयस्क नहीं होते, तब तक उनकी संरक्षकता का कर्तव्य, जैन संविधान के अनुसार निम्न व्यक्ति निभाते हैं –

1. पिता, 2. पितामह, 3. भाई, 4. चाचा, 5. पिता का गोत्रज, 6. धर्मगुरु, 7. नाना, 8. मामा।

इसी प्रकार अन्य संरक्षण-योग्य सदस्यों का संरक्षकता का नियम निम्न प्रकार है –

1. बड़े भाईयों के साथ छोटे भाईयों को रहने की आज्ञा है और बड़े भाई का कर्तव्य है कि पिता के समान उनके साथ व्यवहार करे।

2. यदि विभाग होने के पश्चात् भी कोई भाई उत्पन्न हो जाए तो बड़े भाईयों का कर्तव्य है, उसका पालन-पोषण करके उसका विवाह करें।

3. छोटी बहिनों की संरक्षकता, उनके विवाह होने तक, पिता के अभाव में, बड़े भाईयों को प्राप्त होती है।

4. यदि किसी विवाहिता पुत्री के पति के कुटुम्ब में उसकी रक्षा और उसकी सम्पत्ति की देखभाल करनेवाला कोई न हो तो उसके पिता के कुटुम्ब का कोई व्यक्ति संरक्षक हो सकता है।

---

1. **जैन ल (जैन कानून)**, पृष्ठ 42-43 के आधार पर

5. यदि माता जीवित है और कोई छोटी लड़की या लड़का उसके साथ रहता हो, जबकि उसके अन्य भाई या तो हों ही नहीं, अथवा अलग रहते हों तो उन बच्चे की संरक्षकता, उसकी माता को करना चाहिए।

6. यदि उन्मत्तता, असाध्य रोग, या इसी प्रकार की कोई समस्या के कारण कोई विधवा, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने के अयोग्य हो तो उसकी रक्षा, उसका पुत्र, उसके पति का भाई, भतीजा या गोत्रज आदि और उनके अभाव में उनके पड़ौसी को करना चाहिए; लेकिन वर्तमान में ऐसे विषयों पर सरकारी कानून, 'गार्डियन्ज एण्ड वार्ड्ज ऐक्ट' के अनुसार निर्णीत होता है।

'जैन संविधान' के अनुसार रीति-रिवाज का विधान[1]

रीति-रिवाजों का भी संवैधानिक-दृष्टि से बहुत महत्त्व होता है, इसी कारण बैरिस्टर चम्पतरायजी ने इस विषय में अपनी पुस्तक 'जैन कानून' में महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ की हैं।

1. रीति-रिवाज अनेक प्रकार के होते हैं – साधारण व विशेष अर्थात् जातीय, कौटुम्बिक और स्थानीय।

2. प्रत्येक मुकदमे में रिवाजों को गवाहों के माध्यम से साबित करना पड़ता है।

3. कौटुम्बिक रिवाजों को साबित करने के लिए बड़ी प्रमाणित साक्षी की आवश्यकता होती है।

4. आजकल कानून के अनुसार न्यायालयों में जैन-जाति के मनुष्यों के झगड़े, रिवाज-विशेष के अनुसार निर्णय किये जाते हैं।

5. लेकिन रिवाज-विशेष के अभाव में हिन्दू-कानून लागू होता है; इसमें हिन्दू-कानून का वह भाग, जो द्विजों के लिए लागू होता है, वह जैनियो के लिए लागू माना गया है।

---

1. **जैन ल (जैन कानून)**, पृष्ठ 44-46 के आधार पर

जैसे, मुम्बई (बम्बई) में एक मुकदमे में एक मृतक पुरुष की बरसी (एक वर्ष बाद किया जानेवाला श्राद्ध) के सम्बन्ध में भी हिन्दू कानून लागू किया गया था; यद्यपि जैन-जाति में बरसी का रिवाज नहीं है और वह जैन सिद्धान्त के नितान्त बाहर व विरुद्ध है।

6. धर्म-परिवर्तन का अर्थात् किसी जैनी के हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लेने से उसके स्वत्वों (अधिकारों) पर कोई असर नहीं पड़ता।

7. हिन्दू कानून के अन्तर्गत स्थानीय नियम, उसी अवस्था में लागू होगा, जबकि किसी दूसरे नियम या कानून का होना प्रमाणित न हो।

8. अब यह नियम सिद्ध हो गया है कि एक स्थान का रिवाज, दूसरे स्थान के रिवाज को प्रमाणित करने के लिए साबित किया जा सकता है और प्रासंगिक विषय है। यह भी माना जाएगा कि हिन्दुओं की भाँति जैनी लोग भी एक स्थान से दूसरे स्थान को अपने रीति-रिवाज साथ ले जाते हैं, जब तक कि यह न दिखाया जाय कि पुराने रीति-रिवाज छोड़कर स्थानीय रीति-रिवाज ग्रहण न कर लिये गये हैं।

9. रीति-रिवाज, प्राचीन, निश्चित, व्यवहृत और उचित होने चाहिए। सदाचार के प्रतिकूल, सरकारी कानून के विरुद्ध और सामाजिक नीति (Public Policy) के द्रोही रिवाज उचित नहीं समझे जाएँगे।

10. गवाहों की निजी सम्मति की अपेक्षा, उदाहरणों और झगड़ेवाले मुकदमों के फैसलों का मूल्य रिवाज को साबित करने के लिए अधिक है।

11. ऐसा रिवाज, जो न्यायालयों में बार-बार प्रमाणित हो चुका है, कानून का अंश बन जाता है और प्रत्येक मुकदमे में उसके साबित करने की आवश्यकता नहीं रहता है।

इस प्रकार 'जैन कानून' पुस्तक में और भी अनेक उदाहरणों से रिवाज का कानूनी महत्त्व समझाने का प्रयत्न किया है।

लौकिक जीवन के कानूनों का निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में 'जैन लॉ' के अनुसार जैन समाज के लिए निम्न कानून (संविधान) मान्य किये जाना चाहिए –

1. गृह-स्वामी, अपनी सम्पत्ति का पूर्ण अधिकारी होता है, अतः उसके मरणोपरान्त उसकी विधवा, पति की सम्पत्ति की अधिकारी है। वह गृह-स्वामिनी की तरह, जीवन-निर्वाह करे, चल-अचल जायदाद को सुरक्षित रखे और यथायोग्य दान देवे।

2. महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति में भी अधिकार होता है।

3. विवाह, दो प्रकार से मान्य हैं – धर्म-विवाह और अधर्म-विवाह।

4. तात्पर्य यह है कि यद्यपि विवाह, बराबरीवाले समूहों में ही होता है, तथापि उच्च वर्ण के पुरु ा, नीच वर्ण की कन्या के साथ विवाह तो कर सकता है, लेकिन नीच वर्ण की कन्या की सन्तान, उच्च वर्ण के पिता की सम्पत्ति की अधिकारी नहीं है।

5. गृह-कार्य करने का दायित्व, मुख्यतः पुत्र-वधु का ही होता है, सास का नहीं; लेकिन सास, माता की तरह वात्सल्य अवश्य रखे।

6. जिस धन का कोई स्वामी नि चित न हो, उसे तीन व ा तक सुरक्षित रखें, ताकि उसका स्वामी निश्चित किया जा सके, अन्यथा उसके बाद राजा, स्वयं उसका ग्रहण करे।

7. यदि पति लापता हो जाए या बावला हो जाए तो उसके समस्त धन की स्वामिनी उसकी पत्नि होती है।

8. इसी प्रकार 'जैन लॉ' अर्थात् जैन संविधान के अन्तर्गत दत्तक पुत्र के अधिकार, सम्पत्ति का बँटवारा, रीति-रिवाज, विवाह, वारिस, असहाय, नाबालिग, विधवा की सुरक्षा, वर-वधु के लक्षण, सगाई, गोत्र आदि सम्बन्धी नियमों का विस्तृत तरीके से उल्लेख किया गया है।

9. यद्यपि जैन कानून में सीधे तौर पर विधवा-विवाह का समर्थन नहीं किया गया है, उसे ब्रह्मचर्य आदि के लिए ही प्रेरित किया है;

तथापि कन्या की छोटी उम्र आदि कारणों को देख कर, उसका भी निषेध नहीं किया गया है।

सम्पत्ति आदि की दृष्टि से जैन लॉ और हिन्दू लॉ में अन्तर[1]

यह सत्य है कि हिन्दू-लॉ और जैन-लॉ में कुछ व्यवहारिक बातों में समानता हो सकती है तो भी यदि आर्यों का कोई स्वतन्त्र कानून हो सकता है तो जैन-लॉ ही हो सकता है।

* कारण कि हिन्दूधर्म, जैनधर्म का स्रोत किसी प्रकार से नहीं हो सकता, वरन् इसके विरुद्ध जैनधर्म, हिन्दूधर्म का सम्भवतः मूल स्रोत हो सकता है; क्योंकि हिन्दूधर्म और जैनधर्म में ठीक वही सम्बन्ध पाया जाता है, जो विज्ञान और काव्य-रचना में हुआ करता है।

* एक वैज्ञानिक है और दूसरा अलंकार-युक्त; इसमें पहिला कौन हो सकता है और पिछला कौन? –

* इसका उत्तर टॉमस कारलाइल के कथनानुसार यों दिया जा सकता है कि 'विज्ञान (science) का सद्भाव, काव्य-रचना (allegory) से पूर्व होता है अर्थात् पहिले विज्ञान होता है और फिर पीछे काव्य-रचना।

अब यदि हिन्दू मत को अलंकार-युक्त न मान कर, जैन मत से उसकी तुलना करें तो बहुत अन्तर मिलते हैं।

समानता, सिर्फ थोड़ी-सी बातों में है, वह भी केवल उन बातों में, जो लौकिक-व्यवहार से सम्बन्ध रखती हैं। यहाँ तक कि यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो वास्तव में उनमें भी उद्दे य की अपेक्षा भिन्नता है क्योंकि –

* जैनी, जगत् को अनादि मानते हैं, जबकि हिन्दू ई वरकृत।

* जैन मत में पूजा, किसी अनादि-निधन स्वयंसिद्ध परमात्मा की

1. **जैन ल (जैन कानून)**, प्रस्तावना, पृ ठ 5-18 के आधार पर

नहीं होती है, वरन् उन महान् पुरु ों की होती है, जिन्होंने अपनी उद्दे य-सिद्धि प्राप्त कर ली है और स्वयं परमात्मा बन गये हैं। जबकि हिन्दू मत में जगत्-स्वामी या जगत्-जनक एक ई वर की पूजा होती है।

* पूजा का भाव भी हिन्दू-मत में वही नहीं है, जो जैन-मत में है। जैन-मत की पूजा, आद र्ा की पूजा (Idealatory) है।

* जैन मत में देवताओं को भोग लगाना आदि क्रियाएँ नहीं होती हैं, न देवता से कोई प्रार्थना की जाती है कि हमें यह वस्तु प्रदान करो। वहाँ तो केवल उन जैसा बनने की भावना से उनकी भक्ति की जाती है। जबकि हिन्दू मत में देवताओं को प्रसन्न करने से अर्थ-सिद्धि मानी गई है।

* ाास्त्रों के सम्बन्ध में तो जैनधर्म और हिन्दूधर्म में जमीन-आसमान का अन्तर है। हिन्दुओं का एक भी ाास्त्र, जैनियों को मान्य नहीं है और न हिन्दू ही जैनियों के ाास्त्रों को प्रमाण मानते हैं; क्योंकि जैनधर्म, वीतरागता का मार्ग है, जबकि हिन्दूधर्म में स्प टरूप से रागी-द्वे ाी देवताओं को पूज्य माना गया है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे से स्प टतया पृथक्-पृथक् हैं।

* जिन क्रियाओं में हिन्दू और जैनियों की समानता पाई जाती है, वे केवल सामाजिक क्रियाएँ है, परन्तु धार्मिक (एवं दार्शनिक) दृ टि से उनके भाव भी एक-दूसरे से विपरीत हैं।

* साधारण सभ्यता-सम्बन्धी समानता, विविध जातियों में हुआ ही करती है। जैसे, परस्पर-विवाह आदि का होना, इत्यादि।

* राजाओं आदि के प्रभाव से अथवा आपत्तिकाल में भी धर्म और प्राणरक्षा के निमित्त से कुछ पारस्परिक प्रभाव देखे जाते हैं, परन्तु उनका यहाँ समावे ा करना उचित नहीं माना जा सकता है।

* पूर्वकाल में भारतव र्ा में हिन्दुओं ने जैनियों पर बहुत अत्याचार किये। जैन श्रावकों और साधुओं को घोर दुःख पहुँचाए और उनका

प्राणघात तक किया – ऐसी द ाा में जैनियों ने अपने रक्षार्थ ब्राह्मणीय प्रवृत्तियों को अपनी रक्षा का साधन बनाया। अनेक सामाजिक वि ायों में ब्राह्मणों को पूजा-पाठ के निमित्त बुलाना प्रारम्भ किया।

* यह रिवाज़ अभी भी कहीं-कहीं प्रचलित है और अब भी अनेक विवाहादि संस्कारों में ब्राह्मणों से काम लेते हैं, परन्तु धर्म-सम्बन्धी वि ाय नितान्त पृथक् है।

* अनभिज्ञ और अर्धविज्ञ पुरु ाों ने आरम्भ में जैनधर्म को बौद्ध-धर्म की ााखा समझ लिया था, किन्तु अब इस भ्रम में कदाचित् ही कोई पड़ता हो।

* अब, इसको हिन्दुमत की ााखा सिद्ध करने को कुछ बुद्धिमान उतारू हुए हैं, सो यह भ्रम भी जब उच्च कोटि के विद्वान् इस ओर ध्यान देंगे तो वह भी ाीघ्र दूर हो जाएगा।

* नीति के सम्बन्ध में भी जैनियों और हिन्दुओं में बड़े-बड़े अन्तर हैं। जैनियों में दत्तक पुत्र पारलौकिक सुख प्राप्त करने के उद्दे य से नहीं लिया जाता, क्योंकि पुत्र के होने या न होने से कोई मनु य पुण्य-पाप का भागी नहीं होता है।

जैसे, बहुत से तीर्थंकर पुत्रवान् न होकर भी परम पूज्य पद को प्राप्त हुए हैं। इसके विपरीत बहुत से मनु य पुत्रवान् होते हुए भी नरकगामी होते हैं। न तो यह जैनधर्म का उपदे ा है, न हो सकता है कि कोई अपनी क्रियाओं या दानादि से किसी मृतक जीव को लाभ पहुँचा सकता है।

* पिण्ड-दान का ाब्द, जहाँ-कहीं जैन-नीति- ाास्त्रों में मिलता है, उसका वही अर्थ नहीं है, जो हिन्दुओं के ाास्त्रों में पाया जाता है, बल्कि जैनियों ने यह ाब्द अत्याचार के समय में ब्राह्मण जाति के प्रसन्नतार्थ अपनी कुछ कानूनी पुस्तकों में बढ़ा लिया है।

* 'जैन लॉ' में पिण्ड-दान का अर्थ ाब्दार्थ में लगाना होगा। जैसे, 'स-पिण्ड' का अर्थ ाारीरिक अथवा ारीर-सम्बन्धी है, उसी प्रकार

पिण्ड-दान का अर्थ पिण्ड का प्रदान करना, अथवा वीर्यदान करना, भावार्थ पुत्रोत्पत्ति करना है, जिसके द्वारा पिण्ड अर्थात् ारीर की उत्पत्ति होती है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार पिण्ड-दान का इसके अतिरिक्त और कोई ठीक अर्थ नहीं हो सकता है। यह ध्यान देने योग्य है कि **अर्हन्नीति** में इसका उल्लेख आता है, जो वेताम्बर सम्प्रदाय का एक मात्र नीति-सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त पिण्ड-दान का अन्यत्र कहीं भी उल्लेख नहीं आता है।

* स्त्रियों के अधिकारों के वि ाय में भी 'जैन लॉ' में बहुत बड़ा अन्तर है। 'जैन लॉ' के अनुसार स्त्रियाँ, दायभाग की पूर्णतया अधिकारी होती हैं। हिन्दू लॉ में उनको केवल जीवन पर्यन्त का अधिकार मिलता है। सम्पत्ति का पूर्णतया अधिकार, अर्द्धांगिनी के रूप में जैन लॉ में ही पाया जाता है। पुत्र भी उसके समक्ष कोई अधिकार नहीं रखता है।

* 'जैन लॉ' में लड़की केवल बाबा (पितामह) की सम्पत्ति में अधिकारी है। पिता की निजी स्थावर-सम्पत्ति में उसको केवल गुजारे का अधिकार प्राप्त होता है और पिता, अपने जंगम द्रव्य का पूर्ण अधिकारी है, उसे वह चाहे जिस प्रकार व्यय करे।

* हिन्दू लॉ में जहाँ अविभाजित परिवार की प्र ांसा की गई है। वहीं 'जैन लॉ' में उसका नि ोध न करते हुए पृथक्ता का आग्रह रखा गया है, ताकि धर्म की वृद्धि हो।

* 'जैन लॉ' में अविभाजित सम्पत्ति भी सामुदायिक द्रव्य (Joint tinancy) के रूप में है, न कि अविभक्त सम्पत्ति (Joint estate) के रूप में। इसमें भेद यह है कि हिन्दू लॉ के अनुसार ज्वाइन्ट इस्टेट में (अविभक्त-सम्पत्ति की अवधारणा स्वीकार करने पर) यदि कोई सहभागी मर जाए तो उसके उत्तराधिकारी दायाद नहीं होते, अव ाष्ट भागीदारों की ही जायदाद रहती है और हिस्सों का तखमीना, बटवारे के समय तक नहीं हो सकता है।

लेकिन 'जैन लॉ' के अनुसार ज्वाइन्ट टेनेन्सी में (सामुदायिक द्रव्य की अवधारणा स्वीकार करने पर) एक सहभागी के मर जाने पर उसके दायाद उसके भाग के अधिकारी हो जाते हैं; इसलिए हिन्दू लॉ में खानदान मु तरिका मिताक्षरी की द ाा में मृत भ्राता की विधवा की कोई हैसियत नहीं होती है और वह केवल भोजन-वस्त्र ही पा सकती है।

* अस्तु, हिन्दू लॉ में स्त्री का कोई अधिकार नहीं है। पति मरा और वह भिखारिणी हो गई। पुत्र, चाहे अच्छा निकले, चाहे बुरा, माता को हर समय उसके समक्ष कौड़ी-कौड़ी के लिए हाथ पसारना और गिड़गिड़ाना पड़ता है।

जैसे, बहुतेरे नये नवाब, भोग-विलास और वि ाय-सुख भोगने में घर का धन न ट कर देते हैं। वे याएँ, उनकी धन-सम्पत्ति द्वारा आनन्द करती हैं और उसे पानी की तरह बहाती हैं। माता और पत्नी, घर में दो-दो पैसे के लिए अकिंचन बैठी रहती हैं।

यदि भाई-भतीजों के हाथ धन लगा तो वे काहे को मृतक की विधवा की चिन्ता करेंगे और यदि करेंगे भी तो टुकड़ों पर बसर करायेंगे।

* यदि कोई पुत्र, धर्मभ्र ट एवं दु ट वा ढ़ीठ है और किसी तरह से न माने तो जैन नीति (जैन ल) के अनुसार उसको घर से निकाल देने की भी आज्ञा है, परन्तु हिन्दू लॉ के अनुसार ऐसा नहीं हो सकता।

* 'जैन लॉ' के अनुसार पुत्र की उपस्थिति में भी विधवा का, मृत पति की सम्पत्ति को स्वामिनी की हैसियत से पाना, वास्तव में अत्यन्त लाभदायक है; इससे पुत्र को व्यापार करने का साहस होता है और वह आलस्य और जड़ता से बचता है। इसके अलावा उसे सदाचारी और आज्ञाकारी बनना पड़ता है।

* यही कारण है कि जैनियों में सदाचारी व्यक्तियों की संख्या अन्य जातियों की अपेक्षा अधिकतर पाई जाती है।

* हिन्दू लॉ में यदि किसी के पुत्र नहीं है और सम्पत्ति विभाज्य है तो विधवा के प चात् उस सम्पत्ति को उसकी पुत्री और उसके बाद नाती पाता ही पाता है, पति के कुटुम्ब के लोग नहीं पाते क्योंकि वह उस सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी नहीं होती, वरन् यावज्जीवन अधिकारिनी होती है। यदि वह इच्छा भी करे तो भी नाती को अनधिकृत करके पति के भाई-भतीजों को नहीं दे सकती।

* इसके विरुद्ध 'जैन लॉ' में विधवा सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती है। पुत्री या नाती का कोई अधिकार नहीं होता; अतः यदि उसके पति के भाई-भतीजे उसको प्रसन्न रखें और उसका आदर और विनय करें तो वह उनको सारा धन दे सकती है।

* इस कारण 'जैन लॉ' की वि ि टता सूर्यवत् कान्तियुक्त है।

* यह भी ज्ञात रहे कि यदि कहीं ऐसा प्रकरण उपस्थित हो कि पुरु ा को अपनी स्त्री पर वि वास नहीं है तो उसका भी प्रबन्ध 'जैन लॉ' में मिलता है। ऐसे अवसर पर वसीयत के द्वारा कार्य करना चाहिए और स्वेच्छानुकूल अपने धन का प्रबन्ध कर देना चाहिए।

* यदि कोई स्त्री दुराचारिणी है तो वह अधिकारिणी नहीं हो सकती है। यह स्प टतया 'जैन लॉ' में दिया हुआ है।

* इसी प्रकार के अन्य भेदात्मक वि ाय हैं, जो हिन्दू लॉ और जैन लॉ के अवलोकन से स्वयं ज्ञात हो जाते हैं; इसलिए यह कहना कि जैनधर्म, हिन्दूधर्म की ााखा है और जैन लॉ, हिन्दू लॉ समान हैं, नितान्त मिथ्या है।

जैन संविधान के अनुसार सृष्टि का प्रारम्भ

जैन संविधान समय-निर्धारक कानून के अनुसार प्रत्येक कल्पकाल में दो स्थितियाँ होती हैं – उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल। प्रत्येक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में छह-छह कालखण्ड होते हैं, जो उत्सर्पिणी में बढ़ते क्रम में होते हैं और अवसर्पिणी में घटते क्रम में होते हैं।

उत्सर्पिणी के अनुसार छह काल-खण्डों के नाम हैं –

1. दुःखमा-दुःखमा, 2. दुःखमा, 3. दुःखमा-सुखमा, 4. सुखमा-दुःखमा, 5. सुखमा, 6. सुखमा-सुखमा।

इसी प्रकार अवसर्पिणी के अनुसार इन छह काल-खण्डों के नाम हैं – 1. सुखमा-सुखमा, 2. सुखमा, 3. सुखमा-दुखमा, 4. दुःखमा-सुखमा, 5. दुःखमा, और 6. दुःखमा-दुःखमा।

वर्तमान में अवसर्पिणी काल का पंचम 'दुःखमा' नामक काल खण्ड चल रहा है, इसे ही कलिकाल भी कहा जाता है।

इसके पूर्व चतुर्थकाल की आदि में कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ तो ऋ ाभदेव प्रथम राजा हुए, इसी कारण वे आदिनाथ कहलाए; उन्होंने भारत की प्रथम राजधानी अयोध्या पर राज्य किया।

इसके भी पूर्व प्रथम-द्वितीय-तृतीय कालखण्ड में क्रम ाः उत्कृ ट-मध्यम-जघन्य भोगभूमि होने से न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड और न दण्ड-नीति; उस समय एक ऐसा राज्य था, जिसमें सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करने हुए सदाचार और आनन्दपूर्वक जीवन-यापन करते थे; इसलिए उनमें किसी प्रकार का वैमनस्य अथवा लड़ाई-झगड़ा नहीं था और लड़ाई-झगड़ा न होने से दण्ड-विधान की भी आव यकता नहीं थी।

लेकिन तीसरे काल के अन्त में जब कल्पवृक्षों का प्रभाव घटा तथा युगल-सन्तान की उत्पत्ति न होने पर सन्तान को लेकर प्रजा में वाद-विवाद होने लगा और समाज में अव्यवस्था फैलने लगी तो लोग एकत्रित होकर ऋ ाभदेव के पिता कुलकर नाभिराय के पास पहुँचे और उनके अनुरोध पर ऋ ाभदेव का राज्याभि ोक किया गया।

राजा ऋ ाभदेव ने प्रजा के हित में असि, मसि, कृ ि, विद्या, वाणिज्य और ि ल्प आदि विविध कलाओं का उपदे ा दिया तथा राज्य के सुचारु संचालन के लिए दण्ड-व्यवस्था का सूत्रपात किया।

जैन संविधान के अनुसार समाज की वर्ण-व्यवस्था

"साधारणतः आजीविका और वर्ण – ये पर्यायवाची नाम हैं, क्योंकि वर्णों की उत्पत्ति का आधार आजीविका है। जैन पुराणों में बतलाया है कि कृतयुग (कर्मभूमि) के प्रारम्भ में कल्पवृक्षों का अभाव होने पर प्रजा, क्षुधा से पीड़ित होकर भगवान ऋ ाभदेव के पास आई। ......तब उन्होंने असि, मसि, कृ ि, विद्या, वाणिज्य और ि ल्प – इन छह कर्मों का उपदे ा दिया; इससे तीन वर्णों की उत्पत्ति हुई –

1. जो असि-विद्या को सीखकर, दे ा की रक्षा करके, अपनी आजीविका करने लगे, वे 'क्षत्रिय' कहलाए।

2. जो कृ िकर्म और वाणिज्यकर्म को स्वीकार कर, उनके आश्रय से अपनी आजीविका करने लगे, वे 'वै य' कहलाए।

3. जो विद्या और ि ल्पकर्म का आश्रय कर, उनके द्वारा अपनी आजीविका करने लगे, वे ' ाूद्र' कहलाए।

मसिकर्म, किस वर्ण का मुख्य कर्म था, इसका स्प ट निर्दे ा हमें कहीं दृ टिगोचर नहीं हुआ। अथवा यह सर्वसाधारण कर्म रहा हो – यह सम्भव है। 'कृ ि आदि कर्मों में ऋ ाभनाथ जिन ने प्रजा को लगाया' – इस मत का सर्वप्रथम उल्लेख स्वामी समन्तभद्र ने किया है। इसके बाद अधिकतर पुराणकारों ने भी इस कथन की पु टि की है। साथ ही यह भी उल्लेख किया कि उन्होंने ही तीन वर्णों की स्थापना की।

मात्र हरिवं ापुराण, वरांगचरित्र और य ास्तिलकचम्पू इसके अपवाद हैं, परन्तु वरांगचरित्र भी कर्म से ही वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करता है, जन्म से नहीं। इसी प्रकार य ास्तिलकचम्पू में यह स्प ट कहा है कि वर्णाश्रम-धर्म आगम-सम्मत नहीं है। उनके अनुसार वेद और मनु-स्मृति आदि के आधार पर यह लोक में प्रसिद्ध हुआ है।"[1]

जैन प्राकृत-सूत्रों में बंभण, खत्तिय, वइस्स और सुद्द – इन चार नामों के वर्णों का उल्लेख मिलता है।

1. जैन, फूलचन्द, **वर्ण, जाति, और धर्म,** 174-175

जैन परम्परा के अनुसार राजा ऋ ाभदेव के ाासन काल में राज्य के आश्रित लोगों को **क्षत्रिय** तथा जमींदार साहूकारों को गृहपति कहा जाता था।

प चात् अग्नि उत्पन्न होने पर ाल्पकर्म करने वाले ाल्पी, **शूद्र** कहे जाने लगे।

तथा वाणिज्य करने के कारण वणिक लोग, **वैश्य** के नाम से प्रसिद्ध हुए।

भरत के राज्यकाल में श्रावकधर्म उत्पन्न होने पर **ब्राह्मण वर्ण** की उत्पत्ति हुई, ये लोग अत्यन्त सरल स्वभावी और धर्मप्रेमी थे, इसलिए जब ये किसी को मारते-पीटते हुए देखते तो उनसे कहते – **मा हण** अर्थात् मत मारो, तभी से ये **मा हण** कहने वाले लोग, **माहण** अर्थात् **ब्राह्मण** कहे जाने लगे।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने जन्म की अपेक्षा कर्म के ऊपर अधिक जोर दिया।

जैन सूत्रों का कथन है कि **सिर मुड़ाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता, कु ा.चीवर धारण करने से कोई तापस नहीं होता, बल्कि हर कोई समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि व तप से तपस्वी हो सकता है।**

वास्तव में मनु य, कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वै य और कर्म से ही ाूद्र कहलाता है।

जैन संविधान के अनुसार आश्रम व्यवस्था[1]

उपासकाध्ययन नाम के सातवें अंग में चार प्रकार के आश्रम बतलाये हैं – 1. ब्रह्मचारी, 2. गृहस्थ, 3. वानप्रस्थ, 4. भिक्षुक।

1. पण्डित चम्पालाल, चर्चासागर, चर्चा 41, पृ ठ 43.44

वही प्र नोत्तर श्रावकाचार में लिखा है –

ब्रह्मचारी गृही वान-प्रस्थो भिक्षुक-सत्तमः।
चत्वारो ये क्रिया-भेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः।।

१. ब्रह्मचर्य आश्रम

उक्त चार प्रकार के आश्रमों में से पहले ब्रह्मचारी आश्रम के पाँच भेद हैं – **1) उपनय ब्रह्मचारी, 2) अवलम्ब ब्रह्मचारी, 3) अदीक्षित ब्रह्मचारी, 4) गूढ़ ब्रह्मचारी, 5) नैष्ठिक ब्रह्मचारी।**

इनका वर्णन करते हुए धर्मरसिक ाास्त्र में लिखा है –

1) उपनय ब्रह्मचारी – जो श्रावकाचार-सूत्र का विचार करे, विद्याभ्यास करने में सदा तत्पर रहे और गृहस्थधर्म में निपुण हो, उसको 'उपनय ब्रह्मचारी' कहते हैं।

2) अवलम्ब ब्रह्मचारी – जो जब तक विवाह न करे, तब तक क्षुल्लक अवस्था धारण करे, सदा जैन ाास्त्रों का अध्ययन करता रहे। अध्ययन समाप्त कर, पीछे पाणि-ग्रहण करे, उसको 'अवलम्ब ब्रह्मचारी' कहते हैं।

3) अदीक्षित ब्रह्मचारी – जो दीक्षा लिये बिना ही व्रताचरण करने में लीन हो, जैन ाास्त्रों के अभ्यास करने में तत्पर हो और समस्त ाास्त्रों को पढ़ कर, फिर पाणि-ग्रहण करे अर्थात् जो ' ाास्त्रों का अभ्यास हुए बिना विवाह नहीं करूँगा' – ऐसे नियम का धारक हो, उसको 'अदीक्षित ब्रह्मचारी' कहते हैं।

4) गूढ़ ब्रह्मचारी – जो बालक अवस्था से ही जैन ाास्त्रों का अभ्यास करने में प्रीतिवन्त हो, लेकिन जो ाास्त्रों को पढ़ चुकने के बाद माता-पिता के हठ से विवाह करे अर्थात् जो स्वयं विवाह न करे, किन्तु दूसरों के हठ से विवाह करना पड़े, उसे 'गूढ़ ब्रह्मचारी' कहते हैं।

5) नैष्ठिक ब्रह्मचारी – जो जीवन-पर्यन्त समस्त स्त्री मात्र का त्याग कर देवे और एक वस्त्र मात्र परिग्रह के अलावा बाकी सबका त्याग कर देवे, उसको 'नैठिक ब्रह्मचारी' कहते हैं।

२. गृहस्थ आश्रम

जो त्रिकाल-वन्दना तथा पूजा आदि छह कर्मों के करने में तत्पर हो, जो वि ाय-क ाय और हिंसादि पापों का त्यागी हो, जो स्वात्म-रस (अपने ुद्ध आत्मा के आनन्द रस का) भोगी हो, जो दयालु हो, उसको 'गृहस्थ आश्रम' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो अणुव्रत, गुणव्रत, िक्षाव्रत – इन बारह व्रतों को पालन करने वाला हो, उसको 'गृहस्थ आश्रम' कहते हैं।

३. वानप्रस्थ आश्रम

जो ग्यारह प्रतिमाओं को पालन करता हो, जो ध्यान और अध्ययन करने में सदा तत्पर हो, प्रारम्भ की अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ – इन क ायों से रहित हो, उसको 'वानप्रस्थ आश्रम' कहते हैं।

४. भिक्षुक आश्रम

जो हिंसा आदि समस्त पापों का जीवन-पर्यन्त के लिए त्यागी हो, पंच महाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करने वाला हो, धर्मध्यान में लीन हो, ध्यानी हो, मौन धारण करने वाला हो और तपस्वी हो, उसको भिक्षुक कहते हैं अर्थात् महामुनियों को भिक्षुक कहते हैं।

इसी प्रकार चार आश्रमों का कथन, धर्मामृत श्रावकाचार एवं स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की आचार्य ुभचन्द्र कृत संस्कृत टीका में तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होता है।''

दैनिक षट्कर्म में देवसेवा के अन्तर्गत छह क्रियाओं का उपदेश

इतना ही नहीं, श्री सोमदेव सूरि कृत य ास्तिलक चम्पू नामक महाकाव्य में गृहस्थ के द्वारा देवसेवा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान – इन ाट्कर्म में देवसेवा के अन्तर्गत छह क्रियाओं को करने का भी उपदे ा दिया गया है। वहाँ लिखा है –

देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने।।

स्नपनं पूजनं स्तोत्रं, जपं ध्यानं श्रुतिश्रवम्।
क्रियाः षडुदिताः सद्भिः, देवसेवासु गेहिनाम्।।[1]

इन छह क्रियाओं का वर्णन निम्न प्रकार है –

1. अरहन्तदेव का स्नपन या अभि ोक करना।
2. विधिवत् पंचोपचारी विधि से अरहन्तदेव का पूजन करना।
3. अरहन्तदेव का गुणानुवाद करने वाले स्तोत्र का पाठ करना।
4. अरहन्तदेव के वाचक मन्त्रों के द्वारा 108 बार जप करना।
5. कायोत्सर्ग धारण कर अरहन्तदेव का ध्यान करना।
6. अन्त में जिनवाणी अर्थात् अरहन्तदेव की वाणी का जिन- ास्त्रों के माध्यम से पाँच प्रकार का स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश) करना चाहिए।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों ने देवपूजा की सम्पूर्ण विधि देवसेवा आदि ाट् क्रियाओं के माध्यम से करने का उपदे ा दिया है।''[2]

अभिषेकपूर्वक पूजन करने का विधान

''यहाँ कोई कहे कि वीतराग-सर्वज्ञ की मूर्ति के नित्य अभि ोक (प्रक्षाल)पूर्वक पूजन करने की क्या आव यकता है?

उसका समाधान – इस वि ाय में जैनधर्म का विज्ञान, बहुत विज्ञता से भरा हुआ है। मूर्ति के प्रक्षाल करने का अन्तरंग अभिप्राय तो यह है कि ऐसी पवित्र ध्यानस्थ मुद्रा के अति निकटवर्ती होने से उसकी वीतरागता पूर्णरूप से दिखाई देती है। उसके स्प ा करने से

---

1. **यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य,** आचार्य सोमदेव, उत्तर खण्ड, अ टम आ वास, लोक 454-455, पृ ठ 471, प्रका ाक, भारतव ीय अनेकान्त विद्वत् परि ाद्
2. **चर्चासागर,** चर्चा 36-37, पृ ठ 38-40 के आधार पर

चित्त आह्लादित होता है, मानो साक्षात् अर्हन्तदेव का ही स्प र्न किया और चरणोदक लगाने से मस्तक तथा सम्पूर्ण ारीर पवित्र होकर मन में साक्षात् तीर्थंकर भगवान् के अभि ोक करने सरीखी भावना उत्पन्न होती है। पुनः प्रक्षाल करने का बाह्य कारण ये भी है कि मूर्ति पर कूड़ा-कचरा-जाला-मैल दाग न लगने पावे, क्योंकि आच्छादन होने से मूर्ति की वीतरागता बिगड़ती और स्प ट द र्न में बाधा आती है।''[1]

वही कविवर श्री हरजसरायजी ने अभि ोक पाठ में कहा है –

पापाचरण तजि न्हवन करता, चित्त में ऐसे धरूँ।
साक्षात् श्री अरहन्त का, मानो न्हवन परसन करूँ।।

जैनियों के द्वारा मूर्ति-पूजा का समर्थन

''वर्तमान में कितने ही मत ऐसे भी हैं कि जो मूर्ति-पूजन का नि ोध करते हैं। वे मूर्ति-पूजन का अभिप्राय समझे बिना मूर्ति-पूजन को बुत-परस्त अर्थात् पा ााण-पूजक ठहराते हैं। उनको यह बात ज्ञात नहीं है कि मूर्ति अर्थात् स्थापना सत्य माने बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं चल सकते। प्रत्यक्ष ही देखो कि अक्षर जो लिखे जाते हैं, वे जिस पदार्थ के द्योतक हैं, याने उनके द्वारा जो मूर्ति (वाच्य) स्वरूप हों, उसी पदार्थ का ज्ञान, उन अक्षरों के जानने से होता है और तदनुसार ही ह र्ा-वि ाद होता है।

जैसे, निन्दा या गाली के द्योतक अक्षरों को पढ़कर, अप्रसन्नता होती है और प्र ांसारूप अक्षरों को पढ़कर चित्त में प्रसन्नता होती है। जैसे, फोटो की तसवीर या पत्थर की स्त्री-पुरु ा की सुन्दर मूर्ति देख कर, मन प्रसन्न होता है और कुरूप डरावनी मूर्ति को देखने से भय और घृणा उत्पन्न होती है। जैसे, नक ो के बिना केवल भूगोल की पुस्तक पढ़ने से यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

---

1. **श्रावक धर्म संग्रह,** सोधिया, दरयावसिंह, पृ ठ 175, सम्पादक, परमानन्द जैन ाास्त्री, प्रका ाक, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर (वि. 2006, वीर निर्वाण 2476)

उसी प्रकार मूर्ति के बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कार्यों का समुचित रीति से बोध तथा उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसके लिए इतना ही कहना बस होगा कि मूर्ति-नि ोधक लोग भी फोटो तथा स्मारक आदि में मूर्तियों के द्वारा असली पदार्थ का बोध करते हैं और तदनुसार ही वर्ताव करते हैं।

अब, विचारने की बात केवल इतनी ही है कि मोक्षमार्ग के प्रकरण में मूर्ति, किनकी और किस आकार की होनी चाहिए ? और उनकी पूजन करने का अभिप्राय क्या होना चाहिए ? इत्यादि बातों को भली-भाँति जाने बिना मूर्ति-पूजन से जो लाभ होना चाहिए, वह कदापि नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि सूक्ष्म-दृ टि से जैनियों के मूर्ति-स्थापन एवं मूर्ति-पूजन सम्बन्धी अभिप्राय ध्यान में लाये जाएँ तो कदाचित् भी कोई उन्हें बुत-परस्त नहीं कह सकता, बल्कि उन्हें पूर्ण तत्त्वज्ञानी, सत्य-खोजी और सच्चा मुमुक्षु ही कहेगा; अतएव यहाँ जैन-मत-सम्बन्धी मूर्ति-पूजन का अभिप्राय संक्षिप्तरूप से कहा है।

मूर्ति-पूजा के वि ाय में जैनियों के उद्दे य और सिद्धान्त यह हैं कि जिन महात्माओं ने संसार अर्थात् जन्म-मरण की परिपाटी को बढ़ानेवाले, राग-द्वे ा को उत्पन्न करनेवाले वि ाय-क ाायों को त्याग दिया और परम वीतरागता अंगीकार की है, जिन्होंने अ ाुभ- ाुभ दोनों प्रकार के कर्मों को संसार-बन्धन के लिए बेड़ी-सदृ ा जान कर, त्याग दिया है, जिन्होंने एकाग्र-ध्यान के बल से सर्वज्ञपद को प्राप्त किया है और ाुद्धात्मरूप परमात्मा हुए हैं – ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा कर्म- ात्रु-विजेता वीरों की ध्यान-मुद्रा का स्मरण होता रहे।

जैनी लोग, इसी अभिप्राय से उनकी तादृ ा (उन्हीं के समान) वीतरागता-पूर्ण मूर्ति की स्थापना करते हैं। उनका सिद्धान्त है कि ऐसी मूर्ति के द र्न द्वारा परमात्मा के गुण-चिन्तवन करना और उनके समान सद्गुणी बनने की इच्छा करना ही आत्मोन्नति का मूल साधन है।

कुछ लोग, मूर्ति-पूजन के असली अभिप्राय 'आत्मिक उन्नति' को जाने बिना जैनियों को मूर्ति-पूजक कहकर, उनकी निन्दा करते हैं, परन्तु अपनी तरफ नहीं देखते कि आप स्वतः सांसारिक बुत-परस्त बन रहे हैं, जो सांसारिक कार्यों (युद्धादि वा द्रव्यदान) द्वारा किंचित् प्रसिद्ध पुरु ों की मूर्ति, फोटो आदि की स्थापना कर, उनकी स्तुति-प्र ांसा करते हैं तथा उनकी मूर्ति पर फूल, माला आदि भी चढ़ाते हैं।

यह बात भी ध्यान में लाने योग्य है कि जैनी लोग, मूर्ति के द र्न-पूजन करते हुए पा ाण या पीतल आदि धातुओं की स्तुति करते हुए ऐसा नहीं कहते हैं कि – ''हे पा ाण या पीतल की मूर्ति! तू अमुक खान से निकाली जाकर, अमुक कारीगर के द्वारा इतने मूल्य में अमुक जगह पर तैयार कराई जाकर, हम लोगों के द्वारा स्थापित होकर, पूज्य मानी गई है; किन्तु वे लोग, संसार-त्यागी मोक्षगामी परमात्मा की तदाकार मूर्ति के आश्रय से उनके सद्गुणों की स्तुति तथा पूजन करते हुए और उन्हीं के समान मोक्ष प्राप्त करने की भावना करते हैं।

वे उन मोक्षमार्गी सच्चे वीरों की मूर्ति के द र्न करके यह ि क्षा लेते हैं कि यह मुद्रा, ध्यान करने की है; जब हम संसार- ारीर-भोगों से सर्वथा विरक्त होकर इस नग्न दिगम्बर मूर्ति के समान ध्यानारूढ़ होंगे, तभी अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर, ान्ति-रस का आस्वादन कर सकेंगे, अन्यथा नहीं।

पुनः उनके मन में उस वीतराग मूर्ति के देखने से इस प्रकार शुद्धात्म-स्वरूप के ध्यान की भावना उत्पन्न होती है –

''हे प्रभु! मेरी आत्मा में जब तक राग-द्वेषरूप मल लगा हुआ है, तब तक ही मैं संसार में भ्रमण करता हुआ, नाना प्रकार से दुःखी होता हुआ, जन्म-मरण कर रहा हूँ, लेकिन जिस समय राग-द्वेषरूप विकार मुझसे दूर हो जाएँगे, उस समय मैं अपने स्वरूप में ऐसा निश्चल लीन हो जाऊँगा, जैसी यह पाषाण की वीतराग-मूर्ति ध्यानारूढ़ अवस्था का दिग्दर्शन करा रही है।

ध्यान रहे – जैन-मत में मूर्ति चाहे पद्मासन हो, चाहे खड्गासन, किन्तु स्त्री-वस्त्र- ास्त्र-आभू ाण आदि परिग्रह रहित, नासाग्र-दृ टिवन्त, पूर्ण वैराग्य-सूचक, नग्न दिगम्बर, ध्यानारूढ़ ही होती है; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए ऐसी ान्त अवस्था का धारण करना, बहुधा सभी मतावलम्बी स्वीकार करते हैं। ....

.... गृहस्थों को गृह-सम्बन्धी जंजालों के कारण अनेक संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, जिससे एकाएक आत्म-ध्यान में उनका चित्त एकाग्र नहीं हो सकता, इसलिए उन्हें सांसारिक अ ुभ आलम्बनों के त्यागने और पारमार्थिक ुभ आलम्बनों में लगने की बड़ी भारी आव यकता है। अतएव गृहस्थ को जिन-पूजा से बढ़कर, दूसरा कोई प्रबल आलम्बन नहीं माना गया है।

धार्मिक ाट्कर्मों के आरम्भ में ही देव-पूजा करने का उपदे ा है। पूजा करने का उद्यम करने पर, पूजन के लिए द्रव्य एकत्र करने, धोने, चढ़ाने, पाठ-मन्त्रादि बोलने, पूज्य परमे ठी के गुणों के चिन्तवन करने में जितने समय तक चित्त लगा रहता है, उतने काल तक परिणाम पुण्यरूप रहते हैं, सांसारिक वि ाय-क ाय की ओर चित्त नहीं लगने पाता, जिससे महान पुण्य का बन्ध और पाप की हानि होती है तथा उतने काल तक संयम (इन्द्रियों का जीतना) और तप (इच्छा का निरोध) होता है, जिससे आत्मिक ाक्तियाँ सबल और निर्मल होती हैं।

जैन मत में अ ट द्रव्यों (जल, चन्दन, अक्षत, पु प, नैवेद्य, दीप, धूप व फल) से पूजन करने की आज्ञा है; इनको परमात्मा या गुरु के सन्मुख चढ़ाने का अभिप्राय, पूजकों को सांसारिक तापों से दूर रखने की इच्छा है। इसी हेतु से ये अ ट द्रव्य, पृथक्-पृथक् मन्त्रों द्वारा परमात्मा के सन्मुख क्षेपण किये जाते हैं और भावना की जाती है –

"हे प्रभु! इन जल, चन्दन, अक्षतादि द्रव्यों का हमने अनादिकाल से सेवन किया, परन्तु हमारे तृ ाा, क्षुधा आदि सांसारिक ताप दूर नहीं हुए; अतएव हे प्रभु! इन द्रव्यों को आपके सन्मुख क्षेपण करके हम

चाहते हैं कि हम भी आप की तरह क्षुधा, तृ ाा, मोह, अज्ञानादि दो ाों से रहित होकर, आपके समान निर्दो ा और उत्कृ ट द ाा को प्राप्त होवें।"[1]

पूजन-पाठ के सम्बन्ध में जैन संविधान

सत्य सनातन निर्ग्रन्थ जैनधर्म का संविधान, तीन लोक में सदा से ही सत्य का उद्घाटन करता आया है। निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैनधर्म में आत्मा से परमात्मा बनने की विधि बताई गई है। जब तक जीव स्वयं परमात्मा नहीं बन जाता, तब तक परमात्मा के मार्ग पर चलता हुआ 'साधक' कहलाता है। साधक जीव, पाप से बचने के लिए एवं स्वयं परमात्मा बनने के लिए पूज्य पदों की आराधना करता है।

वे पूज्य पद, जिनधर्म में पंच परमेष्ठी या नव देवता के नाम से भी जाने जाते हैं। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु – ये पंच परमेष्ठी हैं, इनमें जिन-धर्म, जिन-वाणी, जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमा –इन चार को उक्त पाँच के साथ मिलाने पर 'नव देवता' कहलाते हैं।

उक्त पंच परमेष्ठी या नव देवता ही मात्र पूजनीय होते हैं, इनके सिवाय अन्य किसी की पूज्यत्व के रूप में कल्पना करना भी पाप है; क्योंकि जो जीव, वीतरागता के साधक, इन नव देवताओं को छोड़ कर, यदि अन्य किसी की आराधना करता है तो वह प्रगटरूप से गृहीत मिथ्यादृ टि है और वह अनन्त संसार में परिभ्रमण करने वाला है।

जिस प्रकार अपने घर पर कोई वि ि ट अतिथि आए तो उसकी उचित सम्मान पूर्वक आवभगत की जाती है, उसी प्रकार इन पूज्य पदों की अत्यन्त विनयसहित परम भक्तिपूर्वक आराधना की जाती है; क्योंकि बिना विधि और विनय के पूजन का कोई महत्त्व नहीं होता और न ही उसका कोई फल प्राप्त होता है, अपितु अविनय के फल में जीव, खोटी गति प्राप्त करता है।

---

1. **श्रावक धर्म संग्रह,** सोधिया, दरयावसिंह, पृ ठ 172-180 के आधार पर

जैन पूजन-विधान दो प्रकार से किया जाता है – एक तो जैन श्रावक, प्रतिदिन पंच परमे ठी की जो आराधना करता है, उसे 'नित्य नियम-पूजन' कहते हैं, दूसरे किसी पर्व आदि विशेष प्रसंग में नैमित्तिक रूप से जो पूजन-विधान किया जाता है, उसे 'नैमित्तिक वि ि ट पूजन-विधान' कहा जाता है।

नित्य नियम-पूजन करने वाला प्रत्येक जैन श्रावक, घर पर या मन्दिरजी में प्रासुक जल से स्नान कर, नंगे पैर, ईर्या-समिति पूर्वक गमन करता हुआ, महा ह र्ासहित जिन-मन्दिर में प्रवे ा करता है। देवद र्ान के प चात् वह जिनेन्द्र भगवान का विधिपूर्वक प्रक्षाल या जलाभिषेक करता है।

तत्प चात् वह श्रावक, आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण की विधि पूर्वक प्रासुक, अचित्त, अहिंसक अ ट द्रव्यों से जिनेन्द्र भगवन्तों की पूजन आरम्भ करता है। जिनेन्द्र का गुणगान करना ही सचमुच में पूजन है, किन्तु बिना किसी अवलम्बन के श्रावक के पूजन में भाव नहीं लगते हैं, इसलिए वह इन अ ट द्रव्यों के अवलम्बन से अपना मन, जिनेन्द्र के गुणानुवाद में लगाता है।

तत्पश्चात् महाऽर्घ्य, ाान्तिपाठ एवं क्षमापना बोलता हुआ अन्त में उक्त सम्पूर्ण विधि का वह विसर्जन करता है।

पूजन के पाँच अंग

"पूजन के पाँच अंग या उपचार माने गये हैं – 1. आह्वानन, 2. स्थापन, 3. सन्निधिकरण, 4. पूजन और 5. विसर्जन।

इनमें प्रत्येक क्रिया के मन्त्रों का विधान भी बताया गया है, जिनका स्वरूप विस्तार से बताते हुए कहते हैं –

1. आह्वानन – अरहन्तदेव आदि की पूजा के समय मन्त्र पढ़ कर तथा पु प, अक्षत आदि द्रव्य निक्षेपित करके, उनका आह्वान (आमन्त्रण) करना, पहला **आह्वानन** अंग या उपचार है। यथा –

मन्त्र – *ऊँ ह्रीं अर्हन् श्री-परम-ब्रह्मन् ! अत्राऽवतराऽवतर संवौषट्।*
(इति आह्वाननम्)

2. स्थापन – आह्वानन के बाद मन्त्र पढ़ कर तथा पु प, अक्षत आदि निक्षेपित करके उन पूज्य अरहन्तदेव आदि का स्थापन (अच्छे से स्थित) करना, दूसरा **स्थापना** अंग या उपचार है। यथा –

मन्त्र – *ऊँ ह्रीं अर्हन् श्री-परम-ब्रह्मन् ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः।*
(इति स्थापनम्)

3. सन्निधिकरण – स्थापना करने के बाद मन्त्र पढ़ कर, तथा पु प, अक्षत आदि निक्षेपित करके उन पूज्य अरहन्तदेव आदि को अपने समीप लाना, तीसरा **सन्निधिकरण** अंग या उपचार है। यथा –

मन्त्र – *ऊँ ह्रीं अर्हन् श्री-परम-ब्रह्मन् ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।* *(इति सन्निधिकरणम्)*

4. पूजन – तदनन्तर जल, चन्दन, अक्षत, पु प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल, अर्घ्य आदि द्रव्य समर्पित करते हुए मन्त्र-पाठ-पूर्वक उन पूज्य अरहन्तदेव आदि का स्तुति-गान करना, चौथा **पूजन** नामक अंग या उपचार है। यथा –

जल-मन्त्र – ऊँ ह्रीं श्री-परम-ब्रह्मणे अनन्तानन्त-ज्ञान- क्तिये अ टाद ा-दो ा-रहिताय ाट्चत्वारिं ात्-गुणसहित-विराजमानाय *अर्हत्-परमेष्ठिने जन्म-जरा-मृत्यु-विनाशनाय जलं* निर्वपामीति स्वाहा।

चन्दन-मन्त्र – ऊँ ह्रीं श्री-परम-ब्रह्मणे अनन्तानन्त-ज्ञान- क्तिये अ टाद ा-दो ा-रहिताय ाट्चत्वारिं ात्-गुणसहित-विराजमानाय *अर्हत्-परमेष्ठिने भवाताप-विनाशनाय चन्दनं* निर्वपामीति स्वाहा।

अक्षत-मन्त्र – ऊँ ह्रीं श्री-परम-ब्रह्मणे अनन्तानन्त-ज्ञान- क्तिये अ टाद ा-दो ा-रहिताय ाट्चत्वारिं ात्-गुणसहित-विराजमानाय *अर्हत्-परमेष्ठिने अक्षय-पद-प्राप्तये अक्षतान्* निर्वपामीति स्वाहा ।

पुष्प-मन्त्र – ऊँ ह्रीं श्री-परम-ब्रह्मणे अनन्तानन्त-ज्ञान- क्तिये अ टाद ा-दो ा-रहिताय ाट्चत्वारिं ात्-गुणसहित-विराजमानाय *अर्हत्-परमेष्ठिने काम-बाण-विध्वंसनाय पुष्पं* निर्वपामीति स्वाहा।

नैवेद्य-मन्त्र = ऊँ ह्रीं श्री-परम-ब्रह्मणे अनन्तानन्त-ज्ञान- क्तिये अ टाद ा-दो ा-रहिताय ाट्चत्वारिं ात्-गुणसहित-विराजमानाय *अर्हत्-परमेष्ठिने क्षुधा-रोग-निवारणाय नैवेद्यं* निर्वपामीति स्वाहा।

दीप-मन्त्र – ऊँ ह्रीं श्री-परम-ब्रह्मणे अनन्तानन्त-ज्ञान- क्तिये अ टाद ा-दो ा-रहिताय ाट्चत्वारिं ात्-गुणसहित-विराजमानाय *अर्हत्-परमेष्ठिने मोहान्धकार-विनाशनाय दीपं* निर्वपामीति स्वाहा।

धूप-मन्त्र = ऊँ ह्रीं श्री-परम-ब्रह्मणे अनन्तानन्त-ज्ञान- क्तिये अ टाद ा-दो ा-रहिताय ाट्चत्वारिं ात्-गुणसहित-विराजमानाय *अर्हत्-परमेष्ठिने अष्ट-कर्म-विध्वंसनाय धूपं* निर्वपामीति स्वाहा।

फल-मन्त्र = ऊँ ह्रीं श्री-परम-ब्रह्मणे अनन्तानन्त-ज्ञान- क्तिये अ टाद ा-दो ा-रहिताय ाट्चत्वारिं ात्-गुणसहित-विराजमानाय *अर्हत्-परमेष्ठिने महा-मोक्ष-फल-प्राप्तये फलं* निर्वपामीति स्वाहा।

अर्घ्य-मन्त्र – ऊँ ह्रीं श्री-परम-ब्रह्मणे अनन्तानन्त-ज्ञान- क्तिये अ टाद ा-दो ा-रहिताय ाट्चत्वारिं ात्-गुणसहित-विराजमानाय *अर्हत्-परमेष्ठिने अनर्घ्य-पद-प्राप्तये अर्घ्यं* निर्वपामीति स्वाहा।
(इति पूजनम्)

5. विसर्जन = यह पंचोपचारी पूजन की समापन-विधि है; इसमें निम्न मन्त्रपाठपूर्वक स्तुति-गान भी किया जाता है।

मन्त्र – ओं ह्रीं अर्हन् श्री-परम-ब्रह्मन्! स्वस्थानं गच्छ गच्छ जः जः जः।
(इति विसर्जनम्)

पूजन में इन पाँच अंगों की पूर्णता के प्रतीकस्वरूप प्रतिष्ठाचार्य

आदि के द्वारा 'इति पुष्पांजलिं क्षिपेत्' बोला जाता है तथा स्वयं श्रावक, 'इति पुष्पांजलिं क्षिपामि' बोल कर, पुष्पों का क्षेपण करता है।

इस प्रकार पंचांगी पूजन का स्वरूप पूजासार, प्रति ठापाठ, जिन-संहिता आदि ग्रन्थों के माध्यम से जानना चाहिए।

इसी प्रकार अन्य देव- ाास्त्र-गुरु, पंच परमेष्ठी आदि की पूजा की विधि समझनी चाहिए।

शान्ति-जाप्य की विधि

विि ट नैमित्तिक पूजन-विधानों में सर्व प्रथम स्नानादि के प चात् ाान्ति-जाप्य की स्थापना होती है, इसमें सभी यजमान उस विधान के अनुसार ग्रन्थोक्त मन्त्रों का संकल्प निर्धारित करके, प्रतीकस्वरूप यन्त्र के सामने उतने मन्त्रों की जाप्य सामूहिकरूप से यथासमय करते हैं।

ध्वजारोहण की विधि

ाान्ति-जाप्य की स्थापना के बाद बड़े अनु ठानपूर्वक ध्वजारोहण कराया जाता है। यह ध्वजा, पाँच-रंगी होती है – धवल, रक्त (लाल), के ारी, हरित (हरा) और नील (नीला) – ये पाँचों रंग क्रम ाः पंच परमे ठी के प्रतीक हैं।

मंगल-कलश स्थापना आदि अन्य विधियाँ

ध्वजारोहण होने के बाद जिनेन्द्र भगवान का अभि ोक-प्रक्षाल होता है, कोई-कोई ाान्तिधारा भी करते हैं। जिनेन्द्र भगवान को वेदी में विराजमान करके विधान के माण्डले पर सौभाग्यवती बहनें चार कोने के चार कल ा और एक मंगल-कल ा स्थापित करती हैं।

इन कल ाों में साबुत सुपारी, साबुत हल्दी, पीली सरसों, पंच रत्न, चांदी का रुपया या सवा रुपया आदि मंगल-सामग्री क्षेपण करते हैं तथा कल ाों पर के ार से स्वस्तिक बनाकर, उसे रक्षा-सूत्र (कलावा) से वे ठित किया जाता है।

मंगल कल ा स्थापित होने के बाद मंगला टक पढ़ा जाता है, सभी यजमानों को मन्त्र द्वारा अमृत-स्नान कराया जाता है। इस अमृत-स्नान से बाह्य अ ाुद्धि दूर हो जाती है। प चात् पुरु ा वर्ग अपने दाँये हाथ में तथा महिला वर्ग अपने बाँयें हाथ में तीन बार लपेटते हुए रक्षा-सूत्र बाँधती हैं। रक्षा-सूत्र बँधने पर यजमानों को सूतक-पातक नहीं लगता। विधानाचार्य, इस समय विधान-काल तक यजमानों को सदाचार, ब्रह्मचर्यादि की प्रतिज्ञा दिलाते हैं।

इतनी प्रारम्भिक विधि सम्पन्न होने के बाद मन्त्रों द्वारा अंग-न्यास की विधि की जाती है। इस अंग-न्यास-विधि में जिनेन्द्र के समक्ष नमस्कार किया जाता है, प चात् रक्षा-मन्त्रों के द्वारा ारीर के समस्त अंग, पूजन-सामग्री, पूजन-वस्त्र, पूजन-स्थल आदि का स्प ा किया जाता है। पश्चात् चारों दि ााओं में मन्त्र पढ़ कर, पीली सरसों अथवा पु प-क्षेपण कर दिग्बन्धन (दिग्वन्दन) किया जाता है।

विधानाचार्य, विि ट रक्षा-मन्त्रों से यजमानों पर पीली सरसों क्षेपण करते हैं। यदि वृहद् आयोजनों के अन्तर्गत इन्द्र-प्रति ठा हो रही हो तो यजमानों में मन्त्र द्वारा इन्द्र-इन्द्राणीपने की स्थापना की जाती है।

पूजन-विधान सम्पूर्ण होने के प चात् ाान्ति-यज्ञ किया जाता है, इस ाान्ति-यज्ञ में वि व के समस्त पूज्य पदों को, जैसे, त्रिकाल चौबीसी आदि को पु प-क्षेपण किये जाते हैं। ये मन्त्र, पीठिका-मन्त्र, जाति-मन्त्र, निस्तारक-मन्त्र, ऋ ि-मन्त्र, सुरेन्द्र-मन्त्र, परमराजादि-मन्त्र एवं परमे ठी-मन्त्र कहलाते हैं। प्रत्येक मन्त्र समूह की आहूति पूरी होने पर प्रति ठाचार्य यजमानों पर समाधिमरण की मंगल-कामना करता हुआ पु प-क्षेपण करता है।

ाान्ति-यज्ञ होने के बाद ाास्त्रोक्त मन्त्रों से अखण्ड ाान्ति-धारा, विनायक-यन्त्र के ऊपर की जाती है। प चात् पुण्याहवाचन, ाान्ति-पाठ और विसर्जनपूर्वक विधान-अनु ठान का समापन होता है।

इस अवसर पर विधानाचार्य, यजमानों को ाक्ति अनुसार आजीवन या काल-मर्यादा में नियम एवं दान करने की प्रेरणा देते हैं।

शुद्ध तेरापन्थी दिगम्बर जैन आम्नाय क्या है ?

दिगम्बर जैन आम्नाय में वीतरागता एवं अहिंसा की मूल भावना को समेटे हुए एक तेरा-पन्थ शैली का प्रचलन, आज तक विद्यमान है, जिसमें हिंसा-अहिंसा, शुद्धि-अशुद्धि, प्रमाद, अनावश्यक खर्च, शील की मर्यादा आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसी कारण इसे मूलाम्नाय या शुद्ध आम्नाय भी कहते हैं।

तेरा-पन्थ में 'तेरह' या 'तेरा' अंक से कोई लेना-देना नहीं है। हे वीतरागी देव-गुरु-धर्म! जो तेरा पन्थ, वही मेरा पन्थ। इसी भावना के कारण इसे 'तेरापन्थ' नाम से सम्बोधित किया जाता है। हम कह सकते हैं कि 'जिस पन्थ चले भगवन्त, वही आचरिये।'

आज से लगभग 275 वर्ष पूर्व पण्डित टोडरमलजी के अनन्य सहयोगी ब्र, रायमलजी, ज्ञानानन्द श्रावकाचार में लिखते हैं –

"हे भगवान! म्हां तो थांका वचना के अनुसार चलां हों, तातैं तेरापंथी हों। ते सिवाय और कुदेवादिक कों म्हां नाहीं सेवे हैं ...... तुम ही ने सैवौ, सौ तेरापंथी, सों म्हां तुम्हारों आज्ञाकारी सेवक हों। .....सो तेरा प्रकार के चारित्र के धारक ऐसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु को माने और परिग्रहधारी गुरु को नाहीं माने, तातैं गुरु अपेक्षा भी तेरापंथी संभवैं हैं।"[1]

जैनधर्म में दिगम्बर जैन तेरापन्थी ुद्ध-आम्नाय के अनुसार –

1. पूजनादि धार्मिक क्रियाओं में अग्नि का प्रयोग नहीं किया जाता है, तथा जलते हुए दीपक से पूजा या आरती नहीं होती है।
2. सचित्त फल-फूल आदि का प्रयोग वर्जित होता है।
3. पंचामृत-अभि ोक नहीं होता है।
4. भगवान की आ िका नहीं ली जाती है।
5. ठोने में भगवान की स्थापना नहीं होती है।
6. स्त्रियाँ जल से भी प्रक्षाल या अभि ोक नहीं करतीं है।

1. देखें, **ज्ञानानन्द श्रावकाचार,** पृष्ठ 111 से 115

7. पुरु ा-वर्ग खड़े होकर भगवान की पूजन करते हैं।
8. दश दिग्पालों को नहीं मानते हैं।
9. भट्टारकों को गुरु नहीं माना जाता है।
10. भगवान के चरणों में केसर का लेप नहीं होता है।
11. फूलमाल (बोलियाँ) नहीं करते।
12. रात्रि में पूजन नहीं होती।
13. शासन-देवी-देवता नहीं पूजते।

इन्हीं नियमों को आधार बनाकर, आज से लगभग 35 वर्ष पूर्व अखिल भारतीय दिगम्बर जैन तेरापन्थ महासंघ, जयपुर के माध्यम से शुद्धाम्नाय की सुरक्षा हेतु – आचार्य श्री सुमतिसागरजी, आचार्य श्री शान्तिसागरजी, उपाध्याय श्री चन्द्रसागरजी, मुनि श्री निर्वाणसागरजी, मुनि श्री सूर्यसागरजी, आर्यिका ज्ञानमतीजी (निवाई) की ओर से एक 'मंगल सन्देश' भी प्रसारित किया गया था, जिसके अनुसार निम्न सात नियमों को तेरापन्थ के सन्देश के रूप में प्रचारित किया था –

1. पूजनादि धार्मिक क्रियाओं में अपना आचरण, अहिंसामूलक रखें तथा गृहीत मिथ्यात्व का सेवन व समर्थन न करें। पूजा में फल-फूल चढ़ाना, प्रतिमाजी पर चन्दन-लेपन करना तथा पंचामृत अभिषेक करना व स्त्री-अभिषेक कराने की क्रिया नहीं होनी चाहिए।

2. वीतरागी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही पूज्य हैं, अन्य नहीं। इनके अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं को पूजना, वीतरागी धर्म में उचित नहीं है।

3. पानी छानकर ही पियें, रात्रि-भोजन तथा अभक्ष्य पदार्थों का सेवन न करें।

4. ऐसा कोई कार्य न करें, जिससे समाज में विघटन हो।

5. वीतरागी देव को रागी बनाकर पूजना गृहीत मिथ्यात्व है, जिससे पाप का बन्ध होता है, जो अनन्त संसार का कारण है।

6. आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि के अवसर पर आचार्य कुन्दकुन्द के शास्त्र घर-घर पहुँचाने का प्रयत्न करें तथा नियमित स्वाध्याय की परम्परा चालू रखें।

7. जिनवाणी का लेश मात्र भी अपमान न होने पाये, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखें। जिनवाणी कहीं से भी प्रकाशित हो, सबके लिए पूज्य है।

अन्त में उसमें तेरापन्थ की व्याख्या करते हुए लिखा था कि 'वीतराग-सर्वज्ञ-प्रणीत शाश्वत शुद्धाम्नाय की मान्यता ही तेरापन्थ है।'

तात्पर्य यह है कि इस शैली में पूजनादि क्रियाओं के अन्तर्गत द्रव्यशुद्धता और भावशुद्धता का विशेष ध्यान दिया जाता है, अवलम्बनों (सामग्री) की शुद्धता का भी ध्यान रखा जाता है। यही कारण है कि पूजन करने से पूर्व 'पूजा-पीठिका' में भी हम पढ़ते हैं –

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं,
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तुकामः।
आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन्,
भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम्।।

अर्थात् हे प्रभु! द्रव्य की शुद्धि को यथानुरूप प्राप्त करके, अब मैं भाव की शुद्धि को अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता हूँ। इसलिए मैं विविध शुद्ध अवलम्बनों एवं शुद्ध मन-वच-काय को धारण करके यथार्थ यज्ञपुरुष की पूजा करता हूँ।

इसी पाठ को हिन्दी में इस प्रकार लिखा गया है –

द्रव्यशुद्धि अरु भावशुद्धि, दोनों विधि का अवलम्बन कर।
करूँ यथार्थ पुरुष की पूजा, मन-वच-तन एकत्रित कर।।

यद्यपि तेरा-पन्थी शैली में भी जिन-प्रतिमा के विशेष प्रक्षालन के लिए वार्षिक मंजन-विधि एवं जिन-मन्दिर के रख-रखाव के लिए रंग-रोगन कराया जाता है, लेकिन उसे किसी प्रकार की धार्मिक विधि के रूप में मान्यता नहीं दी गई है।

ऐसे ही पहले जब बिजली की खोज नहीं हुई थी, उस समय सन्ध्या-कालीन दर्शन-विधि के लिए दीपक की आवश्यकता होती थी, उसे ही धार्मिक-विधि के रूप में आरती की संज्ञा प्रदान कर दी गई, इसी प्रकार पर्यावरण-शुद्धि हेतु धूप का प्रयोग किया जाता था, उसे भी धार्मिक मान्यता प्रदान कर दी गई। जबकि आज इन सब चीजों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह गई है और यदि है भी तो उसका धार्मिक दृष्टि से महत्त्व न पहले था और न अब रह गया है।

इसी प्रकार अन्य क्रियाओं के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

इस शैली का विशेषरूप से प्रभाव, भारत के उत्तर एवं मध्य में स्थित राजस्थान, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश आदि प्रदेशों में विशेषरूप से परिलक्षित होता है।

पूजन करनेवालों की दिशा-शुद्धि

पूजन करने वाले यजमान को पूजन करते समय, यदि भगवान पूर्वमुखी हों तो स्वयं उत्तरमुखी खड़े होकर और यदि भगवान उत्तरमुखी हों तो स्वयं पूर्वमुखी खड़े होकर पूजन करना चाहिए। ऐसा करने से बाद में द नि करने आनेवाले महानुभावों को अन्तराय नहीं होता।

जिन- ासन में उक्त क्रियाकाण्ड का वर्णन, विभिन्न ग्रन्थों में अलग-अलग मिलता है, क्योंकि जिनागम के अनुसार विधि-विधान को किसी अपरिवर्तनीय सिद्धान्त में नहीं बाँधा जा सकता। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार इनमें परिवर्तन हो सकता है। प्रत्येक प्रदे ा में अलग-अलग परम्पराएँ हैं। क्रियाकाण्ड के पीछे हठाग्रही होना उचित नहीं। प्रत्येक अनु ठान के पीछे वीतरागता का प्रयोजन है; अतः वीतरागता को मुख्य लक्ष्य में रखकर, चरणानुयोग की मर्यादा में अहिंसक-रीति से ही पूजन-विधान आदि करना चाहिए।

यह विधि-विधान कैसे करें? – इसका संक्षिप्त स्प टीकरण मात्र है। वि ा ट विस्तृत विधि जानने के लिए पूजन-विधान से सम्बन्धित प्रतिष्ठा-पाठ आदि महान ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

विवाह के सम्बन्ध में जैन संविधान

जैनधर्मानुसार विवाह, केवल ारीरिक सुख या दैहिक रति के लिए नहीं किया जाता, बल्कि उसके माध्यम से चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत का परिपालन किया जाता है, क्योंकि यह विधि, हमें अनेक स्त्रियों पर से दृष्टि हटाकर एक में स्थापित करती है, जिससे हम परस्त्री के त्यागी होकर स्वस्त्रीसन्तोषव्रत धारण करते हैं; अतः इसे गृहस्थधर्म की संज्ञा भी दी जाती है, जो उचित है। ''अनन्त अविरति से बचाने के कारण यह सांसारिक रागमय होने पर भी प्रकारान्तर से धर्मरूप कहा जा सकता है। ..... इस प्रकार यह अब्रह्म के त्याग रूप नहीं होते हुए भी अनन्त अब्रह्म से बचानेवाला है।''[1]

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री लिखते हैं –

"धर्मपालन में गृहस्थाश्रम का बहुत महत्त्व है। आचार्य पद्मनन्दि ने कहा है कि इस कलिकाल में जिनालय, मुनिधर्म और दान – इन सबका मूल कारण श्रावक हैं। श्रावक न हों तो इनमें से कोई भी रक्षित नहीं रह सकता; अतः इन सबकी स्थिति तभी तक है, जब तक श्रावक और श्राविकाओं में धार्मिक प्रेम है। इसी से **विवाह-सम्बन्ध, साधर्मियों में ही करने पर जोर** दिया है।

भारत में विवाहिता को केवल पत्नी नहीं कहते, धर्मपत्नी कहते हैं, क्योंकि वह पति के धर्म की भी सहचारिणी होती है। पत्नी के योग्य होने पर ही पति का भी योगक्षेम चलता है और धर्मसाधन होता है; अतः वैवाहिक सम्बन्ध बहुत सोच-समझकर किया जाता है। सबसे पहले कन्या का कुल, शील, सौभाग्य आदि देखा जाता है, इसी तरह कन्यापक्ष की ओर से वर के गुण देखे जाते हैं, तब 'विवाह' होता है।''[2]

---

1. **शुद्ध संस्कार विधि,** पृष्ठ 36, प्रो. सुदीप कुमार जैन, न्यू भारतीय बुक करपोरेशन, दिल्ली
2. **सागार धर्मामृत,** पृष्ठ 93, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 1978

किसके साथ विवाह करना, किसके साथ नहीं ? – इसका नियम[1]

विवाह करने से पूर्व जैन संविधान के अनुसार निम्न बातों का विचार अवश्य करना चाहिए –

1. पुरुष को ऐसी कन्या और कन्या को ऐसे वर के साथ विवाह करना चाहिए, जो उनके गोत्र के न हों, परन्तु जाति दोनों की समान हों, साथ ही आरोग्यवान्, विद्यावान्, शीलवान्, रूपवान्, उच्चकुलीन, एवं उत्तम गुणों से सम्पन्न हों।

2. कन्या के लिए एक विशेष बात का ध्यान रखना योग्य माना गया है कि वह आयु और डीलडौल में वर से न्यून हो, परन्तु यह कोई सर्वथा आवश्यक नियम नहीं है। हाँ, वर-वधु, दोनों का समान-गोत्री नहीं होने का नियम अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

3. बुआ की लड़की, मामा की लड़की, साली आदि के साथ विवाह करने के सम्बन्ध में स्थानीय रिवाजों को प्रमुखता देना चाहिए। हाँ, यह जरूर माना गया है कि मौसी की लड़की अथवा सासू की बहिन से विवाह करने के लिए मना किया गया है।

4. यदि विवाह का इकरार या सगाई आदि हो चुके हैं, परन्तु बाद में किसी भी कारण से उनमें से कोई एक पक्ष, विवाह करने से इन्कार करता है तो दूसरा पक्ष हर्जाने का हकदार है।

5. यदि विवाह से पूर्व, वर या वधु, किसी का स्वर्गवास हो जाता है और उसको यदि अपर-पक्ष से कुछ जेवर आदि शगुन या भेंट के रूप में मिला हो तो उस पक्षवालों को खर्चा काटकर, वह सम्पूर्ण रकम अपर-पक्ष को लौटा देना चाहिए। इसी प्रकार ननिहाल आदि या कुटुम्ब आदि से भी कोई रकम आई हो तो उसे भी लौटा देना चाहिए।

6. जैन नीति के अनुसार उच्च वर्णवाला पुरुष, नीच वर्णवाली कन्या से विवाह तो कर सकता है, परन्तु नीच वर्ण में भी यदि शूद्र

---

1. **जैन कानून,** स्व. बैरिस्टर श्री चम्पतरायजी, पृष्ठ 8-11 (त्रैवर्णाचार, अर्हन्नीति, इन्द्रनन्दि-संहिता, भद्रबाहु-संहिता, धर्मसंग्रह-श्रावकाचार आदि के आधार पर)

कन्या है तो उसकी सन्तान को पिता की सम्पति में केवल गुजारे की अधिकारी माना है। अथवा उन्हें वही सम्पत्ति मिलेगी, जिसे उनके पिता ने अपने जीते-जी (मृत्यु से पूर्व ही) दी होगी।

7. आदिपुराण में कहा है कि शूद्र पुरुष को केवल अपने वर्ण में अर्थात् शूद्र स्त्री से ही विवाह करने का अधिकार है।[79] इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण, चारों वर्ण की स्त्रियों के साथ; क्षत्रिय, ब्राह्मण को छोड़कर तीन वर्ण की स्त्रियों के साथ; वैश्य, ऊपर के दो वर्णों को छोड़कर बाकी दो वर्ण की स्त्रियों के साथ; एवं शूद्र, केवल शूद्र वर्ण की स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता है।[1]

8. विधवा विवाह के सम्बन्ध में कहा है जैन संविधान कहता है कि यद्यपि पुराणों में कोई उदाहरण विधवा विवाह के समर्थन में नहीं पाया जाता है, किन्तु शास्त्रों में इसके सम्बन्ध में स्पष्टतः कोई आज्ञा या निषेध नहीं मिलता है; इसलिए बैरिस्टर चम्पतरायजी के अनुसार विधवा विवाह सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय देश-काल के मान्य व्यवहार के अनुसार ही किया जाना चाहिए।

विवाह का उद्देश्य[2]

विवाह के निम्न सात उद्दे य हैं —

1. मन में उत्पन्न वासना को धीरे-धीरे ान्त करना।

2. व्यभिचार जैसे महापाप से बच कर, 'स्वदारसन्तो व्रत' का पालन करना।

3. सामाजिकता को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए दुराचार से दूर रह कर, वै ायिक सुख प्राप्त करना।

4. मनु य, एक सामाजिक प्राणी होने के नाते जीवन का अकेलापन मिटाना।

1. **आदिपुराण,** 16 / 247

2. आर्यिका विज्ञानमती, **संस्कार मंजूषा,** उत्तरार्द्ध, पृ ठ 116 के आधार पर, सम्पादक, डॉ. चेतनप्रका ा पाटनी, प्रका ाक, धर्मोदय साहित्य प्रका ान, सागर

5. सुचारु ढ़ंग से भोजन-पानी आदि की व्यवस्था बनाना।

6. जीवन भर के लिए सुख-दुःख में सहयोग करने वाला स्थायी साथी प्राप्त करना।

7. अपनी कुल-परम्परा एवं मनु य-जाति को आगे बढ़ाना।''

विवाह का प्रयोजन

भारतीय परम्परा में त्रिवर्ग माने हैं — धर्म, अर्थ और काम। मोक्ष, त्रिवर्ग में सम्मिलित नहीं है, इसलिए उसे अपवर्ग माना है। गृहस्थ-जीवन मेँ त्रिवर्ग का वि ो ा महत्त्व है। गृहस्थी, अर्थ या धन के बिना नहीं चल सकती, अतः अर्थोपार्जन करना आव यक है, किन्तु अर्थोपार्जन धर्मपूर्वक करना चाहिए। गृहस्थी अर्थोपार्जन करे, किन्तु वह हिंसाजन्य न हो; वह नैतिक मूल्यों, समाज की मान्य परम्पराओं और दे ा के सरकारी कानूनों के विरुद्ध न हो।

इसी प्रकार गृहस्थ, काम-सेवन करे, किन्तु वह धर्मपूर्वक करे। वह काम-सेवन का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, इसलिए उसे स्वदार-सन्तो व्रत धारण करना चाहिए। इसका आ ाय यह है कि उसे अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों के प्रति माता, बहिन और बेटी के भाव रखने चाहिए।

विवाह का प्रयोजन, वं ा-परम्परा को आगे बढ़ाना है। विवाह, कोई अनियन्त्रित काम-सेवन का लाइसेन्स नहीं है।

विवाह क्या है ?

1. किसी योग्य लड़के-लड़की (वर-वधु) का, एक-दूसरे के प्रति जीवन समर्पित करना, **विवाह** है।

2. नीतिवाक्यामृत में आचार्य सोमदेव सूरि कहते हैं —

युक्तितो वरण-विधानं अग्नि-देव-द्विज-साक्षिकं च पाणि-ग्रहणं विवाहः।[81]

1. **नीतिवाक्यामृत,** आचार्य सोमदेवसूरि, 3, अनुवादक, पण्डित सुन्दरलाल ास्त्री

अर्थात् अग्नि, देव और द्विज की साक्षीपूर्वक पाणि-ग्रहण क्रिया का सम्पन्न होना, **विवाह** है।

3. आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक टीका में कहा है –

सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्या-वरणं विवाह इत्याख्यायते।[1]

अर्थात् सातावेदनीयकर्म और चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से कन्या के वरण करने को **विवाह** कहते हैं।

4. **विवाह** किसके साथ होना चाहिए? – इसका नीति-सम्मत वर्णन करते हुए ' ाान्तिनाथ-चरित' में कहा है –

वित्तं ययोरेव समं जगत्यां, कुलं ययोरेव समं प्रतीतम्।
मैत्री तयोरेव तयोर्विवाहस्तयोर्सुवादश्च निरूपितोऽस्ति।।

अर्थात् संसार में जिनके वैभव एवं कुल में समानता हो, उनके बीच ही **विवाह** और संवाद करना, उचित माना गया है।

5. कन्या के पिता या उसके अभिभावक को चाहिए कि वह कुलीन, ाीलवान, स्वस्थ, वयस्क, विद्वान्, धर्म-सम्पन्न, और भरे-पूरे कुटुम्ब से युक्त वर के साथ अपनी कन्या का विवाह करे।[2]

6. विवाह का अर्थ यह कदापि नहीं है कि 'लड़के को जीवन भर के लिए रोटी बनाना, कपड़े धोना, सफाई करना आदि काम करने वाली बिना पैसे की एक नौकरानी मिल गई है और लड़की को जीवन भर के लिए रोटी, कपड़ा, मकान, भोग-उपभोग आदि की सामग्री देने वाला एक पुरुष-साथी मिल गया है।'

7. एक पा चात्य दा ानिक ने कहा है कि एक सद्गुणी नारी से

1. **तत्त्वार्थवार्तिक** भाग 2, 7/28/1, आचार्य अकलंकदेव, सम्पादक, डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रका ाक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1990)
2. जैन, बलभद्र, **विवाह;** जैन, प्रेमसुमन, प्राक्कथन : नारी का सम्मान, पृ ठ 2

विवाह, जिन्दगी में तूफान में बन्दरगाह के समान है, जबकि बुरी और अयोग्य नारी से विवाह, बन्दरगाह में तूफान के समान होता है।

8. एक प्रसिद्ध मुस्लिम नेता ने अपने भाषण में एक बार भारतीय और भारतीयेतर संस्कृति की परस्पर तुलना करते हुए कहा था –

''भारतीय संस्कृति अर्थात् जैन, बौद्ध हिन्दू आदि में स्त्री-पुरु ा का विवाह, उनके ारीरों से नहीं होता, उनकी आत्माओं से होता है, क्योंकि ारीर तो न ट हो जाते हैं, किन्तु उनके मत में आत्मा अमर रहता है; इसलिए उनका प्रेम भी नहीं मरता है, वह दूसरे जन्म में भी उनके साथ रह सकता है।

उनका विवाह टूटता नहीं, उनका प्रेम टूटता नहीं; इसलिए हिन्दुओं और जैनों में तलाक की प्रथा ही नहीं है, एक बार विवाह होने पर वह जीवन-पर्यन्त बना रहता है।

दूसरी ओर मुसलमानों में विवाह दो ारीरों के होते हैं, वे स्थायी नहीं होते हैं। हमारे यहाँ तलाक की प्रथा है। तीन बार तलाक कहने मात्र से सम्बन्ध-विच्छिन्न हो जाता है।

इसी कारण पति-पत्नी के सम्बन्धों में कभी स्थायित्व नही आ पाता, हमेशा डर बना रहता है।''

''इसी प्रकार यूरोप में 'विवाह' एक बारगेन है, समझौता है; वहाँ पहले प्रेम होता है, फिर विवाह; जबकि भारतीय संस्कृति अर्थात् हिन्दुओं और जैनों में पहले विवाह होता है, फिर प्रेम होता है, क्योंकि बारगेन में सौदा पटा तो पटा, नहीं पटा तो अलग हो गए।

तलाक की बन्दूक लेकर चलने वालों की पारिवारिक भावना और स्थायित्व नहीं हो सकता। परिवार में जो बच्चे हैं, उनके असली पिता कौन हैं? – यह पता ही नहीं चलता तो फिर वे पिता भी अपने बच्चों के प्रति कर्तव्य और दायित्व का निर्वाह कैसे करेंगे।''[1]

1. जैन, बलभद्र, **विवाह;** लेख, भारतीय संस्कृति और विवाह, पृ ठ 10

विवाह-सम्बन्धी सावधानियाँ[1]

विवाह के पहले

1. दहेज से परहेज करें, अर्थात् दुल्हन ही दहेज है।
2. पुत्री के साथ देने हेतु आव यक सामग्री पहले से संजोएँ –
   - भगवान या गुरु की तस्वीर
   - धार्मिक या प्रेरणास्पद ग्रन्थ
   - वे टन और चौकी
   - पूजा के बर्तन एवं सामग्री
   - जपमाला
   - अ ट द्रव्य रखने की डिब्बी
   - पूजा के वस्त्र
   - पानी छानने का छन्ना
3. लड़का-लड़की में गुण देखें, कोरी सुन्दरता नहीं।
4. योग्य कन्या के साथ विवाह करने के अनेक लाभ हैं –
   - स्वदारसन्तो ाव्रत का पालन होता है।
   - कुल-परम्परा की सुरक्षा होती है।
   - आर्थिक-सन्तुलन बना रहता है।
   - सामाजिक प्रति ठा में योगदान रहता है।
   - उचित अवसर पर उसकी उचित सलाह काम आती है।
   - यदि मरण का अवसर आ जाए तो उसे सुधारने में मदद करती है।

---

1. आर्यिका विज्ञानमती, **संस्कार मंजूषा**, उत्तरार्द्ध, पृ ठ 116-176 के आधार पर, सम्पादक, डॉ. चेतनप्रका ा पाटनी, प्रका ाक, धर्मोदय साहित्य प्रका ान, सागर (2007) के आधार पर

विवाह के बाद

1. पत्नी के लट्टु न बनें।

2. सास-बहू के झगड़े में न पड़ें।

3. माँ और पत्नी – दोनों के साथ सम्बन्धों में विवेकसहित माधुर्य बनाये रखें अर्थात् न तो माँ के अतिभक्त बनें और न पत्नी का ही पक्ष रखें।

4. मूड या मानसिक स्थिति देखकर, वि ो ा बात कहें।

5. पत्नी को सबके सामने नहीं डाटें, मूल कारण की खोज करें, सभ्य-समझदार बनें।

6. पत्नी को सहयोग दें, घर के कामों में डिस्टर्ब या परे ाान नहीं करें, पत्नी को मासिक, पाक्षिक या साप्ताहिक हाथ-खर्च अवश्य दें।

7. लड़कों को चाहिए कि ससुराल के साथ सम्बन्धों में मर्यादा रखें, ससुराल में ज्यादा नहीं रहें।

8. पत्नी को सास-ससुर आदि की बुराई करने पर, प्रोत्साहन न दें।

9. बड़ों का सम्मान करें, बुजुर्गों के अनुभव से लाभ उठावें।

10. मौका पड़ने पर दूसरों की प्र ांसा करना सीखें।

11. सुबह उठ कर एवं रात्रि सोते समय नौ बार णमोकार मन्त्र का स्मरण करें।

पति-पत्नी के परस्-पर-व्यवहार

1. **'टी'** फ र ट्रस्ट (परस्पर वि वास रखें), साथ ही **'टी'** फ र टाइम (परस्पर साथ-साथ समय बिताएँ), **'टी'** फ र टॉकिंग (किसी भी परिस्थिति में बातचीत का व्यवहार बन्द न होने दें) और **'टी'** फ र टच (एक-दूसरे की भावनाओं का ध्यान रखें) – इन चार प्रकार के **'टी'** पर आधारित जीवन-व्यवहार को अपनाएँ।

2. सुख-दुःख की बात करें/दूसरे की सुनें/परस्पर सामंजस्य बनायें।

3. सुबह उठ कर, परस्पर जय-जिनेन्द्र आदि बोल कर, अभिवादन करें।

4. किसी भी वि ाय पर परस्पर बराबरी करने का प्रयत्न न करें।

5. परस्पर सन्देह न करें।

6. विवाह की व र्गाँठ पर परस्पर एक-दूसरे को बधाई व भेंट दें।

7. सोने से पहले मिल कर, सत्साहित्य पढ़ें।

8. सम्भव हो तो घर में साधना एवं स्वाध्याय कक्ष बनावें।

यद्यपि स्थानाभाव के कारण यहाँ उक्त वि ायों का विस्तार नहीं किया जा रहा है; लेकिन इन वि ायों के वि ो ा स्प टीकरण हेतु आर्यिका विज्ञानमती द्वारा लिखित 'संस्कार मंजू ा' का उत्तरार्द्ध अवश्य देखें।

विवाह-सम्बन्धी विधियाँ[1]

विवाह-विधि में क्रम ाः वाग्दान या सगाई, प्रदान या कन्यादान, वरण या वर द्वारा स्वीकरण, ग्रन्थि-बन्धन या गठजोड़ा, पाणिग्रहण या हथलेवा, और सप्तपदी या सप्तवचन स्वीकृतिपूर्वक भाँवर होती हैं।

इन क्रियाओं के प चात् वर और वधू, पति-पत्नी के रूप में अपने भावि-जीवन के आनन्द और ाान्ति को सुनि िचत करने के लिए सात-सात वचन या ार्तें रखते हैं और वे दोनों समस्त उपस्थित समुदाय एवं समाज के समक्ष जीवनभर उनको पालन करने का वचन देते हैं।

'सरल जैन विवाह-विधि' में निम्न दो छन्दों के माध्यम से विवाह-विधि को प्रद र्ाित किया गया है –

1. वाग्दान, लग्न-पत्र-लेखन-विधि, लग्न-पत्र-वाचन-विधि, बारात-निकासी, द्वार-चार, टीका, तोरण-विधि, भाँवर (सप्त फेरे) आदि की विस्तृत विधि जानने के लिए जबलपुर से प्रका ात **श्री सरल जैन विवाह विधि,** पृ ठ 12-52 देखें; और देखें, **जैन ल (जैन कानून),** स्व. बैरिस्टर चम्पतरायजी, पृष्ठ 11-12

वाग्दानं च प्रदानं च, वरण-पाणिपीडनम्।
सप्तपदीति पंचांगो, विवाहः परिकीर्तितः।।

तावद्विवाहो नैव स्याद्यावत्सप्तपदी न चेत्।
तस्मात्सप्तपदी कार्या, विवाहे मुनिभिः स्मृता।।

अर्थात् जिसमें वाग्दान (सगाई), प्रदान (कन्यादान), वरण (कन्या का स्वीकरण), पाणि-पीडन (हथलेवा) और सप्त-पदी (सप्त वचन स्वीकृति पूर्वक सात भाँवर) – ये पाँच कार्य हों, वही **विवाह** है।

जब तक सप्तपदी नहीं होती, तब तक 'विवाह सम्पन्न हुआ' – ऐसा नहीं कहा जा सकता; अतएव जब तक सप्तपदी न हो, तब तक वर या वधु को अधिकार है कि वह उचित न जचने पर, अपना विवाह उस वधु या वर के साथ नहीं करावें या इंकार कर देवें।

वाग्दान, सगाई या टीका

वर और कन्या के ाुभ लक्षणों, जातीय गोत्र-सम्बन्धी साकों और जन्म-पत्रिका के मिलान के अनुसार योग देख कर, उभय पक्षों के वचन-बद्ध होने को **वाग्दान, सगाई या टीका** कहते हैं।

इस क्रिया को विवाह से कुछ दिन पूर्व, समाज के पंचों तथा इ ट-जनों के समक्ष वर और कन्या के कुटुम्बियों को किसी एक स्थान पर एकत्र होकर करना चाहिए। यद्यपि आजकल यह विधि भी विवाह के दिन ही सम्पन्न होने लगी है, तथापि इसे उतना उचित नहीं कहा जा सकता है। कहीं-कहीं पर यह विधि, बहुत दिनों पहले से करने की विधि है, उसे भी उचित नहीं कहा जा सकता है।

वरण, प्रदान आदि विधियाँ

इसके बाद की **वरण, प्रदान, आदि विधियाँ, विवाह के समय ही** होती हैं; परन्तु परम्परानुसार विवाह के पूर्व निम्न विधियाँ सम्पन्न की जाती हैं –

1. विवाह से 5-7 दिन पूर्व कन्या पक्ष के द्वारा **लग्न-पत्र (लगुन) लेखन-विधि** की जाती है।

2. विवाह से 2-3 दिन पूर्व वर पक्ष के द्वारा **लग्न-पत्र-वाचन-विधि** की जाती है।

3. विवाह के दिन अथवा दूर अन्य ग्रामादि में वधू का घर होने पर, आवश्यकतानुसार एक-दो दिन पूर्व वर के घर से बारात, वधू के घर के लिए प्रस्थान करती है।

वहाँ पहुँचने के बाद विवाह से पूर्व वर के तात्कालिक निवास से श्री जिनेन्द्र भगवान के द नि-पूजन के बाद **बारात-निकासी** की जाती है। सामान्यतया घोड़ी पर बैठकर, वर की निकासी होती है, तथापि आजकल अन्य साधनों से भी वर की निकासी होने लगी है।

आजकल बारातों में जवान युवक-युवतियों के फूहड़ नृत्य होते हैं, जिसमें सारी मर्यादाएँ भंग हो जाती हैं, उन पर सामाजिक अंकुश लगाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

4. वर के साथ जब बारात, वधू के घर पहुँचती है, तो वहाँ द्वार-चार, टीका, अगवानी, आदि विधियाँ की जाती हैं।

5. आजकल बारात पहुँचने के बाद स्टेज पर वर-वधू को बैठा कर, वरणविधि के अन्तर्गत 'स्वागत समारोह' सम्पन्न किया जाता है, इसमें उपस्थित समुदाय के सामने वर-वधू परस्पर एक-दूसरे को माल्यार्पण समर्पित करते हैं एवं सभी उन्हें ाुभकामनाएँ देते हैं।

*लेकिन जब विवाह की विधि सप्तपदी या फेरे के बाद ही पूर्ण होती है तो उसके पूर्व इस स्वागत समारोह में 'परस्पर माल्यार्पण' की विधि होना चाहिए या नहीं, इस पर चिन्तन करने की आवश्यकता है।

6. तत्प चात् भोजन आदि से निवृत्त होकर भाँवर के स्थान पर मण्डप-वेदी-निर्माण, स्तम्भारोपण-विधि सम्पन्न होती है।

7. प चात् मंगल-कल ा-स्थापना करके, तिलक और रक्षा-सूत्र-बन्धन-विधि सम्पन्न होती है।

8. इसके बाद वर-वधू के माध्यम से गृहस्थाचार्य यन्त्राभि ोकपूर्वक नव देवता, सिद्ध भगवान, सिद्धयन्त्र या विनायकयन्त्र की पूजन, महार्घ्य, ाान्तिपाठ, विसर्जन आदि विधि सम्पन्न करते हैं।

9. पूजन के उपरान्त वर-वधू को मुकुट-बन्ध-क्रिया कराना चाहिए।

10. मुकुट-बन्ध के उपरान्त वरण-विधि, प्रदान-विधि आदि की क्रिया सम्पन्न कराना चाहिए।

वरण-विधि

इस वरण-विधि में कन्या के परिवारीजन, सबके सामने वर के सम्बन्धियों से अपनी कन्या, वर को प्रदान करने की इच्छा प्रगट करते हैं तथा वर के परिवारीजन भी अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं। साथ ही इसी अवसर पर वर एवं कन्या भी स्वीकृति प्रदान करते हैं।

इस समय उपस्थित नर-नारियों को वर से 'वृणीध्वम्' 'वृणीध्वम्' 'वृणीध्वम्' अर्थात् इस कन्या का 'वरण कीजिए' 'वरण कीजिए' 'वरण कीजिए' – इस तरह तीन बार जोर-जोर से कहना चाहिए।

इसी वरण-विधि की खुशहाली के उपलक्ष्य में वर्तमान में वर-वधू के परस्पर माल्यार्पण का कार्यक्रम करने की परम्परा प्रचलित है।

इस अवसर पर वर-वधू एवं उनके परिवार का संक्षिप्त परिचय भी दोनों पक्षों के उपस्थित समुदाय को बताया जाता है। साथ ही उपस्थित विशिष्ट गणमान्य पुरुषों द्वारा वर-वधू को सुखी विवाहित जीवन जीने का **आशीर्वाद समारोह** भी सम्पन्न किया जाता है।

सिद्ध-यन्त्र की स्थापना एवं मंगल द्रव्यों से सजावट

मण्डप-वेदी पर जिनेन्द्र भगवान के प्रतीकस्वरूप सिद्ध-यन्त्र एवं जिनवाणी की स्थापना करनी चाहिए।

1. झारी, 2. पंखा, 3. कल ा, 4. ध्वजा, 5. चँवर, 6. ठौना, 7. छत्र और 8. दर्पण – ये आठ मंगल द्रव्य हैं; इनसे तात्कालिक मण्डप-वेदी को सजाना चाहिए।

यदि ये आठ मंगल द्रव्य साक्षात् न हों तो एक रकाबी में उनके आकार बना कर, उनकी स्थापना, वेदी के पास अव य करना चाहिए।

कन्या-दान एवं पाणि-ग्रहण विधि

वरण-विधि के उपरान्त कन्या के पिता या मामा के माध्यम से प्रदान-विधि या कन्या-दान देने की विधि सम्पन्न की जाती है तथा वर के पिता या मामा की साक्षि में वर के द्वारा स्वीकृतिपूर्वक पाणिग्रहण या हथलेवा की विधि सम्पन्न होती है।

इस हेतु से गृहस्थाचार्य विद्वान् निम्न श्लोक का पाठ करते हैं –

हारिद्रपंकमवलिप्य सुवासिनीभिः,
दत्तं द्वयोर्जनकयोः खलु तौ गृहीत्वा।
वामं करं निजसुताभवमग्रपाणिं,
लिम्पेद्वरस्य च करद्वययोजनार्थम्।।

इस लोक का पाठ करते हुए जैसा कि इस विधि का नाम है, इसमें कन्या के पिता के द्वारा कन्या का हाथ वर के हाथ में दिया जाता है, उसी समय सौभाग्यवती स्त्रियाँ, वर और वधू पर मंगलस्वरूप अक्षत-क्षेपण करती हैं।

पश्चात् गृहस्थाचार्य के द्वारा निम्न मन्त्र पढ़ा जाता है –

ऊँ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते वर्द्धमानाय श्रीबलायुरारोग्य-सन्तानाभिवर्द्धनं भवतु, कन्यामिमामस्मै कुमाराय ददामि झ्वीं क्ष्वीं हं सः स्वाहा।

इस अवसर पर कन्या का पिता, तिलक-मन्त्र पूर्वक तिलक करके हथ-लेवा का दस्तूर वर के हाथ में देकर उनका आभार प्रदर्ित करता

---

1. **विवाह-विधि की सामग्री** – अ ट द्रव्य की सामग्री स्वयं तैयार करावें अथवा पुजारी आदि के माध्यम से मँगा लेवें। अन्य फुटकर सामग्री में अष्ट मंगल द्रव्य, 5 सुपारी, 5 हल्दी-गाँठ, 250 ग्राम रोली, 100 ग्राम पिसी हल्दी, 2 बड़ी कृत्रिम फूलमाला, 2 यज्ञोपवीत, कलावा, आदि ुद्ध स्वदे ी वस्तुएँ पहले से शोधन करके रखना चाहिए।

है। इस प्रसंग की खु ाहाली में वर और वधू के परिवारजनों के द्वारा धार्मिक संस्थाओं को दान देने की परम्परा है, क्योंकि जिनवाणी की आज्ञा है कि प्रत्येक गृहस्थ श्रावक को अपने कमाए हुए द्रव्य का दसवाँ हिस्सा, धार्मिक कार्यों में अव य लगाना चाहिए।

ग्रन्थि-बन्धन-विधि (गठ-जोड़ा)

पाणि-ग्रहण-विधि के उपरान्त गृहस्थाचार्य, कन्या की ओढ़नी के एक कोने में किसी सुहागिन स्त्री से एक रुपया या पाँच रुपये का सिक्का लेकर और उसके साथ थोड़े से अक्षत, सुपारी आदि बाँध कर, उस गाँठ को वर के दुपट्टे से बँधवा कर निम्न लोक पढ़ते हैं –

अस्मिन् जन्मन्येष बन्धो द्वयो र्वै,
कामे धर्मे वा गृहस्थत्व-भाजि।
योगो जातः पंच-देवाग्नि-साक्षी,
जाया-पत्योरंचल-ग्रन्थि-बन्धात्।।

अर्थात् इस गठ-जोड़े के माध्यम से इस भावि-दम्पत्ति के समस्त लौकिक और धार्मिक कार्यों में आजीवन मजबूत प्रेम-गाँठ बँध चुकी है, अब वह कभी खुल नहीं सकती, क्योंकि ये देव, अग्नि और पंचों की साक्षीपूर्वक ग्रन्थि-बन्धन से प्रतिज्ञा-बद्ध हुए हैं – यह प्रेमानुबन्ध-दम्पत्ति के अकाट्य एवं चिरस्थायी प्रेम का द्योतक है।

सात फेरों का उद्देश्य

सज्जाति - गार्हस्थ्य - परिव्रजत्वं,
सौरेन्द्र - साम्राज्य - जिनेश्वरत्वम्।
निर्वाणकं चेति पदानि सप्त,
भक्त्या यजेऽहं जिनपादपद्मम्।।

अर्थात् सज्जातित्व, सद्गृहस्थत्व, साधुत्व, इन्द्रत्व, चक्रवर्तित्व, जिनवरत्व एवं निर्वाणत्व – इन सात कल्याणस्वरूप पदों की प्राप्ति के लिए क्रम ः सात फेरे कराये जाते हैं।

"सप्त परम स्थानों की प्राप्ति एवं विवाह के उद्देश्यों की पूर्ति की भावना से जिनेन्द्र प्रतिमा के प्रतीक सिद्ध-यन्त्र की साक्षी में स्तम्भ या माँडने के सात फेरे लगाये जाते हैं –

1. **सज्जाति-परम-स्थान** अर्थात् जाति, कुल तथा सामाजिकता की मर्यादा अक्षुण्ण रखने के लिए **पहला फेरा** लगाया जाता है।

2. **सद्गृहस्थ-परम-स्थान** अर्थात् गृहस्थी के रथ को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए **दूसरा फेरा** लगाया जाता है।

3. **परिव्राज्-परम-स्थान** अर्थात् जल में कमल की तरह भोगों से निर्लिप्त रहने का अभ्यास करने के लिए अथवा दीक्षा लेकर भ्रमणशील परिव्राजक दिगम्बर साधु बनने के लिए **तीसरा फेरा** लगाया जाता है।

4. **सुरेन्द्र-परमस्थान** अर्थात् देव-दुर्लभ सुखों की प्राप्ति के लिए अथवा जब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, तब तक संसार में देवगति में सुरेन्द्र पद की प्राप्ति के लिए **चौथा फेरा** लगाया जाता है।

5. **साम्राज्य-परम** अर्थात् जब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, तब तक संसार में मनुष्यगति में चक्रवर्ति पद की प्राप्ति के लिए **पाँचवाँ फेरा** लगाया जाता है।

6. **आर्हन्त्य-परमस्थान** अर्थात् जीवन्मुक्त अर्हन्त अवस्था की प्राप्ति के लिए **छठा फेरा** लगाया जाता है।

7. **निर्वाण-परमस्थान** अर्थात् भवभ्रमण से सम्पूर्ण मुक्तिस्वरूप निर्वाणस्थान पाने के लिए **सातवाँ फेरा** लगाया जाता है।

इन सप्त परम स्थानों की प्राप्ति में ही गार्हस्थ्य-जीवन अर्थात् सफल वैवाहिक जीवन की सार्थकता है।"[1]

सप्त-पदी, सप्त-वचन एवं सप्त-फेरे

उक्त गठ-जोड़े के बाद गृहस्थाचार्य, वर को पीछे और कन्या को आगे करके सप्त परमस्थान की प्राप्ति के उद्देश्य से वेदी के चारों तरफ

---

1. देखो, पण्डित सनतकुमार विनोदकुमार जैन, रजवांस; **'जैन विवाह संस्कार', शुभ विवाह, क्या क्यों कैसे ?**, पृष्ठ 39 के आधार पर

वर और कन्या को प्रदक्षिणा (सात फेरे) दिलवावें तथा प्रत्येक प्रदक्षिणा (फेरे) के अन्त में जब वर और कन्या वेदी के सन्मुख अपने-अपने स्थान पर आ जावें, तब निम्न एक-एक अर्घ्य चढ़वावें। प्रदक्षिणा करते समय उपस्थित समुदाय को भी वर-वधू पर पु प-वृ टि करते रहना चाहिए तथा वादित्र-नाद भी होते रहना चाहिए।

प्रत्येक फेरे के बाद पढ़े जाने योग्य अर्घ्य

सज्जाति-परमस्थाने, सज्जातित्वं गुणार्चितम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्ग-मोक्ष-सुखाकरम्।।
ऊँ ह्रीं सज्जातित्व-परमस्थानाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।। १।।

सद्गृहस्थ-परमस्थाने, सद्गृहं जिननायकम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्ग-मोक्ष-सुखाकरम्।।
ऊँ ह्रीं सद्गृहस्थत्व-परमस्थानाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।। २।।

परिव्राज्-परमस्थाने, पारिव्राज्यं सुपूजितम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्ग-मोक्ष-सुखाकरम्।।
ऊँ ह्रीं पारिव्राज्य-परमस्थानाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।। ३।।

सुरेन्द्र-परमस्थाने, सुरेन्द्राद्यैक-पूजितम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्ग-मोक्ष-सुखाकरम्।।
ऊँ ह्रीं सुरेन्द्रत्व-परमस्थानाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।। ४।।

साम्राज्यं परमं भुंक्ते, चतुःकर्मविनाशकम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्ग-मोक्ष-सुखाकरम्।।
ऊँ ह्रीं साम्राज्य-परमस्थानाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।। ५।।

आर्हन्त्यं परमस्थानं, चतुःकर्मविनाशकम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्ग-मोक्ष-सुखाकरम्।।
ऊँ ह्रीं आर्हन्त्य-परमस्थानाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।। ६।।

गृहस्थाचार्य का उपदेश

इस प्रकार छह भाँवरों (फेरों या प्रदक्षिणाओं) के प चात्, गृहस्थाचार्य उन वर और वधू को अपने-अपने स्थान पर खड़ा करके कहे –

“हे होनहार दम्पत्ति ! सुनो, तुम्हारा यह दाम्पत्य-सम्बन्ध, जीवन-पर्यन्त के लिए हो रहा है। तुमको पृथक्-पृथक् दो ारीर वाले होते हुए भी एक-जैसे होकर, एक-दूसरे के सुख और दुःख में संवेदनापूर्वक सहभागिता रखते हुए सहायता करनी होगी। तुम्हारे द्वारा पवित्र जैनकुल की सन्तान-परम्परा के चलने से जैनधर्म की प्रभावना होना और तुम्हारी स्वयं की आत्मा का हित होना, परम आव यक है।

सुनो! यदि तुम्हें अभी भी आपस में कुछ और कहना-सुनना हो तो कह-सुन सकते हो। अभी भी मन न मिलने पर तुम दोनों स्वतन्त्र हो, तुम चाहो तो अपना सम्बन्ध, अन्य कन्या या अन्य वर के साथ कर सकते हो, क्योंकि हमारे आर्ा ग्रन्थों की आज्ञा है कि **’तावद्विवाहो नैव स्याद्, यावत्सप्तपदी भवेत्’।**

इसके बाद सातवाँ फेरा होने के पूर्व वर और वधू, गृहस्थाचार्य के माध्यम से एक-दूसरे से क्रम ाः सात-सात वचन माँगते हैं, जो निम्न प्रकार होते हैं –

वर के सप्त वचन

1. मेरे गुरुजन और कुटुम्बियों की यथायोग्य विनय और सेवा करनी होगी।

2. मेरी आज्ञा को भंग नहीं करना होगा।

3. मुझसे अथवा परिवार के वरिष्ठ सम्मानित व्यक्तियों से कठोर और अप्रिय वचन नहीं कहना होगा।

4. मेरे हितै ी तथा सत्पात्रों के आने पर उनके आदर-सत्कार और आहार आदि करते-कराते समय कलु ित मन नहीं रखना होगा।

5. मेरी आज्ञा के बिना किसी दूसरे के घर नहीं जाना होगा।

6. जहाँ बहुत भीड़ हो – ऐसे मेले आदि में अकेले नहीं जाना होगा तथा जिनके आचरण और धर्म खराब हैं – ऐसे मद्य आदि पीने वाले तथा विधर्मियों के घर कभी नहीं जाना होगा।

7. अपनी कोई भी गुप्त बात, मुझसे छिपानी नहीं होगी और मेरी या अपनी कोई गुप्त बात किसी दूसरे से नहीं कहनी होगी।

इसके बाद वर, वधू से निम्न प्रकार प्रतिज्ञा करवाता है –

वर (वधू से) – यदि तुम्हें मेरी ये सात ार्तें भली प्रकार प्रतिज्ञा रूप से स्वीकार हों तो तुम मेरी वामांगिनी हो सकती हो।

उस समय वधू, इन सप्त वचनों को सुन कर, निम्न प्रकार बोलते हुए अपनी सशर्त स्वीकृति प्रदान करती है –

वधू (वर से) – यदि आप भी मेरे सात वचनों को स्वीकार करें तो मैं भी सहर्ष आपके सात वचनों को स्वीकार करती हूँ –

वधू के सप्त वचन

1. पर-स्त्रियों के साथ काम-क्रीड़ा नहीं करनी होगी।

2. जुआ नहीं खेलना होगा।

3. अपनी सम्पत्ति पर मुझे समान अधिकार देना होगा।

4. न्याय और उद्योग से उपार्जित धन से मेरे भोजन, वस्त्र और आभू ाण की व्यवस्था करते हुए मेरी रक्षा करनी होगी।

5. तीर्थ-स्थान, जिन-मन्दिर आदि धर्म-स्थानों पर जाने में बाधक नहीं होते हुए, धार्मिक कार्यों से मुझे वंचित नहीं करना होगा। साथ ही उन कार्यों में समय-समय पर मेरा सहभागी भी होना होगा।

6. अनुचित और कठोर दण्ड मुझे नहीं देना होगा।

7. मुझे जीवन-पर्यन्त नहीं त्यागना होगा।

वधू के सप्त वचनों को सुन कर, वर, आ वासन-स्वरूप निम्न वचन बोल कर, अपनी स्वीकृति प्रदान करता है –

वर (वधू से) — मुझे ये सात वचन स्वीकार हैं; अतः तुम मेरे बाँये भाग में मेरे साथ आ जाओ।

इसके बाद वर एवं कन्या, दोनों की अनुमतिपूर्वक सातवाँ फेरा होता है।

उक्त सप्तपदी के बाद गृहस्थाचार्य, कन्या को वर के बाँयें भाग में खड़ा करा देवें। तदनन्तर वे वर को आगे और कन्या को पीछे करके नीचे लिखा लोक एवं मन्त्र पढ़ते हुए सातवाँ फेरा करावें —

निर्वाणं परमस्थानं, जिनभाषितमुत्तमम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्ग-मोक्ष-सुखाकरम्।।
ऊँ ह्रीं निर्वाणपरमस्थानाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।।७।।

अन्त में सात फेरों के बाद निम्न श्लोक एवं मन्त्र पढ़ते हुए अर्घ्य समर्पित करें —

सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं, पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं, निर्वाणं चेति सप्तकम्।।
ऊँ ह्रीं श्री सप्तपरमस्थानाय पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।।८।।

वरमाला

इस प्रकार सप्तपदी की पूर्णता के प्रतीकस्वरूप अर्घ्य चढ़ाने के बाद कन्या, वर को एवं वर, कन्या को एक-दूसरे का वरण करने हेतु 'वरमाला' पहनावें। जिस समय माला पहनायी जाए, उस समय वादित्र -नाद, जय-ध्वनि, पु प-व र्ा, मंगल-गान आदि किया जाए। इसके प चात् गृहस्थाचार्य, उन नव-दम्पति को पुनः उपदे । देवें —

गृहस्थाचार्य का पुनः उपदेश

हे नव-दम्पति ! सुनो, अब तुम केवल वर-वधू नहीं रहे हो, अब तुम पति-पत्नि हो गये हो; क्योंकि इस विवाह-विधि के द्वारा तुम्हारा जीवन-पर्यन्त के लिए अटूट सम्बन्ध स्थापित हो गया है; इसलिए तुम धर्म, अर्थ, और काम को अविरोधरूप से सेवन करते हुए मोक्षरूपी

पुरु ार्थ को साधने के लिए प्रयत्नवान् होना; क्योंकि केवल धर्म, अर्थ और काम के सेवन से सत्पथ की प्राप्ति नहीं हो सकती; अतः सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सुयोग मिलने के कारण तुम्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में भी अवश्य प्रवृत्त होना चाहिए।

पश्चात् नव-दम्पत्ति बनने के बाद सर्वप्रथम नव-देवताओं की पूजन सम्पन्न करें, पश्चात् गृहस्थाचार्य विद्वान् एवं पूज्य स्वजनों के समक्ष नत-मस्तक होकर, उनसे अपने सफल 'वैवाहिक जीवन' के लिए आ ीर्वाद लेवें।

विवाह में नव देवता या पंच परमेष्ठी पूजन का विधान

सप्तपदी या भाँवर के पश्चात् देव-शास्त्र-गुरु, पंच-परमेष्ठी अथवा नव-देवताओं — पाँच परमे ठी, जिन-मन्दिर, जिन-प्रतिमा, जिन-धर्म और जिन-वाणी की पूजन करना चाहिए।

तत्प चात् ान्ति-मन्त्रों का उच्चारण करते हुए ुद्धाम्नायानुसार ुद्ध पु पों से ान्तियज्ञ भी कर सकते हैं।

ध्यान रहे — सामान्यतः सप्त फेरों के पहले पूजन करने की परम्परा है, परन्तु जब सप्त फेरों के बाद ही विवाह पूर्ण माना जाता है, तो उसके पूर्व उन्हें दम्पत्ति मान कर, पूजन करना/कराना उचित नहीं है, अतः सप्त फेरों के बाद ही पूजन कराना उचित है।

श्रावकों का दैनिक व्यवहार कैसा हो ?

जैनधर्म के श्रावकाचार-संविधान के अन्तर्गत प्रत्येक जैन श्रावक को दैनिक ाट्-आव यक-कर्तव्यों का पालन करना बताया है —

देवपूजा गुरूपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने।।[60]

1. **पद्मनन्दि पंचविंशतिका;** आचार्य पद्मनन्दि; उपासक संस्कार, लोक 7, हिन्दी टीकाकार— पण्डित गजाधरलाल न्यायतीर्थ; प्रका क — श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट, नागपुर (1996)

अर्थात् 1. देवपूजा 2. गुरु की उपासना 3. स्वाध्याय 4. संयम 5. तप और 6. दान – ये छह आव यक कार्य, गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन करने योग्य बताये गये हैं।

उक्त कर्तव्यों को ही संक्षेप में धवला ग्रन्थ में कहा है कि 'गृहस्थों के लिए 'दान और पूजा' – ये दो कर्तव्य मुख्य हैं।'

गृहस्थ पाक्षिक श्रावक को अन्याय, अनीति और अभक्ष्य का त्याग आव यक बताया गया है। यदि वह इतना भी नहीं करता तो वह जैन कहलाने का भी अधिकारी नहीं है।

जैन गृहस्थ श्रावक की पहचान, उसके इन्हीं सद्गुणों के कारण सर्वत्र समाज में होती है। अनेक प्रसंगों में जैनी व्यक्ति के क्रिया-कलापों को आद र्श माना जाता है।

रा ट्र में उसकी सर्वत्र वि वसनीयता, प्रामाणिकता, ईमानदारी, निरोगता, सुय ा और सर्वांगीण सफलता के यही आधार रहे हैं।

यह आद र्श-परम्परा, न केवल व्यक्तिगत या पारिवारिक सुख-ाान्ति, प्रगति और समृद्धि के लिए अनिवार्य है, अपितु स्वस्थ नैतिक समाज एवं कल्याणकारी रा ट्र के निर्माण (Welfare State Formation) में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज' के लेखक डॉ. जगदी ाचन्द्र जैन लिखते हैं –

''भारतव र्ा, आदिकाल से धर्मों का दे ा रहा है। प्रारम्भ काल से ही प्राचीन भारतीय जीवन के आद र्ा में 'धर्म' की एक केन्द्रीय भूमिका रही है। मैगस्थनीज ने भारतीय ऋ ियों को ब्राह्मण और श्रमण – इन दो भागों में बाँटा है; श्रमण, जंगलों में रहते थे और वे लोगों की परम श्रद्धा के पात्र थे।[1]

1. देखिए, **परमत्थिनी नामक उदान की अट्ठकथा,** पृ ठ 338 एवं **अंगुत्तरनिकाय** 4, पृ ठ 35

.......समण (श्रमण) और माहण (ब्राह्मण) का उल्लेख जैन-सूत्रों में बहुत आदर के साथ किया गया है।[1]

वस्तुतः प्रजा के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को गढ़ने में श्रमणों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सामान्य जनता ही नहीं, राजे-महाराजे तक उनसे अत्यधिक प्रभावित थे।

श्रमण, चातुर्मास को छोड़ कर, व र्ा में लगभग आठ महीने एक जनपद से दूसरे जनपद में विहार (जणवय-विहार) करते हुए धर्म का उपदे ा देते फिरते थे। वे प्रायः सामान्यजनों द्वारा पथिकों और यात्रियों के लिए, नगर अथवा ग्राम के पास बनाये हुए चैत्यों अथवा उद्यानों में ठहरा करते थे।

सामान्यजन, उन्हें श्रद्धा की दृ टि से देखते थे, उद्यानों में उनके द र्ानों के लिए जाते थे, उनसे जिज्ञासा करते थे, उनके लिए अन्न-पान का प्रबन्ध करते थे तथा उन्हें रहने के लिए स्थान (वसति), आसन (पीठ), का ठ-पट्ट (फलक), ाय्या और संस्तारक आदि आव यक वस्तुएँ प्रदान करते थे।''[2]

दैनिक जीवन में जैनधर्म की आव यकता का प्रतिपादन करते हुए **ब्र. हेमचन्दजी 'हेम',** लाटी संहिता की प्रस्तावना में लिखते हैं –

''जैनधर्म का मूल उद्दे य; जन्म-मरण, आधि-व्याधि-उपाधि आदि अनेक दुःखों से पीड़ित संसारी प्राणियों को सच्चे सुख का मार्ग व उपाय द र्ाा कर, पूर्ण स्वाधीन ाा वत सुख की प्राप्ति कराना है।

जिसे सर्व दुःखों या बन्धनों से मुक्ति पाना हो, उसे जिनधर्म की ारण में आना ही होगा, क्योंकि अन्य कोई उपाय, रास्ता या इलाज

1. **आचारांगचूर्णि,** 2, पृ ठ 93
2. जैन, जगदी ाचन्द्र, **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज,** पाँचवाँ खण्ड (धार्मिक व्यवस्था), पहला अध्याय (श्रमण सम्प्रदाय), पृ ठ 379-380 प्रका ाक – चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी – 1 (ई. संवत् 1965)

है ही नहीं। जिन अर्थात् जितेन्द्रियत्व को प्राप्त पूर्ण सुखी आत्माएँ — ऐसे जिन या जिनेन्द्र के अनुयायी को ही जैन कहते हैं।

मनु य, जो कुछ सोचता है, या बोलता है, या करता है; वह सब उसका 'आचरण' कहलाता है। उस आचरण का सुधार ही मनु य का सुधार और उसका बिगाड़ ही मनु य का बिगाड़ कहलाता है।

मनु य, प्रवृत्ति- ील प्राणी है और उसकी प्रवृत्ति तीन द्वार — मन, वचन और काया से होती है। इनका सत्प्रयोग करना, पुण्य या ुभाचरण एवं असत्प्रयोग करना, पाप या अ ुभाचरण कहलाता है; किन्तु जहाँ ुभ-अ ुभ या सत्-असत् कोई भी प्रयोग या चे टाएँ न होकर, मात्र स्वरूपस्थ निर्विकल्प रहना होता है, वही स्वरूपाचरण धर्म कहलाता है, वही आत्मीक सुख है, वही संवर-निर्जरा-मोक्ष है।

ऐसे वास्तविक धर्म की प्राप्ति के उद्देश्य से पापाचरण से निवृत्त होना और पुण्याचरण में प्रवृत्त होना, व्यवहार से या उपचार से धर्म कहलाता है।

यथार्थ मोक्षमार्ग की साधक अवस्था में चारित्र के दो रूप प्रगट होते हैं। एक तो अ ुभ से निवृत्तिरूप एवं ुभ में प्रवृत्तिरूप, तथा दूसरा ुभा ुभ दोनों से निवृत्तिरूप एवं स्वरूप में प्रवृत्तिरूप। प्रथम व्यवहारिक-रूप अ ुद्धोपयोगस्वरूप है एवं दूसरा निश्चयरूप ुद्धोपयोगस्वरूप है।

प्रथम से बन्ध है और द्वितीय से अबन्ध है। जब ुभाचरण एवं अ ुभाचरण का परस्पर विचार करते हैं तो ुभाचरण में अ ुद्धता कम तथा अ ुभाचरण में अ ुद्धता अधिक है। इसी कारण ुभाचरणरूप व्यवहार में रहने को भला कहा जाता है, परन्तु वह भी पुण्य-बन्ध का कारण होने से नि चय से अबन्धता का कारण नहीं है।''[1]

---

1. **लाटी संहिता** (श्रावकाचार), पण्डित राजमल, प्रस्तावना, पृ ठ 8, हिन्दी टीकाकार, पण्डित लालाराम ास्त्री, प्रस्तावना, ब्र. हेमचन्द जैन, प्रका ाक, विनयदक्ष प्रका ान ट्रस्ट, मुम्बई (2002)

जैन संविधान का दैनिक जीवन में प्रयोग कैसे ?[56]

समाज में सच्चरित्र-निर्माण के लिए प्र िक्षण की आव यकता होती है। सद्गुण, व्यक्तित्व के विकास एवं उसकी पूर्णता के लिए अनिवार्य हैं। यह सत्य है कि सामाजिक अवगुणों को दूर और सद्गुणों का प्रसार करने के लिए नैतिक िक्षा की भी आव यकता है तो फिर यह प्र न उठना स्वाभाविक है कि ''क्या यह िक्षा, स्वतः ही मनु य के अन्तर्मन में प्रस्फुटित हो जाती है अथवा उसे प्रेरित करने के लिए कुछ ऐसे सामाजिक विधान की आव यकता है, जिसके द्वारा नैतिक विकास को प्रोत्साहन दिया जाए ?''

अतः आज यह प्र न हमें नैतिकता एवं न्याय के क्षेत्र में प्रवे ा करने पर बाध्य करता है और हमें यह जानने के लिए प्रेरित करता है कि जिस प्रकार एक बालक को सुख-दुःख का अनुभव एवं पारितो िक-दण्ड की व्यवस्था, अच्छी आदतों के निर्माण में सहायक होते हैं; उसी प्रकार समाज के नैतिक विकास में भी ुभ-कर्म की प्र ांसा और अ ुभ-कर्म की निन्दा अपेक्षित होते हैं।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल से ही मनु य, न्याय एवं दण्ड के द्वारा नैतिकता का विकास करता आया है। इसका कारण यह है कि नैतिकता, निःसन्देह सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। **मनुष्य, जब सदाचार के कारण समाज में सम्मान को प्राप्त होता है और दुराचार के कारण अपमान का सामना करता है तो वह स्वतः ही अपने आप में सद्गुणों का विकास करता है।**

यदि हम इस **जैन संविधान** का दैनिक जीवन में प्रयोग करें तो सम्भव है कि सम्पूर्ण वि व का ारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक स्वास्थ्य भी उन्नत एवं श्रे ठ हो जाए।

---

56. जैन, राजाराम; **अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत : जैनधर्म तथा लोकनायक वर्धमान महावीर,** पृ ठ 21-34 के आधार पर; प्रका ाक — श्री मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, नई दिल्ली

जैन संविधान में अतिचार एवं प्रायश्चित्त विधान

'जैन संविधान' से तात्पर्य जैनधर्म के द्वारा मान्य विश्वस्तरीय, वह संविधान (कथन, उपदेश या सन्देश) होता है, जो पूर्व अनन्तकालिक तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों एवं ज्ञानी-मनीि ियों की परम्परा से प्राप्त है तथा जो सम्पूर्ण विश्व, रा ट्र, प्रदे ा, समाज एवं प्रत्येक व्यक्ति के स्तर पर आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक, धार्मिक एवं नैतिक नियमों, विधियों, आज्ञाओं, रीतियों एवं व्यवस्था का सूचक एक महा विज्ञान है।

इस 'जैन संविधान' का प्रमुख स्रोत सम्पूर्ण जिनागम है। जिनागम को चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है – प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग।

यद्यपि इन चार अनुयोगों के नियम, कानून एवं सिद्धान्त अलग-अलग हैं; तथापि यहाँ प्रमुखतः चरणानुयोग को आधार बनाया गया है; जिसमें गृहस्थ एवं मुनियों के आचरण- सम्बन्धी व्रत-नियमों का वर्णन किया गया है।

इस चरणानुयोग का उद्दे य, जीवों को पाप से छुड़ाकर, धर्ममार्ग में लगाना है।

गृहस्थ एवं मुनिराज, वीतरागता की वृद्धि के लिए व्रतों को अंगीकार करते हैं; उनके निरतिचार पालन करने की प्रतिज्ञा करते हैं और ुद्धोपयोग की वृद्धि करते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं; परन्तु कभी-कभी किसी-किसी साधक के द्वारा व्रतों का पालन करते हुए, प्रमाद या अज्ञानव ा, असावधानी से कुछ अतिचार या दोष लग जाते हैं। उन्हीं की शुद्धि, प्रायश्चित्त के द्वारा होती है।

'अतिचार' से तात्पर्य – अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, एवं आभोग आदि दो ा, अपराध, भूल या त्रुटियों से है।

जैनधर्म के अनुसार इन सब अतिचारों का निराकरण या शुद्धिकरण, प्राय चित्त के माध्यम से होता है।

प्रायश्चित्त विधान के अन्तर्गत दण्डनीति[1]

प्राय चित्त-विधान से तात्पर्य – प चात्ताप, सुधार, ग्लानि, आत्म-निन्दा, आत्म-गर्हा, आत्म- ुद्धि, दो ा-निवारण, प्रतिसन्धान, साधना, तप, दण्ड, सजा आदि के संविधान या नियम-कानूनों से हैं।

नीतिवाक्यामृत के अध्याय 9, दण्ड-नीति समुद्देश 2 में कहा है –

यथादोषं दण्ड-प्रणयनं दण्ड-नीतिः।।2।।

अर्थात् अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल दण्ड देना, दण्ड-नीति है।

जिस व्यक्ति ने जैसा अपराध किया है, उसे उसके अनुकूल दण्ड देना, वही दण्ड-नीति है। जैसे, जुर्माना-योग्य अपराधी को उसके अपराध के अनुसार जुर्माना करना, न्यायोचित दण्ड-नीति है और इसके विपरीत कारावास या जेलखाने की कड़ी सजा देना, अन्याययुक्त अति कठोर दण्ड-नीति है, इत्यादि।

इसी प्रकार गुरु या विद्वान, अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देवें। जो राजा, अपराध से न्यूनाधिक अर्थात् कमती-बढ़ती दण्ड देता है; वह स्वयं अपराधियों के पापों से लिप्त हो जाता है, अतः वह स्वयं वि ुद्ध नहीं रहता है।

'नीतिवाक्यामृत में राजनीति'– इस वि ाय पर ोधकार्य करते हुए डॉ. एम. एल. ार्मा लिखते हैं –

''न्यायालय को भी उचित परीक्षा के बिना किसी व्यक्ति को दण्ड नहीं देना चाहिए। न्याय के हित में यह आव यक है कि पहले अभियुक्त का अपराध सिद्ध हो, तभी उसे दण्डित किया जाए। अपने क्रोध को

---

1. **नीतिवाक्यामृत,** आचार्य सोमदेवसूरि, दण्डनीति समुद्देश, 149-152 के आधार पर, अनुवादक, पण्डित सुन्दरलाल ास्त्री, प्रका ाक, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विम ि केन्द्र, ब्यावर (1996) एवं हिन्दी टीका, आर्यिका श्री विजयामती, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन विजया ग्रन्थ प्रकाशन समिति, झोटवाड़ा, जयपुर – 302012

ाान्त करने अथवा बदला लेने की भावना से किसी भी व्यक्ति को दण्ड देना, राजा के लिए सर्वथा अनुचित है।

...... (धर्म- ाास्त्रों तथा नीति- ाास्त्रों के अनुसार) न्यायालय में वादों (मुकदमों) पर खुले रूप में विचार किया जाता था। कोई भी व्यक्ति वहाँ की कार्यवाही को देख-सुन सकता था। भारत में गुप्तरूप से न्याय करने की प्रणाली को दो ायुक्त समझा जाता था।''[1]

चाणक्य-नीति के अनुसार भी राजा का कर्तव्य है कि वह ात्रु और पुत्र को उनके अपराध के अनुकूल पक्षपातरहित होकर दण्ड देवे, क्योंकि अपराधानुकूल न्यायोचित दण्ड ही इसलोक और परलोक की रक्षा करता है। दण्ड-नीति के आश्रय से उसे (राजा को) प्रजा के धर्म, व्यवहार और चारित्र की रक्षा करनी चाहिए।

यद्यपि न्यायालय में न्यायाधी ा जज के सामने मुकदमे में वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने-अपने पक्ष को सच्चा कहते हैं एवं वकीलों के द्वारा अपने-अपने पक्ष को सत्य सिद्ध करने में प्रयत्न ाील रहते हैं, परन्तु उनमें से सच्चा एक ही होता है – ऐसी अवस्था में दोनों पक्षों को ठीक-ठीक निर्णय करनेहेतु निम्नलिखित उपाय हो सकते हैं –

1. **दृष्ट-दोष** – जिसके अपराध को देख लिया गया हो।
2. **स्वयं वाद** – जो व्यक्ति, स्वयं अपने अपराध को स्वीकार करे।
3. **न्यायोचित बहस** – सरलतापूर्वक न्यायोचित जिरह (बहस) करके निर्णय करना।
4. **अपराध का कारण**–अपराध के कारणों को उपस्थित करना।
5. **शपथ-ग्रहण** – ापथ या कसम दिलाना।

उक्त पाँच उपाय, यथोक्त निर्णय के साधक हैं अर्थात् अपराधी के अपराध को सिद्ध करनेवाले हैं। वादी-प्रतिवादी के परस्पर-विरुद्ध

1. ार्मा एम. एल., **नीतिवाक्यामृत में राजनीति,** पृ ठ 173-174, प्रका ाक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रका ान, नई दिल्ली

कथन का यदि उक्त हेतुओं से निर्णय न हो सके तो साक्षियों और खुफिया पुलिस के द्वारा इसका अनुसन्धान कर, अपराधी का नि चय करना चाहिए।

इस प्रकार प्रबल युक्तियों द्वारा अपराधियों के अपराध का निर्णय करके यथायोग्य दण्ड-विधान करने से रा ट्र की सुरक्षा होती है; अतः अपराधानुकूल दण्ड-विधान को **दण्डनीति** कहते हैं।

नीतिवाक्यामृत के दण्डनीति समुद्देश में नौवें अध्याय कहा है –

प्रजा-पालनाय राजा दण्डः प्रणीयते, न धनार्थम्।। 3।।

अर्थात् राजा के द्वारा प्रजा की रक्षा के लिए अपराधियों को दण्ड-विधान किया जाता है, धन-प्राप्ति के लिए नहीं।

इसी प्रकार दण्डनीति की व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुए आदिपुराण में भी कहा है कि ''अपराधियों को दण्ड देना, जनता से कर वसूल करना, आदि कार्य राजाओं के आधीन रहते थे।''[1]

जैन संविधान की दण्ड–व्यवस्था का मूलाधार

यहाँ यह ज्वलन्त **प्रश्न** अत्यन्त प्रासंगिक है कि 'जैन संविधान' के रचयिता कौन हैं? उसे किसने बनाया है? क्या उसे बनानेवालों में उसे बनाने की योग्यता थी?

इसका **समाधान** यह है कि 'जैन कानून' को बनाने वाले परमगुरु सर्वज्ञदेव हैं और वे वीतरागी अर्थात् समस्त राग-द्वे ा से रहित होने के कारण सर्वथा निर्दो ा हैं। यद्यपि वर्तमान में सर्वज्ञदेव तो विद्यमान नहीं हैं, लेकिन उनके द्वारा बताया हुआ विधान, आचार्यों की परम्परा से होता हुआ हम तक आया है। अब यह हमारा कर्तव्य है कि हम उसे जन-जन तक पहुँचावें, जिससे समाज को इसका भरपूर लाभ मिल

1. **आदिपुराण,** 16 / 168 / 36, अनुवाद एवं सम्पादन, डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रका ाक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2004)

सके, तथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त कुरीतियों एवं ि ाथिलाचार पर अंकु ा लग सके।

दण्ड का एक अर्थ – पाप, अपराध या दो ा भी होता है।

चारित्रसार ग्रन्थ में लिखा है कि मन, वचन और काय के भेद से दण्ड तीन प्रकार का है।

मानसिक दण्ड राग, द्वे ा और मोह के भेद से तीन प्रकार का माना गया है।

वाचनिक दण्ड सात प्रकार का बताया गया है – 1. झूठ बोलना, 2. वचन से कह कर किसी के ज्ञान का घात करना, 3. चुगली करना, 4. कठोर वचन कहना, 5. अपनी प्र ांसा करना, 6. सन्ताप उत्पन्न करने वाले वचन कहना, और 7. हिंसा के वचन कहना।

इसी प्रकार **कायिक दण्ड** भी सात प्रकार का होता है – 1. प्राणियों का वध करना, 2. चोरी करना, 3. मैथुन करना, 4. परिग्रह रखना, 5. आरम्भ करना, 6. ताड़न करना, और 7. उग्र वे ा धारण करना।

जैन संविधान की दण्डनीति की वैज्ञानिकता

जैन ग्रन्थों में सात प्रकार की दण्ड-नीति बताई गई है –

1. हक्कार-नीति – पहले और दूसरे कुलकर के काल में इस नीति का प्रचलन था अर्थात् अपराधी को 'हा' (हाय हाय हाय .... कह कर खेद प्रगट करना) – इतना कह देने मात्र से वह दण्ड पा लेता था और वह समझ जाता था; अतः इसे 'हक्कार-नीति' कहा जाता है।

2. मक्कार-नीति – तीसरे और चौथे कुलकर के काल में 'मा' (ऐसा मत करो) – इतना कह देने मात्र से अपराधी दण्ड पा लेता था और वह समझ जाता था; अतः इसे 'मक्कार-नीति' कहते हैं।

3. धिक्कार-नीति – पाँचवें और छठे कुलकर के काल में 'धिक्' (तुम्हें धिक्कार है) – इतना कह देने मात्र से अपराधी दण्ड

पा लेता था और वह समझ जाता था; अंतः इसे 'धिक्कार-नीति' के नाम से जाना जाता है।

4. परिभाषण-नीति – ऋ ाभदेव के काल में इस नीति के द्वारा क्रोध-प्रद ान करके ताड़ित किया जाता था, अतः इसे परिभा ाण-नीति कहा जाता है।

5. परिमण्डल-नीति – ऋ ाभदेव के काल में ही इस नीति के द्वारा अपराधी व्यक्ति को किसी स्थान में बाँध दिया जाता था, स्थानाबद्ध किया जाता है; अतः इसे 'परिमण्डल-नीति' कहते हैं।

6. चारक-नीति – ऋ ाभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के काल में अपराधी को चारक अर्थात् जेल में डालने की नीति प्रारम्भ हुई; अतः इसे 'चारक-नीति' कहते हैं।

7. छविच्छेद-नीति – भरत चक्रवर्ती के ही काल में छविच्छेद अर्थात् हाथ, पैर, नाक, कान आदि का छेदन करना – इस नीति का प्रचलन हुआ; अतः इसे 'छविच्छेद-नीति' कहते हैं।

इस प्रकार कालक्रमानुसार सात नीतियों का प्रचलन हुआ।

जैन–संविधान–सम्मत दण्डनीति का माहात्म्य

चिकित्सागम इव दोष-विशुद्धि-हेतु-र्दण्डः अर्थात् जिस प्रकार आयुर्वेद ाास्त्र के अनुकूल औ ाधि-सेवन से रोगी के समस्त विकृत दो ा – वात, पित्त, कफ आदि का विकार एवं उससे होनेवाले बुखार-गल-गण्डादि समस्त रोग, वि ाुद्ध, ाान्त अर्थात् न ट हो जाते हैं; उसी प्रकार अपराधियों को दण्ड देने से उनके समस्त अपराध, वि ाुद्ध या न ट हो जाते हैं।

अपराधियों को दण्ड देने से रा ट्र वि ाुद्ध एवं अन्याय के प्रचार से रहित हो जाता है; लेकिन दण्ड-विधान के बिना दे ा में मत्स्य-न्याय अर्थात् बड़ी मछली के द्वारा छोटी मछली का खा जाना (अर्थात् बलवान व्यक्ति के द्वारा निर्बलों को सताया जाना आदि अन्याय का प्रचार) की प्रवृत्ति निस्सन्देह होने लगती है।

चाणक्य के अनुसार – रा ट्र को प्रजा-कण्टकों से सुरक्षित रखना; प्रजा को धर्म-अर्थ-काम पुरु ाार्थों का परस्पर की बाधा-रहित पालन कराना; उसे कर्तव्य में प्रवृत्त और अकर्तव्य से निवृत्त करना, वि ााल सैनिक संगठन द्वारा अप्राप्त राज्यादि की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि आदि दण्डनीति का प्रधान प्रयोजन है।''[1]

प्रजातन्त्र के इस युग में अदालतों के माध्यम से न्याय-व्यवस्था का विधान है, जिसमें प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को उनके धर्म एवं समाज के अनुरूप न्याय मिलना चाहिए – ऐसा ही हमारे भारतीय संविधान की रीति-नीति रही है, परन्तु जैनधर्मावलम्बियों को हिन्दूधर्म के अनुसार न्याय मिलता है, जिससे जैन समाज के अन्तर्मन को ठेस पहुँचती है। यह एक अत्यन्त विचारणीय बिन्दु है।

सूतक-पातक-विधान[2]

परिवार या खानदान में किसी नये सदस्य का जन्म होने पर या किसी सदस्य की मृत्यु होने पर सूतक-पातक माना जाता है। गइराई से विचार करने पर इस सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकलता है कि सूतक-पातक-विधान का मूल कारण हमारी स्वयं की राग-द्वेष परिणतियाँ ही हैं तथा राग-द्वेष से ही आत्मा की विशेष हिंसा करनेवाले हर्ष-शोक के परिणाम होते हैं। ऐसे परिणामों सहित जिन-मन्दिर में जाने से मन्दिर की मर्यादा एवं पवित्रता नष्ट होती है।

मन्दिर, हमारे वीतरागता के आयतन हैं, वहाँ वीतरागता की ही उपासना होनी चाहिए, लेकिन उन दिनों में हमारे मन्दिर जाने से उस

1. **नीतिवाक्यामृत**, आचार्य सोमदेवसूरि, दण्डनीति समुद्दे ा, 149-152 के आधार पर

2. पाठकों से निवेदन है कि यह सूतक-पातक विधान, कब, कैसा, कितने दिन का ग्राह्य होता है ? – इसे जानने के लिए लेखक की अन्य कृति **'शुभ विवाह : क्या, क्यों और कैसे ?'** का अध्ययन करें। इसी प्रकार वहाँ रजस्वला अर्थात् मासिक-धर्मवाली स्त्रियों, प्रसूता स्त्री आदि के सम्बन्ध में भी विस्तार से विवरण दिया गया है।

उद्देश्य की पूर्ति में बाधा पहुँचती है; अतः हमारे संविधान-निर्माताओं ने ऐसी व्यवस्था बना दी, जिससे श्रावक, मन्दिर नहीं जाने के दोष से मुक्त भी हो गया और मन्दिर की पवित्रता भी नष्ट नहीं हुई।

साधुगण, गृह-त्यागी श्रावक आदि महापुरुष, पारिवारिक मोह से मुक्त होते हैं; अतः उन्हें सूतक-पातक का दोष नहीं माना जाता।

इतना ही नहीं, बल्कि चक्रवर्ती, राजा आदि बड़े प्रशासनिक पदों पर आरूढ़ व्यक्ति भी इस सूतक-पातक-विधान से मुक्त माने गये हैं, क्योंकि उन पर महान जिम्मेदारियाँ होती हैं; अतः उन्हें इन सामाजिक विधि-विधानों से अलग कर दिया है, ताकि वे शासन-प्रशासन-कार्य जिम्मेदारी से निभा सकें।

इसी प्रकार जो पूजा-विधान आदि महत् कार्यों में यदि एक बार व्यक्ति संलग्न हो गया और यदि उसके प्रति दृढ़-बन्धन का प्रतीक रक्षासूत्र बँध गया तो फिर उसे सूतक-पातक नहीं लगता।

इस विधि की मनोवैज्ञानिकता को हम निम्न उदाहरण से समझ सकते हैं। जैसे, किसी के घर, बालक का जन्म या माता-पिता आदि का मरण हो गया हो और वह व्यक्ति, मन्दिर पहुँच जावे, तो निम्न आपत्तियाँ आती हैं –

1. घर की जिम्मेदारी का निर्वाह कैसे होगा ?

2. हर्ष के परिणाम तीव्र होने से वीतरागता की सम्यक् आराधना नहीं हो सकेगी ?

3. मन्दिर में आनेवाले लोगों की आराधना में भी बाधा आएगी, क्योंकि लोगों को भी यह जानने की उत्सुकता उत्पन्न होगी कि क्या हुआ ? जिससे अन्य जीवों को धर्मकार्य में बाधा पहुँचाने का दोष या पाप भी लगेगा।

सूतक-पातक को मानने से होनेवाले लाभ-हानि का इस प्रकार विचार किया जा सकता है –

सूतक-पातक को मानने से होनेवाले लाभ

1. मन्दिरजी नहीं जाने से घर में रहकर, विशेषरूप से एकान्त में बैठकर, तत्त्व-चिन्तन करने का विशेष मौका मिलता है।

2. यदि वैराग्य प्रसंग हो तो परिवारीजनों के साथ समूह में बैठकर पाठ या स्वाध्याय आदि करने का विशेष प्रसंग बनता है।

3. वैराग्य भावनाओं का विशेषरूप से जन्म होता है।

4. साधर्मियों एवं विद्वानों का समागम मिलता है।

5. विषयभोगों के प्रति विशेष अनासक्ति भाव उत्पन्न होता है।

6. पारिवारिक एवं साधर्मी वात्सल्य बढ़ता है।

7. लौकिक दृष्टि से इस निमित्त से घर की शुद्धि करने का प्रसंग बनता है।

सूतक-पातक को मानने से होनेवाली हानियाँ

1. मन्दिरजी में जाने से होनेवाले आत्म-शान्ति के लाभ से वे श्रावक-श्राविकाएँ वंचित हो जाते हैं।

2. कोई कोई तो इसका पालन करते करते मन्दिरजी जाना ही छोड़ देते हैं।

3. दिनचर्या बिगड़ जाती है, अच्छे संस्कार छूटने का भय रहता है।

4. आजकल पारिवारिक लगाव तो उतना होता नहीं है, लेकिन केवल पारम्परिक रूप से इसका निर्वाह करने के कारण परिणाम सदा खेद-खिन्न बना रहता है।

5. बड़े-बड़े परिवारों एवं खानदान में साल में अधिकांश समय सूतक-पातक का निर्वाह करने में ही निकल जाता है।

6. यही कारण है कि अनेक विद्वानों ने यह सलाह भी दी है कि बड़े घरों में अपनी बेटियों का विवाह नहीं करना चाहिए।

जैन संविधान की सर्वोदयवादिता

जैनधर्म, सर्वोदयवादी धर्म है। उसकी मान्यता है कि स्वस्थ समाज एवं रा ट्र-निर्माण के लिए यह आव यक है कि व्यक्ति का चरित्र उन्नत हो, भावनाएँ पवित्र हों।

आचार्य अमितगति ने 'भावना द्वाविं ातिका' में कहा है –

सत्त्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।[1]

अर्थात् हे प्रभु! **मेरा समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव, समस्त गुणियों के प्रति प्रमोद भाव, समस्त दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा -भाव और समस्त दुष्टों के प्रति माध्यस्थ्य भाव सदा होवे।**

पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्त ास्त्री ने लिखा है –

''भारतीय परम्परा में जैनधर्म, अपनी उदारता और व्यापकता के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बन के कारण यह अन्य सब धर्मों में श्रे ठ धर्म गिना जाता है।

इसी कारण इसके अनुयायी, संख्या में अल्प होने पर भी वि व के प्रधान धर्मों में इसकी परिगणना की जाती है।

....प्राणी मात्र की बुद्धि, अन्ध-वि वासों और अपने अज्ञान के कारण कुण्ठित हो रही है। जैनधर्म ने उनसे ऊपर उठ कर, उसे आगे बढ़ाने में सदा सहायता प्रदान की है।

....प्रकृति का यह नियम है कि सभी प्राणी अपने जन्म-क्षण से लेकर निरन्तर सुखी जीवन जीने के लिए आगे बढ़ने की चे टा करते रहते हैं, किन्तु जो आगे बढ़ने के समीचीन मार्ग का अनुसन्धान कर,

---

1. **भावना द्वात्रिंशतिका** अपरनाम **सामायिक पाठ**, आचार्य अमितगति, लोक 1, वृहद्-जिनवाणी-संग्रह, प्रका क, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1982)

उस पर चलने लगते हैं, वे तो आगे बढ़ जाते हैं और ोा प्राणी यों ही काल-यापन कर काल के गाल में समा जाते हैं।''[1]

जैनधर्म में 'धर्म' ाब्द का गहरा सम्बन्ध, प्राणीमात्र के कल्याण के साथ होता है। इस सम्बन्ध में पण्डितजी स्वयं आगे कहते हैं –

''धरतीति धर्मः – धर्म ाब्द की इस व्याख्या के अनुसार धर्म, वह कर्तव्य है, जो प्राणीमात्र के ऐहिक और पारलौकिक जीवन पर नियन्त्रण स्थापित कर, सबको सुपथ पर ले चलने में सहायक होता है।

यहाँ 'मानव मात्र' ाब्द का प्रयोग न कर, जान-बूझ कर, प्राणी मात्र ाब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि धर्म का आश्रय व अधिकार केवल मानव को ही प्राप्त न होकर, प्राणी मात्र को मिला हुआ है।

जैसे, किसी एक 'गौ' पर हिंस्र प ु का आक्रमण होने पर अन्य 'गौ' उसकी रक्षा के लिए क्यों दौड़ पड़ती हैं? इसका कारण क्या है? यही न कि 'अपनी रक्षा में हेतु अन्य की रक्षा है' – इसके महत्त्व को वे समझती हैं। यह समझदारी मनु यों तक ही सीमित नहीं है, किन्तु जितने जीव-धारी प्राणी हैं, न्यूनाधिक मात्रा में वह सबमें पाई जाती है।

यह वह विवेक है, जो प्रत्येक प्राणी को धर्म अर्थात् अपने कर्तव्य की ओर आकृ ट करता है। ......'धर्म' को हम इस प्रकार भी दो भागों में बाँट सकते हैं – व्यक्ति-धर्म और सामाजिक-धर्म।

तात्पर्य यह है कि व्यक्ति-धर्म, सब प्राणियों की ऐहिक और पार-लौकिक उन्नति और सुख-सुविधा का विचार करता है और सामाजिक-धर्म, मात्र मनु यों के ऐहिक हित साधन तक ही सीमित रहता है।

जैसे, जैनधर्म, मुख्यरूप से व्यक्तिवादी धर्म है, इसे **आत्मधर्म** भी कहते हैं। बौद्धधर्म भी व्यक्तिवादी धर्म माना गया है, परन्तु उसमें भी ये लक्षण उतने स्प टरूप से दृ टिगोचर नहीं होते, जो आत्मधर्म से सम्बन्धित हैं।

---

1. जैन, फूलचन्द, **वर्ण**, **जाति**, **और धर्म**, पृ ठ 17

ोा वैदिक, ईसाई, मुस्लिम आदि धर्म, मुख्यरूप से सामाजिक धर्म हैं; इनमें मनु य जाति को छोड़कर, अन्य जीवधारियों के हिताहित का तो विचार ही नहीं किया जाता है। मनु यों के हित का विचार करते हुए भी इनका दृ टिकोण उतना उदारवादी नहीं है।

जैसे, वैदिक धर्म के अनुसार कोई ाूद्र, अपना कर्म बदल कर, उच्च वर्ण के कर्तव्यों का अधिकारी नहीं बन सकता। इसमें क्षत्रिय और वै य वर्ण को भी ब्राह्मण वर्ण से हीन बताया गया है। 'ब्राह्मण सबका गुरु है' – यह इस धर्म की मुख्य मान्यता है। ....

यही कारण है कि इसे ब्राह्मण धर्म भी कहते हैं। ईसाई धर्म और मुस्लिम धर्म में यद्यपि इस प्रकार का श्रेणी-विभाग दृ टिगोचर नहीं होता और इन धर्मों में उच्च-नीच की भावना को समाज में मान्यता भी नहीं दी गई है, फिर भी इनका लक्ष्य कुछ नि िचत सिद्धान्तों के आधार पर मानव समाज तक ही सीमित है। आत्मिक उन्नति, इनका भी लक्ष्य नहीं है, इसलिए ये तीनों ही धर्म, सामाजिक धर्म के अन्तर्गत ही आते हैं।''[1]

अतः कहा जा सकता है कि जैनधर्म ही प्राणी मात्र का धर्म है क्योंकि उसमें स्व और पर की दया का भाव भरा है।

एक बार चर्चा के दौरान भिण्ड (म.प्र.) निवासी वैद्य श्री सुरे ाजी जैन ने मुझे बताया कि सिद्धवरकूट (रे ांदीगिरि, म.प्र.) में मध्यप्रदे ा के अल्पसंख्यक आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष **श्री इब्राहिम कुरैशी** नामक एक सरकारी अधिकारी ने इन्दौर की एक सभा में लगभग 1000 व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए बताया –

''जैनधर्म से प्रभावित होकर मैंने मद्य-माँस-मधु का सेवन करना छोड़ दिया है। स्वाध्याय करना भी मैंने ाुरु किया है। यद्यपि मुझे ाुरु में कुछ भी समझ नहीं आता था, तथापि जब से मैंने रात्रि-भोजन करना छोड़ा है तो मेरी समझ में भी कुछ-कुछ आना ाुरु हो गया है।

---

1. **वही**, पृ ठ 18-20 के आधार पर

यद्यपि मैं जैन समुदाय के बीच में जाता-आता रहता हूँ तो इसकी आलोचना, हमारे मुस्लिम समाज में भी यदा-कदा होती रहती है। उन्हें मेरे जैन समाज के साथ अधिक उठने-बैठने से भी ऐतराज होता है।

एक बार हमारे मित्र एक मुस्लिम भाई ने जब मुझसे कहा कि आप उनके यहाँ तो जाते-आते हो, परन्तु उन जैनी भाईयों को कभी अपने यहाँ नहीं लाते तो इसका कारण बताते हुए, मैंने उनसे कहा –

'हम हमे ा अपने मुस्लिम भाईयों के बारे में ही सोचते रहते हैं और कहते रहते हैं, इसी प्रकार हिन्दू भाई भी अपने हिन्दु भाईयों के बारे में ही बात करते हैं, लेकिन जैनी भाई, कभी अपने जैनी भाईयों के बारे में बात नहीं करते, वे हमे ा प्राणी मात्र के कल्याण की ही बात करते हैं, जीव मात्र के प्रति दया भाव की बात करते हैं।

हमारी बातें केवल हमारे हित के लिए ही होती हैं, जबकि उनकी बातें सर्व-जनोपयोगी और सर्व-जन-कल्याणकारी होती हैं; अतः हमारी बात उनके काम की नहीं है, परन्तु उनकी बात हम सब के काम की होती है। यही कारण है कि मुझे उनकी बातें अच्छी लगती हैं और इसीलिए मैं हमे ा उनके बीच में जाता-आता हूँ, परन्तु उन्हें अपने यहाँ नहीं लाता, क्योंकि उनको देने लायक हमारे पास कुछ भी नहीं है।''[1]

जैन संविधान में जाति-प्रथा का निषेध[2]

जैनधर्म, किसी जाति, वर्ग अथवा वर्ण-वि ो ा का नहीं है, बल्कि सभी प्रकार की संकीर्णताओं से ऊपर उठ कर, उसके विकास में सभीजाति, वर्ग अथवा वर्ण-वि ो ा का अथक् योगदान रहा है।

उसके सभी तीर्थंकर, जहाँ क्षत्रिय वर्ण के थे, वहीं उन सभी के गणधर (पट्ट ि ा य) ब्राह्मण जाति के थे।

---

1. जैन सुरे ाचन्द, भिण्ड से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर
2. **उत्तर पुराण**, आचार्य गुणभद्र, 74/492; एवं जैन, फूलचन्द, **वर्ण जाति और धर्म**, पृ ठ 348

दे ा-विदे ों में, उसके प्रचार-प्रसार में जहाँ ऋग्वेद-कालीन पणियों (बनियों/ वै यो) अथवा चारुदत्त, श्रीपाल, जिनेन्द्रदत्त, भवि यदत्त एवं अचल जैसे, महा सार्थवाहों ने श्रद्धा पूर्वक सभी प्रकार के योगदान किए, वहीं कलापूर्ण जैन मन्दिरों, मूर्तियों, मान-स्तम्भों, तोरण-द्वारों, कलापूर्ण तीर्थ-भूमियों एवं भवनों के निर्माण में अन्य सभी वर्णों के सक्रिय योगदानों को भुलाया नहीं जा सकता।

जैनधर्म में जाति, वर्ण एवं वर्ग जैसी, संकीर्णताओं का प्रारम्भ से ही कोई स्थान नहीं रहा। उसकी उदारता जग-जाहिर है। कर्नाटक, महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु में अभी भी जैन-ब्राह्मण, जैन-क्षत्रिय, जैन-कुम्भकार, जैन-कृषक (जैन-कासार एवं जैन-कलार) आदि जातियाँ बहुलता से पाई जाती हैं।

जहाँ ब्राह्मण-धर्म का मूलाधार जाति-प्रथा है; इस धर्म का साहित्य और ऐतिहासिक तथ्य भी इसके साक्षी हैं। जबकि जैनधर्म का जाति-प्रथा के साथ थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है।

मूल जैन साहित्य, इसका साक्षी है किन्तु मध्यकाल में जाति-धर्म का व्यापक प्रचार होने के कारण यह भी उससे अछूता न रह सका। इस काल में और इसके बाद जो जैन साहित्य लिखा गया, उसमें इसकी स्प ट छाया दृ टि-गोचर होती है।

उत्तरकालीन सोमदेव सूरि, जिनसेन आदि कितने ही आचार्य, जो जैनधर्म के सर्वमान्य आधार-स्तम्भ रहे, उन्हें भी किसी न किसी रूप में इसे प्रश्रय देना पड़ा।

वर्तमान में जैनधर्म के अनुयायियों में जो जाति-प्रथा का प्रचार और उसके प्रति आग्रह दिखाई देता है, यह उसी का फल है।

शंका – जैनधर्म में जाति-प्रथा को स्थान क्यों नहीं है?

समाधान – इसका उत्तर देते हुए आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में कहा है –

"मनु यों में गाय और अ व के समान कुछ भी जातिकृत भेद नहीं है। आकृति-भेद होता तो जातिकृत भेद मानना ठीक होता; परन्तु आकृति-भेद तो नहीं है, इसलिए पृथक्-पृथक् जाति की कल्पना करना व्यर्थ है।"[1]

आचार्य रवि ोण ने अपने पद्मपुराण में जातिवाद का नि ोध करते हुए यहाँ तक लिखा है –

"कोई जाति गर्हित नहीं है। वास्तव में गुण कल्याण के कारण हैं; क्योंकि भगवान् जिनेन्द्र ने व्रतों में स्थित चाण्डाल को भी ब्राह्मण माना है।"[2]

अमितगति श्रावकाचार के कर्ता इससे भी जोरदार ाब्दों में जातिवाद का नि ोध करते हुए कहते हैं –

"वास्तव में यह उच्च और नीचपने का विकल्प ही सुख और दुःख का करने वाला है। कोई उच्च और नीच जाति है और वह सुख और दुःख देती है – यह कदाचित् भी नहीं है।"[3]

गोत्र-कुल आदि के सम्बन्ध में जैन संविधान का मन्तव्य

इस सम्बन्ध में निम्न मन्तव्यों पर ध्यान देना आव यक है –

1. धर्म के दो भेद हैं – लौकिक और पारलौकिक। उनमें पारलौकिक धर्म में लौकिक धर्म को स्वीकार नहीं किया गया है।

2. जाति-प्रथा के साथ-साथ कुल और गोत्र के भी वि ाय में भी ऐसा ही जानना चाहिए।

3. आचार्य वीरसेन ने तो इक्ष्वाकु आदि कुलों को भी काल्पनिक बतलाया है।

---

1. **उत्तर पुराण,** आचार्य गुणभद्र, 74/492; एवं
   जैन, फूलचन्द, **वर्ण जाति और धर्म,** पृ ठ 348
2. **पद्म पुराण,** आचार्य रवि ोण, 11/203; एवं **वही,** पृ ठ 346
3. **अमितगति श्रावकाचार,** 7/38; एवं **वही,** पृ ठ 152 एवं 358

4. कर्म ाास्त्र में जिसे गोत्रकर्म कहा है, वह लौकिक गोत्र से भिन्न है; क्योंकि गोत्रकर्म जीव-विपाकी कर्म है। उसका उदय विग्रहगति में ही हो जाता है; अतः उसका लौकिक गोत्र से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

यह भी कहा है कि नीचगोत्र के साथ कोई भी मुनि नहीं होता; लेकिन जब कोई ऐसा व्यक्ति, मुनिपद अंगीकार करता है तो उसका नीचगोत्र बदलकर उच्चगोत्र हो जाता है - यह भी कहा है।

5. आगम में यह भी कहा है कि क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति नीच -गोत्री श्रावक को हो सकती है। यदि यह सम्भव है तो ध्यान देने की बात है कि क्षायिक सम्यक्त्व, केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है। लेकिन यदि एकान्त से यह मान लिया जाए कि ाूद्र, नियम से नीचगोत्री ही होते हैं और ो ा तीन वर्ण वाले मनु य उच्चगोत्री ही होते हैं तो उक्त क्षायिक सम्यक्त्व सम्बन्धी नियम से ाूद्र का केवली और श्रुतकेवली के पादमूल उपस्थित होना सिद्ध होता है।

जब ऐसा व्यक्ति, केवली और श्रुतकेवली के पादमूल अर्थात् समवसरण आदि में पहुँच सकता है तो उसका जिन-मन्दिर में जाना नि िद्ध है – यह कैसे माना जा सकता है?

6. यदि म्लेच्छ और ाूद्र को पर्यायवाची मान लिया जाए तो भी इस समस्या का समाधान सम्भव नहीं है; क्योंकि नीच-गोत्री म्लेच्छों को धर्म-पालन करने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई है तो फिर ाूद्रों को क्यों नहीं?

7. अतएव यही मानना उचित है कि अन्य वर्णवालों के समान ाूद्र भी पूरे धर्म को धारण करने के अधिकारी हैं। वे जिन-मन्दिर में जाकर उसी प्रकार जिनदेव का द ान-पूजन कर सकते हैं, जिस प्रकार अन्य वर्ण के मनु य।

8. जैनधर्म में मगरमच्छ आदि हिंसा कर्म करने वाले तिर्यंचों को भी काललब्धि आने पर वि ाुद्धता के साथ-साथ, सम्यग्द ान और पंचम

गुणस्थानवर्ती श्रावकधर्म का अधिकारी माना गया है तो यहाँ यह प्र न उठता है कि क्या ूद्रों को उन तिर्यंचों से भी अधिक हीन माना जाए?

9. स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि 'यदि चाण्डाल भी सम्यग्द ान से युक्त है तो वह देवतुल्य पूज्य माना गया है।'

10. पण्डितप्रवर आ ाधरजी ने कृ ि और वाणिज्य आदि से आजीविका करने वालों के समान सेवा और िल्प से आजीविका करने वाले को भी नित्य-नियम और आ टाह्निक आदि नैमित्तिक पूजनें करने का अधिकारी माना है।

11. इस प्रकार जाति-प्रथा के विरोध में जब स्प टरूप से आगम उपलब्ध है तो उसका कदाग्रह रखना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

12. पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, बाबू लक्ष्मीचन्दजी, मान्यवर साहू ान्तिप्रसादजी एवं उनका धर्मपत्नि सौ. रमारानी की स्प ट मान्यता थी कि जैनधर्म ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता। जो धर्म, मनु य-मनु य में भेद करता है, वह धर्म ही नहीं हो सकता।

13. बौद्ध और वेताम्बर परम्परा के साहित्य में भी जातिविरोधी विपुल सामग्री उपलब्ध होती है।

14. इसी प्रकार वैदिक परम्परा में भी कुछ ऐसी सामग्री उपलब्ध होती है, जो जातिवाद पर तीव्र प्रहार करती है।'"[1]

यहाँ इतना विचार तो करना ही चाहिए, कि किसी व्यक्ति के बाह्य आचरण की योग्यता क्या है ? यदि वह व्यक्ति, लौकिक दृष्टि से उच्च-गोत्री है और उसका बाह्य आचरण नीच है तो भी उसे अभिषेक आदि का अधिकार नहीं दिया जा सकता है ? तथा यदि कोई व्यक्ति लौकिक दृष्टि से नीच-गोत्री है और यदि उसने अपना आचरण जिनागम के अनुसार बना लिया है और बहुत काल से वह ऐसा कर रहा है तो क्या वह दर्शन-पूजन के योग्य नहीं है। इसमें भी विवेकपूर्वक अलग-अलग

1. देखें, जैन, फूलचन्द; **वर्ण, जाति, और धर्म,** पृ ठ 17-20 एवं पृ ठ 155-182 के आधार पर

परिस्थिति-जन्य अलग-अलग नियम बनाये जा सकते हैं कि किसी व्यक्ति का आचरण कितने समय में सम्पूर्णरूप से उचित माना जाएगा।

मैं स्वयं अपनी ससुराल नागपुर में लगभग 30 साल से रह रही हूँ। यहाँ जैन समाज में मैंने ऐसे दो उदाहरण देखे हैं –

1. एक सम्मान्य व्यक्ति श्री नीलकण्ठरावजी बुरडे, जो लौकिक-दृष्टि से कोष्ठी समाज में जन्मे थे, जो 40-50 साल तक नित्य-नियम देवदर्शन-पूजन-स्वाध्याय आदि कार्य करते रहे; जमीकन्द, रात्रिभोजन, अनछने पानी आदि अभक्ष्य पदार्थों का तो उन्हें आजीवन त्याग था।

अनेक बार तो हमारे साथ वे तीर्थयात्रा, शिविर आदि में सहभागी होने भी गये। नागपुर की दिगम्बर जैन समाज ने भी उनको एक सम्मानित व्यक्ति का स्थान दिया था। वे जब भी किसी विशेष ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रारम्भ करते थे तो कोई न कोई नियम अवश्य लेते थे।

2. दूसरी ओर एक और व्यक्ति हैं, जिन्होंने जैनकुल में उत्पन्न होने के बाद भी शराब का लाइसेन्स लेकर, उसे क्रय-विक्रय करने का व्यापार शुरु किया तो प्रारम्भ में समाज ने उन्हें समझाने का कोशिश भी की, लेकिन वे नहीं माने तो समाज ने उन्हें अनेक वर्षों तक सामाजिक कार्यों से बहिष्कृत कर दिया।

अन्त में, अभी कुछ दिन पूर्व ही उनकी चेतना भी पुनः जागृत हुई और उन्होंने वह व्यापार बन्द कर दिया, तो समाज ने भी सहृदय होकर उन्हें प्रायश्चित्त आदि देकर समाज में पुनः शामिल कर लिया।

जैन संविधान का राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व

आज भौतिकता की चकाचौंध में नैतिकता, सदाचार, एवं सुसंस्कारों के लोप होने के कारण समाज में अनाचार वृत्तियाँ पनप रही हैं, उसका कारण अपने वैभव ाली **'जैन संविधान'** के सम्बन्ध में अनभिज्ञता है।

मैं इस ोध-कार्य के माध्यम से उस सार्थक प्रयास को पुनः जागृत करने का प्रयत्न करना चाहती हूँ, ताकि उस दि ा में कुछ कदम, आगे

बढ़ाये जा सकें। इस दि ाा में एक सार्थक प्रयास, अत्यन्त जागरूक विचारक **स्व. बैरिस्टर चम्पतरायजी** ने **'जैन कानून'** के नाम से पुस्तक लिख कर किया था, लेकिन वह प्रकाशन भी हिन्दी/अंग्रेजी दो भा ााओं तक ही सीमित होकर रह गया। उसके माध्यम से जन-जागृति की दि ाा में जो ठोस कदम उठाए जाने की आव यकता थी, वह कुछ भी सम्भव नहीं हो पाया।

मेरा ऐसा मानना है कि यदि इस वि ाय पर बाद में कुछ ाोध-कार्य ही किये गये होते तो भी कुछ चेतना जागृत हो सकती थी; अतः इस दि ाा में मैं जैन समाज के गणमान्य नेताओं, विद्वानों, वकीलों, मनीा ियों एवं विचारकों के साथ-साथ **जैन-युवा-पीढ़ी से भी आह्वान करना चाहती हूँ कि वे इसे एक आन्दोलन के रूप में लें और इसे संसद के गलियारों तक पहुँचाएँ।**

वर्तमान में जिनागम में जितने भी नीति-परक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें से कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जिसमें जैनधर्म के अनुसार सम्पूर्ण लौकिक संवैधानिक व्यवस्था का वर्णन मिलता हो; अतः इस दि ाा में कार्य करने की महती आव यकता महसूस हो रही है कि **कोई मनीषी विद्वान् जिनागम के आलोक में जैनधर्मानुसार लौकिक जगत् का संविधान क्या हो ? — इसका विस्तृत आलेख तैयार करे और उसका अच्छी तरह माहौल बनाए, ताकि उस पर राजनीतिक स्तर पर संसद में चर्चा की जा सके।**

इसके माध्यम से हम यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि वर्तमान भारतीय संविधान, हमारी अत्यन्त प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुसार उतना सटीक एवं योग्य भी नहीं है; यह तो एक दृ टि से ब्रिटि ा संविधान की नकल मात्र है, इसमें अभी और भी आमूलचूल सं ाोधन एवं परिवर्तन-परिवर्द्धन की आव यकता है।

यहाँ हमारा प्र न है कि हजारों व ाों से हमारा दे ा, तीर्थंकरों, अर्हन्तों, बुद्धों, सिद्धहस्त साधकों एवं मनीा ियों का दे ा माना जाता रहा

है तो क्या उनके विचारों को आधार बना कर, हम अपने दे ा का वैसा संविधान नहीं बना सकते? — जिसके माध्यम से दे ा का सुचारू संचालन किया जा सके।

हाँ, यह भी उतना ही आवश्यक है कि हमारे इस नवीन एवं मौलिक संविधान को सर्वजनोपयोगी और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखनेवाला अव य होना चाहिए; क्योंकि हमारा दे ा विभिन्न विचित्रताओं से भरा हुआ दे ा है। लेकिन **मेरा विश्वास है कि हमारे जैनधर्म में वह ताकत एवं दृष्टि है, जो ऐसा भारतीय संविधान बना सके, जो सम्पूर्ण देश का निर्बाध शासन कर सके और सम्पूर्ण विश्व का मार्गदर्शन कर सके।**

जैनद ान एवं जैनधर्म के पास अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अनेकान्त, स्याद्वाद, आदि ऐसे मनोहर एवं वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं; जिससे वह समस्त लोकोपयोगी कार्यों को याथातथ्यरूप में प्रस्तुत कर सकता है। हमें मानव जगत् के साथ-साथ पर्यावरण की दृ टि को भी साथ में रखना होगा।

हमें यह मान कर चलना होगा कि यह सम्पूर्ण जगत्, केवल मानवों के लिए निर्मित नहीं है। इस पर जितना हम मानवों का अधि ाकार है, उतना ही प ाु-पक्षियों एवं वनस्पति-जगत् का भी अधिकार है। इतना ही नहीं, हमें हवा-पानी-अग्नि-पृथ्वी-पर्वत-जंगल आदि एवं समस्त जड़-जगत् को भी हमें बराबर का सम्मान देना आवश्यक है।

हमें पर्यावरण के समस्त आयामों को बराबरी का उचित स्थान देना होगा, वरना यह पृथ्वी न हमारे रहने लायक रहेगी और न किसी और के रहने लायक रहेगी।

सभी के हित में ही हमारा हित है — इस सिद्धान्त को हमें कभी नहीं भूलना चाहिए। यही कारण है कि जैनधर्म, प्राणीमात्र और जीवमात्र के कल्याण की बात करता है; इसी में पर्यावरण की भी सुरक्षा निहित है।

*****

तृतीय अध्याय

जैन संस्कृति

"जैन' ाब्द 'जिन' शब्द से नि पन्न है। 'जिन' अर्थात् पंचेन्द्रिय एवं मन पर तथा संसार के कारणभूत राग-द्वे ा-मोह पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति। आगम ग्रन्थों में 'जिन' ाब्द का अर्थ अतीन्द्रिय ज्ञानी, प्रत्यक्ष ज्ञानी आदि के रूप में भी किया जाता है। कम से कम जिसने मिथ्यात्वादि विकारी भावों में से कुछ न कुछ जीता हो, वही 'जिन' कहलाने का अधिकारी माना गया है।[1]

'जिन' ाब्द के पर्यायवाची नामों में वीतराग, सर्वज्ञ, अर्हत्, केवली आदि का भी समावे ा किया जाता है तथा जो 'जिन' का अनुयायी है, वही व्यक्ति 'जैन' कहलाता है।

इस प्रकार जैन कोई वि ो ा जाति नहीं है, वह तो एक धर्म है, उसका अनुसरण करने वाला 'जैन' कहलाता है; यदि वह व्यक्ति होता है तो वह व्यक्ति 'जैन' कहलाता है और यदि वह समाज होता है तो वह 'जैन समाज' कहलाता है। जैन-आचार-संहिता का पालन करने वाले सद्गृहस्थ को 'श्रावक' एवं साधु को 'श्रमण' कहते हैं।

जिस प्रकार महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म 'बौद्धधर्म' कहलाया, ईसा-मसीह द्वारा प्रतिपादित धर्म 'ईसाईधर्म' कहलाया, ि ाव के उपासक ' ौव' कहलाये और वि णु के उपासक 'वै णव' कहलाये; उसी प्रकार जिन-जिनवर-जिनवरवृषभ के उपासक 'जैन' कहलाते हैं, और उन जिनेन्द्रों द्वारा उपदि ट धर्म 'जैनधर्म' कहलाया।

1. धवला आदि ग्रन्थों में दूसरे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवों को 'जिन', सामान्य केवलियों को 'जिनवर', और तीर्थंकर केवलियों को 'जिनवर.वृषभ' माना गया है।

जैनधर्म की सबसे बड़ी वि ो ाता यह है कि जहाँ अन्य बौद्ध-ईसाई - ौव-वै णव आदि धर्मों में व्यक्ति पूजा को महत्त्व दिया गया, वहीं जैनधर्म में गुणों को महत्त्व दिया गया है। जैनधर्म का सबसे बड़ा मन्त्र णमोकार महामन्त्र माना गया है, उसमें भी गुणों को ही नमस्कार किया गया है। वह मन्त्र इस प्रकार है –

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।[1]

अर्थात् लोक के सब अर्हन्तों को नमस्कार हो, लोक के सब सिद्धों को नमस्कार हो, लोक के सब आचार्यों को नमस्कार हो, लोक के सब उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सब साधुओं को नमस्कार हो।

ाट्खण्डागम के मंगलाचरण में उल्लिखित इसी मन्त्र (गाथा सूत्र) को पंच परमागमों के रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में किंचित् अन्तर के साथ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है –

किच्चा अरहन्ताणं, सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं, साहूणं चेव सव्वेसिं।।[2]

इस गाथा-सूत्र में आचार्य के लिए गणधर और उपाध्याय के लिए अध्यापक शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि गणधर का अर्थ गण को धारण करनेवाला अर्थात् आचार्य ही होता है; इसी प्रकार उपाध्याय का पर्यायवाची अध्यापक होता ही है। शेष पद तो वही हैं।

1. **षट्खण्डागम,** आचार्य भूतबलि एवं आचार्य पु पदन्त, **धवला टीका,** आचार्य वीरसेन, सम्पादक, हीरालाल जैन, सहसम्पादक-द्वय, पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्त- ाास्त्री एवं पं. हीरालाल सिद्धान्त ाास्त्री, प्रका ाक, श्रीमन्त सेठ ि ाताबराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती एवं श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर मंगलाचरण

2. **प्रवचनसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, मंगलाचरण, गाथा 4, आत्मख्याति टीका, आचार्य अमृतचन्द्र, गुजराती अनुवादक, पण्डित हिम्मतलाल जेठालाल ााह, हिन्दी अनुवादक, पं. परमे ठीदास न्यायतीर्थ, प्रका ाक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (2005)

इस मन्त्र में कहा गया है कि जिनमें वास्तविक अर्हन्तत्व, सिद्धत्व, आचार्यत्व, मार्गद किल्व एवं साधुत्व आदि गुणों की वि ोाता होती है; वे ही नमस्कार करने योग्य होते हैं, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

इसीप्रकार जैन जगत् के सर्वमान्य ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' के मंगलाचरण में भी गुणों की पूज्यता का दिग्द नि इस प्रकार कराया गया है –

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।[1]

अर्थात् जो मोक्षमार्ग के नेता या परम हितोपदे ी हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता या परम वीतरागी हैं तथा जो वि व-तत्त्वों के ज्ञाता या पूर्ण ज्ञाता सर्वज्ञ हैं; उन्हें मैं उन जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दना करता हूँ।

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस व्यक्ति में उत्कृ ट गुणों की प्राप्ति पाई जाती है या जिसमें उन गुणों की अधिकता होती है, वही व्यक्ति पूज्य है, क्योंकि व्यक्ति और उसके गुणों को सर्वथा अलग-अलग नहीं देखा जा सकता है; अतः गुणों के साथ-साथ उसके धारक को भी पूज्य माना गया है।

धर्म की सार्वभौमिक व्याख्या : जैनधर्म-सम्मत

धर्म की सार्वभौमिक व्याख्या, जैनधर्म-सम्मत है। जैनधर्मानुसार, आत्मा चैतन्य-स्वरूपी है, ज्ञानोपयोगमयी है, अजर-अमर है, अखण्ड है, अमूर्तिक है, स्वदेह-प्रमाण है, स्व-पर-प्रका ाक है, और अनन्त गुण-पर्याय वाली है।

वह न तो स्त्री है, और न ही पुरु ा; क्योंकि ये उपाधियाँ तो देहाश्रित एवं कर्मजन्य हैं। पाँच इन्द्रियाँ और मन से उस आत्मा को देखना सम्भव नहीं।

1. **त वार्थसूत्र,** आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, मंगलाचरण, प्रका ाक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत

जैनधर्म, प्रकृति-प्रदत्त रंग-बिरंगे पु पों के एक ऐसे सदाबहार उद्यान के समान है, जिसने अपनी वैचारिक सौरभ और माधुर्य से प्राणि-मात्र के जीवन को आह्लादित, ऊर्जस्वित एवं सुसंस्कृत बनाए रखने के बहु-आयामी प्रयत्न किये हैं। **जैनधर्म, आत्म-सौन्दर्य को समृद्ध करने, आत्मानुशासन और आत्म-सन्तोष को विकसित करने की एक प्राकृतिक कला है।** उसका मूल उद्दे य है –

1. मानव के अन्तर्निहित गुणों को विकसित करने हेतु सम्यक् मार्ग प्रद ित करना।

2. जीवन में पु पों के नैसर्गिक माधुर्य के समान ही सौरभ और सौहार्द की भावना को जागृत करना।

3. परिवार, समाज एवं रा ट्र ही नहीं, अपितु समग्र प्राणि-जगत् में मंगलकारी आद ों एवं मैत्री-भाव को बिखेरते रहना।

4. स्वस्थ समाज, रा ट्र एवं सम्पूर्ण वि व के सर्वांगीण विकास के लिए निरन्तर मार्गद नि करते रहना।

जैनधर्म, सर्व-धर्म-समन्वय, सर्वोदय एवं विश्व-मैत्री का पर्यायवाची नाम है। लोक-हित-साधक सन्दे ों का प्रसार ही उसका प्रधान लक्ष्य है। वह वर्ग अथवा वर्ण की संकीर्ण सीमाओं से परे है।

जैनधर्म के सिद्धान्त, किसी पन्थ की या सम्प्रदाय-वि ो ा, रा ट्र-वि ो ा या केवल मानव-समाज की सीमा से संकुचित या आवे टित नहीं है, बल्कि वह तो प्राणि-मात्र की सुरक्षा एवं विकास तथा समस्त वि व के बहु-आयामी कल्याण के लिए युगानुकारी सन्दे ा-वाहक रहा है।

जैनधर्म के उपदेष्टा, धर्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं –

"हे समस्त संसार के भव्य जीवों! मैं तुम्हें दुष्ट कर्मों से रहित ऐसा समीचीन धर्म बताता हूँ, जो प्राणी मात्र को संसार के दुःखों से छुड़ाकर, उसे उत्तम सुख में स्थापित करता है।"[1]

1. आचार्य समन्तभद्र, **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** श्लोक 2

जैनधर्म : एक वैज्ञानिक धर्म

जैनधर्म, एक वैज्ञानिक धर्म है। वह ज्ञान-विज्ञान-मनोविज्ञान की सभी कसौटियों पर खरा उतरता है; इसलिए इटली के मनी ी चिन्तक **डॉ. एल. पी. टेसिटरी** ने अपनी ोध-भा ाण-माला में कहा है –

"The more scientific knowledge advances, the more Jain-Teachings will proved. Jainism is of a very high order, its important teachings are based upon Science.[1]

अर्थात् जितनी-जितनी विज्ञान की प्रगति होती जाएगी, उतनी-उतनी जैन िक्षाएँ सिद्ध होती जाएँगी; क्योंकि जैनधर्म में अपनाये गये मूल्यों का स्थान अत्यन्त महान है; उसकी सभी प्रमुख िक्षाएँ विज्ञान पर आधारित हैं।

लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष **अनन्तशयनम् आयंगर** ने जैनधर्म को स्प टतः वि ुद्ध वैज्ञानिक धर्म निरूपित करते हुए लिखा है –

''भारत के महान् सन्तों, जैसे, जैनधर्म के तीर्थंकर ऋ ाभदेव व भगवान महावीर के उपदे ों को हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है; क्योंकि जैन-धर्म का तत्त्वज्ञान, अनेकान्त (अनेक दृष्टिकोणों) पर आधारित है और जैनधर्म का आचार, अहिंसा पर प्रति ठापित।

जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्धश्रद्धा रख कर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है। **वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है।** उसका विकास एवं प्रसार, वैज्ञानिक ढ़ंग से हुआ है; क्योंकि जैनधर्म का भौतिक-विज्ञान और आत्म-विद्या का क्रमिक अन्वे ाण, आधुनिक-विज्ञान के सिद्धान्तों से समानता रखता है।

जैनधर्म ने विज्ञान के सभी प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है; जैसे कि पदार्थ-विज्ञान, प्राणी- ाास्त्र, मनो-विज्ञान, और काल, गति, स्थिति, आका ा एवं तत्त्वानुसन्धान।

1. Megusthunis, **Outlines of Jainism,** Page 90

श्री जगदी ाचन्द्र बसु ने वनस्पति में जीवन के अस्तित्व को सिद्ध कर, जैनधर्म के पवित्र धर्म ाास्त्रों....के वनस्पतिकायिक जीवों के चेतनत्व को प्रमाणित किया है।''[1]

जैनदर्शन के सुप्रसिद्ध उपदेष्टा **बा. ब्र. सुमतप्रकाश जैन,** अपने व्याख्यानों में हमे ा कहते हैं –

1. विज्ञान + हिंसा = सर्वनाश एवं

2. विज्ञान + अहिंसा = सर्वोदय

इस सूत्र वाक्य से हम उक्त डॉ. एल. पी. टेसिटरी के वक्तव्य के मर्म को समझ सकते हैं।

धर्म का स्वरूप एवं उसकी आवश्यकता

सुप्रसिद्ध दा ानिक **डॉ. राधाकृष्णन** ने 'धर्म की परिभा ा' लिखते हुए कहा है –

''सत्य की जिज्ञासा, विवेकपूर्ण समभाव और इन्हीं दो तत्त्वों के आधार से घटित जीवन-व्यवहार को 'धर्म' कहते हैं।''

आचार्य अमितगति ने धर्म की आव यकता को स्प ट करते हुए उसे निम्न ाब्दों में व्याख्यायित किया है –

''जिस प्रकार अन्न-विहीन शरीर, नेत्र-विहीन मुख, नीति-विहीन राष्ट्र, नमक-विहीन भोजन और चन्द्रमा-विहीन रात्रि सुशोभित नहीं होती; उसी प्रकार धर्म-विहीन जीवन भी सार्थक और सुशोभित नहीं होता।''[2]

इसी प्रकार **जिनागम** के अनुसार –

1. आयंगर अनन्त ायनम्, भूतपूर्व अध्यक्ष, लोकसभा, प्रस्तावना, **जैनधर्म** (लेखक – मुनि सु ील)
2. **अमितगति श्रावकाचार,** आचार्य अमितगति; श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1, 1/16; सम्पादक-अनुवादक = सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल ाास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रका ाक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001)

''धर्म, प्रत्येक जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है, किन्तु राग-द्वेष-मोह आदि के कारण जब उसमें कलुषता आ जाती है, तब उसमें ऐसे परिवर्तन आ जाते हैं कि उनसे उसकी जीवन-धारा ही बदल जाती है; अतः उस जीवात्मा को पुनः अपने उस स्वाभाविक गुण को प्राप्त करने में 'धर्म' ही एक परम औषधि का काम करता है।''

ध्यान रहे कि आचार-विचार- ुद्धि लाये बिना केवल बाह्याचार-प्रद िन तथा आराध्यों की मूर्तियों या देवी-देवताओं की पूजा-कीर्तन कर लेना मात्र ही 'धर्म' नहीं है। अथवा मन्दिर-मूर्ति-निर्माण, उनका प्रति ठा-कार्य या रथोत्सव या गजरथोत्सव आदि करा लेना मात्र भी 'धर्म' नहीं है। साथ ही इह-लोक के लिए ारीरिक एवं भौतिक सुख-प्राप्ति करना भी धर्म का मूल उद्दे य नहीं है। **'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'** – यह भी धर्म-प्राप्ति का लक्ष्य नहीं माना जा सकता।

'धर्म' तो आध्यात्मिक उत्कर्ष का नाम है, आत्म-गुणों के विकास का साधन है। वह जीवन को स्वावलम्बी बनाने हेतु स्वात्म-चिन्तन, मनन एवं स्वानुभव करने की दिशा प्रदान करने वाली एक रचनात्मक प्रक्रिया है। आचरण में अहिंसा, समन्वय-वृत्ति, सहज करुणा, अपरिग्रह, और सभी के प्रति मैत्री एवं प्रमोद भी धर्म की विविध-परिणतियाँ हैं।

धर्म, आत्मा में आने के लिए एक प्रवे ा-द्वार के समान है। आत्मा के साथ धर्म का स्प ि उस समय होता है, जब उसमें वीतरागी चेतना जागृत होती है। वीतरागी चेतना भी उसमें तभी जागृत होती है, जब उसमें राग-द्वे ा की समाप्ति होती है।

इस मान्यता के अनुसार आत्मा, स्वयं ही स्वयं का ई वर है। आत्मा, अपने प्र ास्त-अप्र ास्त कर्मों का स्वयं कर्ता है तथा उनके फलों का भोक्ता भी वह स्वयं ही है; इससे पृथक् ई वर नाम की कोई ाक्ति नहीं है।

उक्त मान्यता के अनुसार तो व्यक्ति, सम्यक्-साधना द्वारा अपनी आत्मा की ाक्ति को जागृत कर सकता है। वह राग-द्वे ा-विहीन होकर, संयम-तप-साधना कर, आत्मा में लगे हुए विभिन्न कर्मावरणों को न ट कर, ा वत मोक्ष-सुख भी प्राप्त कर सकता है।

मोक्ष-प्राप्ति के बाद फिर उसे इस संसार-चक्र में लौट कर, जन्म-मरण के क टों को नहीं भोगना पड़ता।

जैन संस्कृति में धार्मिक सहिष्णुता[1]

धर्म ही मानव की वि ोाता है। मनु य, जब अपने स्वार्थ और अपनी वासना-पूर्ति के लिए तत्पर होता है; तब वह लोभ, मोह, अहंकार, क्रोध आदि दुर्वृत्तियों (मलिन भावों) के अधीन हो जाता है, अपने विवेक को भूल जाता है, उसकी ऐसी प्रवृत्तियों से ही समाज को हानि उठानी पड़ती है। ऐसी आवेगमय परिस्थिति में आकर मानव, दुर्गति-गामी हो जाता है – ऐसे मानव को समाज में जो स्थिर रख सके, ऐसी ाक्ति और संकल्प-बल का ही नाम 'धर्म' है। ....

ऐसे धर्म से प्राप्त मार्ग को ठीक आचार में लानेवाला, जीवन-व्यवहार में परिणत करनेवाला कोई भी मानव, परम ान्ति को पा सकता है और ऐसे मानवों से समाज को सच्ची ान्ति मिलती है।

..... जैन तत्त्वज्ञान और आचार के उपदे ों के रूप में जो कुछ आज हमारे सामने ग्रन्थ-बद्ध मौजूद है, वह तो तीर्थंकर महावीर के उपदे ा का ही फल है; इसमें बहुत कुछ पूर्व तीर्थंकरों का ही उपदे ा समझना चाहिए, ाब्द चाहे भले ही महावीर के हों।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण का सर्वत्र प्रभाव

इसी आध्यात्मिक दृ टि से ही बुद्ध और महावीर, दोनों महापुरु ों ने अपने समय में प्रसिद्ध ब्राह्मण, यति, भिक्षु, जटी, मुण्डी, यज्ञ, जाति,

1. पाण्डे, बि ाम्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 1, पृ ठ 120-125 के आधार पर

भा ाा, तीर्थ-स्नान आदि ाब्दों के जो अर्थ जनता में प्रचलित थे, उनको बदल दिया। पुराने ाब्दों का उपयोग करके ही उनका आध्यात्मिक दृ टि से नया अर्थ प्रस्तुत किया।

उदाहरणार्थ, जैसे, एक चाण्डाल जाति का जैन-भिक्षु, ब्राह्मणों के यज्ञ में भिक्षार्थ जाकर, उनको यज्ञ का आध्यात्मिक अर्थ समझाने में सफल होता है।

जब ब्राह्मणों ने कहा कि ब्राह्मण ही दान का सुपात्र है, तब तुरन्त ही वह चाण्डाल-श्रमण उत्तर देता है कि आपकी बात ठीक है? लेकिन क्या जो क्रोधी हैं, परिग्रही हैं, झूठे हैं, चोर हैं, अब्रह्मचारी हैं; वे ब्राह्मण हैं या जो इन कुकृत्यों से विरत हैं; वे ब्राह्मण हैं? क्या जिन्होंने तोते की तरह वेद को रट लिया, वे ब्राह्मण हैं या जिन्होंने ाास्त्र की सारभूत बातें अपने जीवन में उतारी हैं, वे ब्राह्मण हैं ?

तब वे ब्राह्मण लज्जित होकर उस चाण्डाल की ारण लेते हैं और बरबस कह उठते हैं कि संसार में आखिर तपस्या ही की महिमा है, जाति की कोई महिमा नहीं।

संसार से कोई अच्छी बात लुप्त तो होती ही नहीं; अतः भारत में वही पुराना सन्दे ा महात्मा गांधी ने दोहराया।

अहिंसा के पीछे महावीर की आत्मौपम्य (आत्माश्रित) दृष्टि रही है। आज से ढाई हजार साल पहले उन्होंने जो अहिंसा का उपदेश दिया था, वह आज भी नया है।

धर्म के नाम पर होनेवाली हिंसा का प्र न, आज लोगों को इतना नहीं सताता; जितना साम्राज्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद आदि।

सभी कहते हैं कि हमारा ध्येय लोगों को सुखी करना है, किन्तु उसका तरीका वे परस्पर संहार के सिवाय और कोई नहीं बता पाते।

आत्मजयी ही वास्तविक इन्द्रियजयी

ऐसे समय में जगत् को महावीर के ाब्दों में यही कहना पड़ता है कि दूसरों का दमन करने की अपेक्षा पहले स्वयं अपना दमन करो।

स्वयं अपने दमन से, अपने आप जितेन्द्रिय बन जाने से सबका दमन स्वयमेव हो जाता है और फलस्वरूप वह सुख ही सुख पाता है। जिसने अपना दमन किया है, उसका दमन कोई भी व्यक्ति मार-पीट करके या उसका वध करके नहीं कर सकता; इसीलिए श्रेय इसी में है कि सर्वप्रथम अपने आपको संयमी और तपस्वी बनाकर, इन्द्रियजयी बनाया जाए।

जब इन्द्र ने प्रव्रज्या के लिए उद्यत नेमिराज से कहा – ''तुम अपने ात्रु को पराजित करके, फिर सुख से संयम धारण करो।''

तब उस राजर्ा (नेमिराज) ने ात्रु-दमन का जो तरीका बताया, वह आज के लोगों को एक नया उत्साह और एक नई दृ टि देने वाला है। उन्होंने कहा –

"संग्राम में जाकर हजारों और लाखों योद्धाओं को जीतना आसान है, लेकिन अपने आपको जीतना बड़ा कठिन है, आत्म -जय ही 'परम जय' है। इस परम जय को छोड़कर, मैं उस तुच्छ जय के पीछे क्यों पड़ूँ? आध्यात्मिक युद्ध, अर्थात् अपने साथ अपना युद्ध, वही मेरे सामने उपस्थित है तो इस बाह्य युद्ध में मैं क्यों फँसूँ?

युद्ध का उद्दे य, यदि सुख ही है और यदि वह सुख, मुझे स्वयं अपने ऊपर जय करने पर मिल सकता है तो मैं क्यों नाहक सबको मारता फिरूँ? ज्यों-ज्यों मैं दूसरों पर क्रोध करूँगा, दूसरों की हत्या करता फिरूँगा, मेरा बैर बढ़ता ही जाएगा और अन्त में वह बैर, मेरा ही सर्व ना ा कर देगा।

तब अच्छा तो यही है कि मैं क्रोध और बैर को ही न ट करने का प्रयत्न क्यों न करूँ? उनको न ट करने पर, किसी और को तो क ट देने का और न ट करने का सवाल ही नहीं उठता और मैं सुखी हो जाता हूँ।''

आज की इस दुनिया को जो दूसरों की हत्या में रत है, उसे जैन संस्कृति का यह सन्दे ा समायानुकूल है।

लोगों में जब तक क ट सहन करने की ताकत नहीं आती, तब तक प्रतिहिंसा की ज्वाला भड़कती रहती है। जैन श्रमणों के लिए अनेक प्रकार के क ट, समभावपूर्वक सहन करने की विधि महावीर ने बताई है। ..... उन्होंने कहा –

"जब तुम्हें कोई गाली दे, पीड़ा दे और अन्त में हत्या करने की भी चेष्टा करे; तब भी यह समझो कि वह तो अज्ञानी है। मैं भी यदि उसकी तरह क्रोधावेश में आकर उसका वध करने लगूँ तो उसमें और मुझमें क्या फर्क रह जाएगा? अरे, मुझे मार कर भी मेरा वह क्या बिगाड़ सकता है?

आत्मा के साथ जो यह शरीर का बन्धन लगा है, उसी बन्धन को ही तो वह काट रहा है। मेरी आत्मा तो नष्ट होगी ही नहीं; फिर मुझे किसका डर?"

मृत्युंजय करने का यह महा मन्त्र आज की भयभीत दुनिया को फिर से सिखाने की जरूरत है; वही कार्य, महात्मा गांधी ने किया।

आज की दुनिया में हम युद्ध-जन्य और अन्य नाना प्रकार के जो क ट देख रहे हैं, वे सब तृ णामूलक हैं – इस बात से कौन इंकार कर सकता है?

अतः महावीर ने और उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने इसी तृ णा-जय का, लोभ-विजय का और नम्र रहने का उपदे ा दिया था। लेकिन दुनिया, सम्पत्ति के पीछे पहले भी पागल रही है और आज भी है।

उसने महावीर का यह सन्दे ा नहीं अपनाया और इसीलिए वह युद्ध-मुक्त नहीं हुई और न क ट-मुक्त ही हुई; इसलिए यहाँ महावीर का यह सन्दे ा दोहराया जाए तो अनुचित नहीं होगा।

उनका कहना था कि ज्यों-ज्यों लाभ होता है, तृ णा बढ़ती ही जाती है, क्योंकि वह आका ा के समान अनन्त है।

एक आदमी को दुनिया भर की सम्पत्ति दी जाए, तब भी वह सन्तु ट नहीं होगा, और यदि इस तरह सभी तृ णा ील हो जाएँ तो

सिवाय युद्ध के और क्या नतीजा हो सकता है? अतएव मनु य-जाति का श्रेय इसी में है कि वह अपरिग्रह व्रत को अंगीकार करे।

इस प्रकार जो अकिंचन है, जिसका किसी वस्तु पर मोह नहीं है, वह किसलिए दूसरों से युद्ध करेगा?

इसी व्रत को अंगीकार करके मिथिला का नमि-राजर्ि जलती हुई मिथिला को देख कर भी कह सका था कि 'मेरा तो कुछ भी जलता नहीं। जिसके पास कुछ भी नहीं, वही सुख की नींद ले सकता है।' इस परिप्रेक्ष्य में हमें अपरिग्रह महाव्रत का महत्त्व समझना होगा।"

प्राणीमात्र को अभय प्रदान करनेवाली संस्कृति [1]

जैन संस्कृति की वि ो ाता है कि केवल मनु य को ही नहीं, बल्कि जीव मात्र को अभय बनाना। जैन संस्कृति कहती है कि दूसरों को विवेकपूर्ण जीवन बिताने के लिए प्रोत्साहित करो, उन्हें उसमें सहयोग दो (परस्परोपग्रहो जीवानाम्)। जैन संस्कृति गृहस्थ को इन्द्रिय-वासना से मुक्त होने की ि ाक्षा देती है।

जैनधर्म का पालन करनेवाले व्यक्ति को सात व्यसनों का सबसे पहले त्याग करना चाहिए, तब कहीं वह श्रावक बन सकता है।

धर्म पर श्रद्धा लाते ही उसे वासनाओं को जीतने का प्रयत्न प्रारम्भ कर देना चाहिए। जिनका उसे सर्वथा त्याग करना चाहिए, उन सात व्यसनों के नाम निम्न प्रकार हैं –

1. शिकार खेलना, मछली मारना आदि; 2. झूठ बोलना; 3. वेश्या-सेवन और पर-स्त्री-गमन करना; 4. चोरी करना, 5. शराब, भांग, चरस, मद्यपान आदि का सेवन करना; 6. जुआ खेलना, 7. मांस खाना।

जब गृहस्थ, अपनी वासनाओं को जीत लेगा, उन पर अधिकार कर लेगा, तब वह पापों और दोषों से बचने के लिए अहिंसा आदि

---

1. पाण्डे, बि म्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 1, **'जैन संस्कृति : सामाजिक आचार एवं निषेधाज्ञाएँ'**, पृ ठ 100-119 के आधार पर

व्रतों को धारण करेगा तो उसका नैतिक चरित्र दृढ़ होगा और हृदय, दया से परिपूर्ण होगा।

तभी वह नागरिक, आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ, गृहस्थ के ग्यारह दर्जों (ग्यारह प्रतिमाओं) को पालता हुआ, जब कषाय और काम-वासना को पूर्णतः जीतने के लिए कटिबद्ध होता है, तब वह साधु होता है और दिगम्बर वेष में ज्ञान-ध्यान में लीन रहकर, लोकोपकार में अपनी सारी शक्ति लगा देता है।

साधु होने के पहले वह गृहस्थ के सातवें दर्जे (प्रतिमा) से पूर्ण ब्रह्मचर्य का अभ्यास प्रारम्भ करता है और ग्यारहवें दर्जे में पहुँच कर, (ऐलक) अपने तन पर एक लंगोटी रखता है। उसका ध्येय साधुपद धारण करके स्वयं बन्धन-मुक्त होना और लोक को बन्धन-मुक्त करना होता है – यह है जैन संस्कृति की साधारण रूप-रेखा।

जैन संस्कृति में अनादिकालीन तीर्थंकर-परम्परा

जैनियों का विश्वास है कि जैनधर्म शाश्वत है, उसके तत्त्वों का कभी नाश नहीं होता। अहिंसा और मैत्री, मनुष्य के लिए प्रकृति-सुलभ हैं – वे मिटें कैसे ? और जैनधर्म की आधार-शिला अहिंसा है।

ऋतु-परिवर्तन की तरह धर्म की भी उन्नति (उत्सर्पिणी) और अवनति (अवसर्पिणी) होती है; इसीलिए जैनी कहते हैं कि प्रत्येक कल्पकाल (उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी में अलग-अलग) में चौबीस तीर्थंकर क्रमशः जन्म लेकर जगत् का उद्धार करते हैं।

इस कल्पकाल (अवसर्पिणी) में भी चौबीस तीर्थंकर हो चुके हैं, जिनमें से पहले श्री ऋषभदेव थे और अन्तिम महावीर वर्द्धमान।

पहले तीर्थंकर ऋषभदेवजी को हिन्दू पुराणों में आठवाँ अवतार माना गया है।[1]

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ, काशी के इक्ष्वाकुवंशी राजा अश्वसेन

1. **भागवत पुराण,** प्रथम स्कन्ध, अध्याय 3

के सुपुत्र थे। वे अन्तिम तीर्थंकर से 250 वर्ष पहले सम्मेद शिखर (बिहार) से मुक्त हुए थे।

अन्तिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान, क्षत्रिय-पुत्र महाराजा सिद्धार्थ के राजकुमार थे। उन्होंने ईसवी सन् से 527 वर्ष पहले निर्वाण-पद पाया था। बिहार-प्रान्त का पावाग्राम (पावापुर) ही उनका निर्वाण-धाम है।

जैन शास्त्रों में चौबीसों तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र अंकित है, परन्तु पहले बाईस तीर्थंकरों की आयु और कार्य का लम्बा-चौड़ा वर्णन जिज्ञासुओं को शंका में डाल देता है। पाश्चात्य विद्वान् तो उन्हें पौराणिक बता देते हैं और कहते हैं कि जैनधर्म के संस्थापक तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हैं।[1]

किन्तु यह मान्यता निराधार है और जैकोबी को यह स्वीकार करना पड़ा कि जैन मान्यता में कुछ ऐतिहासिकता है।[2]

पूर्वकाल में मनुष्यों की आयु-काय लम्बी और बड़ी होती थी, क्योंकि मोहनजो-दड़ो (सिन्धु-घाटी) से मानव-शरीरों के जो अस्थि-पिंजर मिले हैं, वह इसके साक्षी हैं।[3]

वहाँ से लगभग 4-5 हजार वर्ष पुरानी मुद्राएँ और मूर्तियाँ भी मिली हैं, जो कुछ विद्वानों के अनुसार जैन मूर्तियों से मिलती हैं।[4]

प्राचीन साहित्य में तीर्थंकर ऋषभदेव के साक्ष्य

यथार्थतः जैनधर्म का इस काल में आदि प्रचार, तीर्थंकर ऋषभदेव के द्वारा ही हुआ है। ब्राह्मण एवं बौद्ध साहित्य और शिलालेखीय साक्ष्य भी यही बताते हैं।

1. **एन्साइक्लोपीडिया अफ रिलीजन एण्ड इथिक्स,** भाग 7, पृष्ठ 465
2. **इण्डियन एण्टिक्वेरी,** IX. 163
3. मार्शल, मोहनजोदड़ों, 152-78; चन्दा, मडर्न रिव्यू, अगस्ट, 1932, Pg 156-159
4. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग VIII, No.2 सप्लिमेन्ट अफ इण्डस् सिविलाइजेशन

यूं तो स्वयं ऋग्वेद में भी 'ऋषभ' नाम का उल्लेख है, परन्तु अनेक विद्वानों को यह शंका है कि वे जैन तीर्थंकर थे।[1] सायण ने वह व्यक्तिवाचक नाम बताया है।[2] यहाँ पर हिन्दू इस पुराण प्रकरण को स्पष्ट कर देते हैं।[3] उनमें सिर्फ एक ही ऋषभ का वर्णन है, जो जैन तीर्थंकर के चरित्र के सर्वथा अनुकूल है।

प्रो. विरूपक्ष वहियर वेदतीर्थ के मतानुसार ऋग्वेद में प्रथम तीर्थंकर का उल्लेख मानना अनुचित नहीं है।[4]

बौद्ध-ग्रन्थ न्याय-बिन्दु[5], सत्शास्त्र[6] और आर्यमंजु श्री मूलकल्प[7] में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख है और उन्हें जैनधर्म का प्रतिपादक लिखा है।

शिलालेखीय साक्ष्यों में तीर्थंकर ऋषभदेव

उड़ीसा में कलिंग की हाथी गुम्फा वाले प्रसिद्ध[8] शिलालेख में अर्गाजन (ऋषभदेव) की उस मूर्ति का उल्लेख है, जिसे नन्दवर्द्धन पटना ले गया था।[9]

यहाँ उस काल की अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि ऋषभदेव की मान्यता नन्द राजाओं के काल में भी प्रचलित थी।

---

1. हिस्टोरिकल क्लीनिंग्स, पृष्ठ 76
2. सर्वानुक्रमणिका, लन्दन, पृष्ठ 76
3. भागवत् पुराण, प्रथम स्कन्ध, अध्याय 3; मार्कण्डेय पुराण, अध्याय 50, पृ. 150; कूर्म पुराण, अध्याय 41, पृष्ठ 61; ब्रह्माण्ड पुराण, अध्याय 14, इत्यादि
4. प्रो. स्टीवेन्शन भी यह मानते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थकार, जैन तीर्थंकर ऋषभ का ही उल्लेख करते हैं। — कल्पसूत्र की भूमिका, पृष्ठ 16
5. अध्याय 3
6. वीर, वर्ष 4, पृष्ठ 353
7. निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभः, निर्ग्रन्थ रूपी, पृष्ठ 45
8. ई. पूर्व द्वितीय शताब्दी
9. जर्नल अ फ दी बिहार एण्ड ओड़िसा रिसर्च सोसायटी, भाग 3, पृष्ठ 465-467; व नोट्स अ न दी रिमेन्स अ न धौली एण्ड इन दी केव्स अ फ खण्डगिरि, पृ. 2

कंकाली टीला मथुरा से कुशानकालीन ऐसी जिन मूर्तियाँ निकली हैं, जिन पर ऋषभ आदि अनेक तीर्थंकरों के नाम अंकित हैं। वहाँ एक शिलापट्ट ऐसा मिला है, जिस पर कई तीर्थंकरों की मूर्तियाँ अंकित हैं और जिसे प्रो. बुल्हर व स्मिथ, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय का बताते हैं।[1]

इसका अर्थ यह हुआ कि चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता ई. पूर्व आठवीं शताब्दी में भी प्रचलित थी। अब यदि यह तीर्थंकर वास्तव में हुए ही न होते तो उस काल के लोग, उनकी मूर्तियाँ क्यों बनाते और क्यों उनके नाम की माला जपते?

अतः जैनों की यह मान्यता, कि 24 तीर्थंकरों ने क्रमानुसार इस काल में धर्म का प्रतिपादन किया, यह उचित प्रतीत होती है।.....

जैनधर्म की प्राचीनता के प्रमाण[2]

अनेक ि लालेखों एवं प्राचीन जैन मूर्तियों के माध्यम से यह सिद्ध होता है कि देव-मूर्तियों के निर्माण का प्रारम्भ जैनों ने किया। जैसे —

1. सुप्रसिद्ध इतिहासकार फ्युहरर द्वारा कंकाली टीला, मथुरा का सन् 1888-1891 ई. के बीच कराये गये पुरातात्त्विक उत्खनन से प्राप्त ि लालेख में ऋ ाभदेव की पूजा की बात कही गई है, जो कि ईसा से लगभग 2000 व ि पूर्व (आज से लगभग 4017 व ि पूर्व) का है।

2. सन् 1949 में साइप्रस में खुदाई के दौरान प्रथम जैन तीर्थंकर ऋ ाभदेव की कांस्य-निर्मित ई. पू. 1250 की मूर्ति प्राप्त हुई थी।

3. अजमेर के पास बडली ग्राम में एक जैन ि लालेख, वीर निर्वाण संवत् 84 (अर्थात् ईसा से 443 व ि पूर्व) का प्राप्त हुआ है, जिसे महामहोपाध्याय रा. ब. गौरी ंकर हीराचन्द ओझा ने स्वीकार किया है।

---

1. **जैन स्तूप एण्ड अदर ऐंटीकिवटीज अ न मथुरा,** पृष्ठ 24-25
2. जैन संजय, **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृ ठ 19-23 के आधार पर

इससे ज्ञात होता है कि आज से लगभग 2450 व र्ा पूर्व राजपूताना में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार था।

4. प्राचीन जैन ि लालेखों में प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़ और तमिल – इन चार भा ााओं का उपयोग हुआ है। अतिप्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ि लालेख, खण्डगिरि – उदयगिरि (उड़ीसा) की हाथी गुफा से प्राप्त हुआ है, जो जैन सम्राट् खारवेल ने उत्कीर्ण कराया था। यह लगभग 180 व र्ा ई. पू. का है; इसकी लिपि ब्राह्मी और भा ाा प्राकृत है; इसमें कलिंग-जिन की मूर्ति का उल्लेख मिलता है। डॉ. का ीप्रसाद जायसवाल के अनुसार यह कलिंग-जिन अर्थात् ऋ ाभ-जिन की मूर्ति है।

वि ो ा विचारणीय बात यह है कि खारवेल से भी लगभग 300 व र्ा पूर्व से (अर्थात् ईसा पूर्व पाँचवीं के आसपास) जैनधर्म, कलिंग का रा ट्रीय धर्म था तथा वहाँ सर्वत्र ऋ ाभ-मूर्ति की आराधना एवं पूजा-अर्चना की जाती थी, जिसे 'कलिंग-जिन' के नाम से पुकारा जाता था।

इस ि लालेख के अनुसार, सम्राट् खारवेल से लगभग 300 व र्ा मगध-सम्राट् नन्द, उसी मूर्ति को कलिंग से छीन कर मगध ले गये थे, जो तब तक सुरक्षित बनी रही, किन्तु अपने राज्याभि ोक के 12वें व र्ा में (अर्थात् ईसा पूर्व 168 व र्ा के लगभग) सम्राट् खारवेल, उस मूर्ति को मगध से जीत कर वापिस ले आये थे और उस समय उन्होंने उस मूर्ति की वि ो ा समारोहपूर्वक पुनर्प्रति ठा कराई थी।[1]

5. भारत की प्राचीनतम मूर्तियों में जैन तीर्थंकर प्रतिमा, जो लोहानीपुर पटना से प्राप्त हुई है, जिसे मौर्यकाल 320-185 ई. पू. की माना गया है। हड़प्पा में जो खण्डित जिन-प्रतिमा मिली है, उससे लोहानीपुर की इस जिन-प्रतिमा में एक अद्भुत सादृ य परिलक्षित होता है।

1. **Jain Shirines in India,** पृ ठ 16 एवं 24 एवं जैन संजय, **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृ ठ 19 के आधार पर

6. मथुरा से मिले प्राचीन अभिलेखों में तीन अभिलेखों[2] का आ ाय इस प्रकार प्राप्त होता है –

* ऋ ाभदेव प्रसन्न हों।
* अर्हन्तों की अर्चना हो।
* अर्हन्त वर्धमान की अर्चना हो।

7. रामनगर 'अहिच्छत्र, बरेली' से ई. पू. से ाताब्दियों पहले की निर्मित तीर्थंकर प्रतिमाएँ मिली हैं।[1]

8. मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त एक खड्गासन जैन मूर्ति पर लिखा है कि 'यह अर (अरनाथ) तीर्थंकर की प्रतिमा, संवत् 78 में देवों के द्वारा निर्मापित इस स्तूप की सीमा के भीतर स्थापित की गई।'

9. मथुरा ि ल्प में जैन तीर्थंकरों की कतिपय गुप्तकालीन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

10. पटना संग्रहालय में सुरक्षित चौसा संग्रह के गुप्तकालीन दो मूर्तियों में कन्धों तक लटकती लम्बी अलकों के लक्षण से युक्त आदिनाथ की पद्मासन प्रतिमाएँ हैं। प्रारम्भिक कला में आदिनाथ प्रतिमा की पहचान का वि ो ा प्रचलित आधार, ऐसी अलकों का प्रद ान भी है।

11. गोम्मटे वर भगवान बाहुबली की 57 फुट ऊँची वि व-प्रसिद्ध मूर्ति श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) में स्थित है। इसी वि ााल मूर्ति की एक झांकी, सन् 2005 को 26 जनवरी के दिन, गणतन्त्र दिवस परेड में महामहिम रा ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम एवं उपरा ट्रपति श्री भैरोंसिंह ोखावत के सामने प्रस्तुत की गई थी; इसका श्री कुन्दकुन्द भारती से प्रका ित 'जैन ाासन ध्वज' नामक पुस्तक के पृ ठ 30 पर तत्कालीन माननीय रा ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम का सलामी देता हुआ चित्र भी प्रका ित हुआ है।

1. **Epigraphica India,** Page 386
2. **लूडर्स जनरल आव दी रायल ऐशियाटिक सोसायटी,** जनवरी, 1912

जैन संस्कृति की प्राचीनता : इतिहासज्ञ व विद्वानों के विचार[1]

जैनधर्म की प्रारम्भ से ही ऐसी महिमा रही है कि उसने अपने सर्वोदयी एवं समन्वयी सिद्धान्तों से सभी को आकर्िात किया है।

पा चात्य चिन्तक मनीिायों में डॉ. हर्मन जैकोबी, डॉ. हर्टेल, अल्फ्रेड हड्सन, होर्नले, आर्नेस्ट लॉयमान, डॉ. ाुब्रिंग, डॉ. आल्सडोर्फ, डॉ. बर्नार्ड ाॉ, एवं प्राच्य विद्याविदों तथा इतिहासज्ञों में डॉ. आर. जी. भाण्डारकर, डॉ. एस. राधाकृ णन्, डॉ. सती ाचन्द्र विद्याभू ाण, महामना मदन मोहन मालवीय, डॉ. वासुदेव ारण अग्रवाल, डॉ. के. पी. जायसवाल, डॉ. ए. बी. ध्रुव, डॉ. ए. एस. आल्टेकर, डॉ. सैयद हुसैन, दे ारत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, पण्डित जवाहरलाल नेहरु, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृ णन्, बि ाम्भरनाथ पाण्डे, डॉ. राधा विनोद पाल, ड . सम्पूर्णानन्द, आदि ने उसकी प्र ांसा कर, उसे प्राचीन, मौलिक, सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन धर्म बतलाया है; उनमें से कुछ मनीषियों के विचार निम्न प्रकार हैं –

आचार्य श्री विनोबा भावे – जैन विचार, निःसं ाय प्राचीन काल से हैं।[2]

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक – लिपियों से हमें पता चलता है कि जैनधर्म अनन्तकाल से है।

मेजर जनरल फरलांग – ई. पू. 1500 से ई. पू. 800 व ा पर्यन्त एक प्राचीन, अत्यन्त संगठित धर्म प्रचलित था, वह जैनधर्म था।[3]

डॉ. जैकोबी – इंडो-आर्यन-इतिहास के अत्यन्त आरम्भिक काल में जैनधर्म का उद्भव हुआ था।[4]

डॉ. हेनरिच जिम्मर – जैनधर्म आर्यों से पूर्ववर्ती धर्म है। वह

1. जैन, संजय; **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृ ठ 19-21 के आधार पर
2. **वेद मन्त्र,** 112.33.101 के अनुसार
3. Major General Ferlong, **Short Studies,** Page 243-244
4. Dr. Jacobi, **Outlines of Jainism, Introduction,** Page XXX-XXXIII

द्रविड़-कालीन धर्म है, जिसका सिन्धु की खुदाई से उपलब्ध सामग्री से ज्ञान होता है।[1]

वाचस्पति गैरोला – श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक, जैनधर्म प्रागैतिहासिक धर्म है।[2]

विंसेन्ट स्मिथ – इस बात के स्प ट व अकाट्य प्रमाण हैं कि जैनधर्म प्राचीन है और वह प्रारम्भ में भी वर्तमान स्वरूप में था।

डॉ. ए. पी. करमरकर – ऋ ाभदेव अत्यन्त प्राचीन महापुरु ा थे।

डॉ. सेन – जैनधर्म, प्रायः आर्यकाल का धर्म है।[3]

रेवरेण्ड एब्बे जे. ए. डुबोई – निस्सन्देह जैनधर्म ही पृथ्वी का एक सच्चा धर्म है, और यही मनु य का आदि धर्म है।

डॉ. ए. गिरनाट – जैनधर्म मौलिक, स्वतन्त्र व सुव्यवस्थित है।

श्री विशम्भर सहाय प्रेमी – भारतीय सभ्यता के निर्माण में आदिकाल से ही जैनियों का हाथ था। मोहनजोहड़ो (मोहनजोदड़ो/मोहनजो दारो) की मुद्राओं मे जैनत्व के बोधक चिह्नों का मिलना, इस बात का प्रमाण है कि ललित-कला में जैन किसी से कम नहीं थे।[4]

श्री नीलकण्ठदास, उड़ीसा – जैनधर्म मूलतः अध्यात्म धर्म है। ...... प्रागवैदिक-कालीन द्राविड़ों का यही धर्म था। जगन्नाथ की परम्परा मूलतः पूर्णरूप से जैनधर्म की है। 'नाथ' ाब्द में पूर्णरूप से जैनधर्म का निद ान है। चौबीस जैन तीर्थंकरों में से बावीस जैन तीर्थंकरों के नाम के साथ 'नाथ' ाब्द जुड़ा है।

रेवरेण्ड जे. स्टीवेन्सन, अध्यक्ष, रॉयल एशियाटिक सोसायटी – ग्रीक लोगों ने प िचमी भारत में जिन 'जिमनो-सोफिस्ट' का वर्णन किया है, वे 'जैन' लोग थे। सम्राट् सिकन्दर ने दिगम्बर जैनों के

1. Dr. Henrich Jimmur, **The Philosophies of India,** Page 217
2. वाचस्पति गैरोला, **भारतीय दर्शन,** पृ ठ 93
3. Dr. Sen, **Indo-Asian Culture,** p.1,738
4. प्रेमी, वि ाम्भरसहाय, **हिमालय में भारतीय संस्कृति,** पृ ठ 47

समुदाय को तक्ष ाला में देखा था, उनमें से कोलोनस या कल्याण नामक दिगम्बर जैन महात्मा, फारस तक उनके साथ गये थे।

डॉ. वासुदेवशरण, भू-क्यूरेटर, मथुरा म्यूजियम – ईसा से दो सदी पूर्व जैन स्तूप का सद्भाव था।

मेगस्थनीज ने **भारतवर्ष का वर्णन** करते हुए लिखा है – भारतीयों के दो सम्प्रदाय हैं – एक 'सरमनाई' (श्रमण-संस्कृति के आराधक), दूसरा 'ब्राह्मनाई' (वैदिक या ब्राह्मण-संस्कृति के परिपालक)। 'सरमनाई' वे दा निक हैं, जो घरों में नहीं रहते, जो जल को हाथों से मुँह तक ले जाकर पीते हैं, जो न तो विवाह करते हैं, और न सन्तानोत्पादन। वे कहते हैं – Jainism is one of the oldest religion in India. अर्थात् जैनधर्म, भारत का एक बहुत पुराना धर्म है।[1]

ड . ए.पी.जे. अब्दुल कलाम – सत्य अहिंसा ऐसी मिसाइल है, जिससे पूरी दुनिया में शान्ति स्थापित की जा सकती है।[2]

श्री प्रकाश, राज भवन, मद्रास – The Jain Religion, however, can legitimately be traced to a different source; .... It is regarded as a more ancient faith than the one, that is known as Hinduism.[3] अर्थात् जैनधर्म, वैधानिकरूप से अलग स्रोत से उत्पन्न है।... यह उससे भी प्राचीन धर्म है, जो हिन्दूधर्म के नाम से जाना जाता है।

सर्वोदय सिद्धान्त के प्रचारक **आचार्य विनोबा भावे** के अनुसार "जैनधर्म का साधक वही है, जो चिन्तन में अनाक्रामक, आचरण में सहि णु एवं प्रचार-प्रसार में संयमित हो।"

इसी प्रकार **उत्तरप्रदेश के पूर्व मुख्यमन्त्री, डॉ. सम्पूर्णानन्दजी** ने भी जैनधर्म के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करते हुए लिखा है –

1. **Jain Shirines in India, Govt. of India Publication,** Pg. 4
2. जैन, कपूरचन्द एवं ड . ज्योति जैन; **जैन विरासत,** पृ ठ 8
3. Sri Prakash, Jainism in Bihar, Raj Bhavan, Madras, August 1, 1956

"यद्यपि जैनधर्मावलम्बियों की संख्या बहुत थोड़ी है, फिर भी इनकी परम्पराओं ने भारतीय तत्त्ववेत्ताओं के मन पर गहरी छाप लगाई है और न केवल आस्तिक विचारों को अपने सिद्धान्तों में सं ाोधन /परिवर्तन करने के लिए ही बाध्य किया है, प्रत्युत ये द नि, हमारी सार्वजनीन विचारधारा के अभिन्न अंग बन गये हैं; किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि केवल कुछ भारतीय पण्डित ही इन द नों का अनु ीलन करते हैं।

साधारणतया संस्कृत के पण्डित लोग, इनका ज्ञान केवल वेदान्तिक ग्रन्थकारों द्वारा की गई इनकी आलोचनाओं से ही प्राप्त करते हैं और इस बात का तनिक भी विचार नहीं करते कि ये आलोचनाएँ किस हद तक ठीक हैं या तथ्यों पर आधारित हैं?"[1]

जैन संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जैनधर्म, किसी व्यक्ति-वि ोष के द्वारा प्रवर्तित नहीं है। यही कारण है कि उसे अनादिनिधन माना गया है।

जबकि कोई उसे महावीर द्वारा प्रवर्तित कहते हैं तो कोई उसे ऋ ाभदेव द्वारा प्रवर्तित कहते हैं।

कोई कोई इतिहासकार उसे महावीर या पा र्वनाथ या नेमिनाथ तक ही स्वीकार करते हैं।

जबकि श्री बि म्भरनाथ पाण्डे ने जैन संस्कृति की ऐतिहासिक पृ ठभूमि[2] के सम्बन्ध में बहुत विस्तार के साथ तर्क-संगत व्याख्या की है। यहाँ स्थानाभाव के कारण उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। पाठकों से मूल से अध्ययन करने का निवेदन है।

1. डॉ. सम्पूर्णानन्द, भूतपूर्व मुख्यमन्त्री, उत्तरप्रदे ा, टिप्पणी, **सिद्धिविनि चय टीका,** प्रथम भाग, पृ ठ 2, प्रका ाक, भारतीय ज्ञानपीठ, का ी
2. पाण्डे, बि म्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 1, **'जैन संस्कृति : सामाजिक आचार एवं निषेधाज्ञाएँ',** पृ ठ 100-119 के आधार पर

जैन संस्कृति का पूर्वकालिक ऐतिहासिक नाम : निवर्तक धर्म[1]

इसी प्रकार जैनधर्म और अन्य भारतीय धर्मों के परस्पर सम्बन्धों पर दृटिपात करते हुए **श्री बिशम्भरनाथ पाण्डे, 'भारत और मानव संस्कृति'** (प्रथम भाग) के **'जैन संस्कृति का मर्म'** नामक अध्याय में लिखते हैं –

''प्र न यह है कि **जैन संस्कृति का मर्म क्या है ?**

इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है –

निवर्तक धर्म, जैन संस्कृति की आत्मा है। जो धर्म, निवृत्ति करानेवाला अर्थात् पुर्नजन्म के चक्र का नाश करानेवाला हो या उस निवृत्ति के साधनरूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो, वह निवर्तक धर्म कहलाता हैं ......।

इस समय जितने भी धर्म, दुनिया में जीवित और प्रचलित हैं या जिनका थोड़ा-बहुत इतिहास मिलता है, उन सबके आन्तरिक स्वरूप का अगर वर्गीकरण किया जाए तो वे धर्म, मुख्यतया तीन भागों में विभाजित होते हैं –

1. पहला वह है, जिसमें मौजूदा जन्म का विधान है।

2. दूसरा वह है, जो मौजूदा जन्म के अलावा जन्मान्तर का भी विधान करता है।

3. तीसरा वह है, जो जन्म-जन्मान्तर के उपरान्त उसके विना ा या उच्छेद का विचार करता है।

इन धर्मों का विस्तार निम्न प्रकार है –

1. आज की तरह बहुत पुराने समय में भी ऐसे विचारक लोग थे, जो वर्तमान जीवन में प्राप्त होनेवाले सुख के उस पार, किसी अन्य सुख की कल्पना से न तो प्रेरित होते थे और न उसके साधनों की खोज में समय बिताना ठीक समझते थे।

1. **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 1, पृ ठ 86 - 99 के आधार पर

उनका ध्येय वर्तमान जीवन का सुख-भोग ही था और वे इसी ध्येय की पूर्ति के लिए सब साधन जुटाते थे। वे समझते थे कि हम जो कुछ हैं, वह इसी जन्म तक है और मृत्यु के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। बहुत हुआ तो हमारे पुनर्जन्म का अर्थ हमारी सन्तति का चालू रहना है। ...... ऐसा विचार करनेवाले वर्ग को हमारे प्राचीनतम ाास्त्रों में अनात्मवादी या नास्तिक कहा गया है।

यही वर्ग आगे जाकर 'चार्वाक' (अर्थात् सुनने में मधुर एवं लच्छेदार बात करनेवाला) कहलाया जाने लगा। ..... इस वर्ग को एकमात्र काम-पुरु ाार्थी या बहुत हुआ तो काम और अर्थ, उभय-पुरु ाार्थी कह सकते हैं। इनका सिद्धान्त है – 'ईट, ड्रिंक एण्ड बी मेरी' (अर्थात् खाओ, पियो, और मौज करो)।

2. यह वर्ग, आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी तो है, परन्तु उसकी कल्पना जन्म-जन्मान्तर में अधिकाधिक सुख (लौकिक सुख) पाने की तथा प्राप्त सुख को अधिक से अधिक समय तक स्थिर रखने की होने से उसके धर्मानु ठानों को प्रवर्तक धर्म कहा गया है।

...... प्रवर्तक धर्म के अनुसार काम, अर्थ और धर्म – ये तीन ही पुरु ाार्थ हैं; उनमें 'मोक्ष' नामक चौथे पुरु ाार्थ की कल्पना नहीं है। प्राचीन ईरानी आर्य, जो अवेस्ता को धर्म ग्रन्थ मानते थे, वे सब उक्त प्रवर्तक धर्म के अनुयायी हैं।

3. **निवर्तकधर्म, उक्त प्रवर्तक धर्म का विरोधी है। जो विचारक, इस लोक के उपरान्त लोकान्तर और जन्मान्तर मानने के साथ-साथ, उस जन्म-चक्र को धारण करनेवाली आत्मा को, प्रवर्तक धर्मवादियों की तरह तो मानते ही थे, पर साथ ही वे जन्मान्तर में प्राप्य उच्च, उच्चतर और चिर-स्थायी सुख से सन्तुष्ट न थे।**

उनकी दृटि यह थी कि इस जन्म या जन्मान्तर में कितना ही ऊँचा सुख क्यों न मिले, यह कितने ही दीर्घकाल तक क्यों न स्थिर रहे, पर **अगर वह सुख कभी न कभी नाश होने वाला है तो फिर**

वह उच्च और चिर-स्थायी सुख भी अन्त में निकृष्ट सुख की कोटि का होने से उपादेय नहीं हो सकता।

वे लोग, ऐसे किसी सुख की खोज में थे, जो एक बार प्राप्त होने के बाद कभी न ट न हो। इस सुख की खोज ने उन्हें मोक्ष-पुरु ार्थ मानने के लिए बाध्य किया। वे मानने लगे कि –

आत्मा की एक ऐसी भी स्थिति सम्भव है, जिसे पाने के बाद, फिर कभी जन्म-जन्मान्तर या देह-धारण करना नहीं पड़ता। वे आत्मा की उस स्थिति को मोक्ष या जन्म-निवृत्ति कहते थे।

प्रवर्तक धर्मानुयायी जिन उच्च और उच्चतर धार्मिक अनुष्ठानों से इस लोक तथा परलोक के उत्कृष्ट सुखों के लिए प्रयत्न करते थे, उन धार्मिक अनुष्ठानों को निवर्तक धर्मानुयायी, अपने साध्य मोक्ष या निवृत्ति के लिए न केवल अपर्याप्त ही समझते थे, बल्कि वे उन्हें मोक्ष पाने में बाधक समझ कर, उन सब धार्मिक अनुष्ठानों को आत्यन्तिक हेय बतलाते थे।

उद्देश्य और दृष्टि मे पूर्व और पश्चिम के जितना अन्तर होने से प्रवर्तक धर्मानुयायियों के लिए जो उपादेय है, वही निवर्तक ध र्मानुयायियों के लिए हेय बन गया।

यद्यपि मोक्ष के लिए प्रवर्तक धर्म, बाधक माना गया, पर साथ ही मोक्षवादियों को अपने साध्य मोक्ष-पुरुषार्थ के उपायरूप से किसी सुनिश्चित मार्ग की खोज करना भी अनिवार्यरूप से करना था। इस खोज की सूझ ने उन्हें एक ऐसा मार्ग, एक ऐसा उपाय सुझाया, जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था।

वह एकमात्र, साधक की अपनी विचार-शुद्धि और व्यवहार-शुद्धि पर अवलम्बित था। यही विचार और व्यवहार की आत्यन्तिक शुद्धि का मार्ग, निवर्तक धर्म अथवा निर्वाण या मोक्ष के मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। .....

वे सम्यग्ज्ञान या आत्मज्ञान को तथा आत्मज्ञानमूलक अनासक्त जीवन-व्यवहार को उपादेय मानते हैं एवं उसी के द्वारा पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति पाना सम्भव बताते हैं।

..... प्रवर्तक धर्म समाजगामी था। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति, समाज में रहकर ऐसे सामाजिक कर्तव्य, जो ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और ऐसे धार्मिक कर्तव्य, जो पारलौकिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, उनका पालन करे। ......

.... जबकि निवर्तक धर्म, व्यक्तिगामी है। वह आत्म-साक्षात्कार की उत्कट वृत्ति में से उत्पन्न होने के कारण, जिज्ञासु में आत्मतत्त्व है या नहीं? है तो वह कैसा है ? उसका अन्य के साथ कैसा सम्बन्ध है ? उसका साक्षात्कार सम्भव है तो किन-किन उपायों से सम्भव है ? इत्यादि प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है – ये प्रश्न ऐसे नहीं हैं कि जो एकान्त-चिन्तन, तप और असंगतापूर्ण जीवन के सिवाय सुलझ सकें।

ऐसा सच्चा जीवन, खास व्यक्तियों के लिए ही सम्भव हो सकता है। उसका समाजगामी होना सम्भव नहीं।

इस कारण प्रवर्तक धर्म की अपेक्षा निवर्तक धर्म का क्षेत्र शुरु में बहुत परिमित रहा। निवर्तक धर्म के लिए गृहस्थाश्रम का बन्धन था ही नहीं। वह गृहस्थाश्रम के बिना भी व्यक्ति को सर्वत्याग की अनुमति देता है, क्योंकि उसका आधार इच्छा का संशोधन नहीं, उसका निरोध है।

अतएव वह प्रवर्तक-धर्म-सम्भव सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो, हम आत्म-साक्षात्कार करे और उसमें रुकावट डालनेवाली इच्छाओं के नाश का प्रयत्न करे।

जान पड़ता है कि इस दे ा में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य, पहले-पहल प्रभाव ााली हुए, तब भी कहीं न कहीं, इस दे ा में

निवर्तक धर्म, एक या दूसरे रूपों में प्रचलित था। ुरु में इन दो धर्म -संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघ ा रहा; पर निवर्तक धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों (साधकों) की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंग-चर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे धीरे बढ़ रहा था, उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक धर्म की संस्थाओं का अनेक रूपों में विकास ुरु हुआ।

इसका प्रभावशाली फल, अन्त में यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म के पुरस्कर्ताओं ने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान दिया। निवर्तक धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते जनव्यापी प्रभाव के कारण अन्त में तो यहाँ तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्यायप्राप्त है, वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये बिना सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्यामार्ग न्याय-प्राप्त है।

इस तरह प्रवर्तक धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ, उसका फल हम दा ानिक साहित्य और जनजीवन में आज भी देखते हैं।

जो तत्त्वज्ञ ऋ ि, प्रवर्तक धर्म के अनुयायी ब्राह्मणों के वं ाज होकर भी, निवर्तक धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे, उन्होंने चिन्तन और जीवन में निवर्तक धर्म का महत्त्व व्यक्त किया।.......

निवर्तक धर्म के कोई कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए कि जिन्होंने तप, ध्यान, और आत्म-साक्षात्कार के बाधक क्रियाकाण्ड का तो आत्यन्तिक विरोध किया, पर उस क्रियाकाण्ड की आधारभूत श्रुति (आगम) का सर्वथा विरोध नहीं किया। ऐसे व्यक्तियों में सांख्य-दर्शन के आदि-पुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूल में सांख्य-योगदर्शन प्रवर्तक धर्म का विरोधी होने पर भी अन्त में वैदिक दर्शनों में समा गया।

समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस दे ा में ाताब्दियों तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यन्तिकवादी दोनों धर्मों में होते रहे कि वे अपने-अपने प्रवर्तक या निवर्तक धर्म के अलावा दूसरे पक्ष को न तो मानते थे और न युक्त बतलाते थे।

निवर्तक धर्म के आचार-विचार[1]

महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक निवर्तक धर्म के पुरस्कर्ता हुए हैं। फिर भी महावीर और बुद्ध के समय में तो इस दे ा में निवर्तक धर्म की पो ाक ऐसी अनेक संस्थाएँ थीं और दूसरी अनेक ऐसी पैदा हो रही थीं कि जो प्रवर्तक धर्म का उग्रता से विरोध करती थीं। ......

.... अतएव हम देखते हैं कि पहले से आज तक जैन और बौद्ध सम्प्रदाय में अनेक वेदानुयायी विद्वान् ब्राह्मण दीक्षित हुए, फिर भी उन्होंने जैन और बौद्ध वाङ्मय (साहित्य) में वेद के प्रामाण्य-स्थापन का न कोई प्रयत्न किया और न किसी ब्राह्मण ग्रन्थविहित यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को मान्यता दी।

ाताब्दियाँ ही नहीं, बल्कि सहस्राब्दि पूर्व से लेकर जो धीरे-धीरे निवर्तक धर्म के अंग-प्रत्यंगरूप से अनेक मन्तव्यों और आचारों का महावीर और बुद्ध तक के समय में विकास हो चुका था, वे संक्षेप में निम्न प्रकार हैं –

1. आत्म- ुद्धि ही जीवन का मुख्य उद्दे य है, न कि ऐहिक या पारलौकिक किसी भी पद का महत्त्व।

2. इस उद्दे य की पूर्ति में बाधक है – आध्यात्मिक मोह या अविद्या। अतः तज्जन्य तृ णा का मूलोच्छेद करना आवश्यक है।

3. आध्यात्मिक ज्ञान और उसके द्वारा सारे जीवन-व्यवहार को पूर्ण निस्तृ ण (तृष्णारहित) बनाना। इसके लिए शारीरिक, मानसिक, वाचिक, विविध तपस्याओं का तथा नाना प्रकार के ध्यान-योगमार्ग का अनुसरण और ... पाँच महाव्रतों का यावज्जीवन अनुष्ठान करना।

4. किसी भी आध्यात्मिक अनुभववाले मनु य के द्वारा किसी भी भा ा में कहे गये आध्यात्मिक वर्णनवाले वचनों को प्रमाणरूप से मानना,

1. पाण्डे, बि म्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 1, पृ ठ 86-99 के आधार पर

न कि ई वरीय या अपौरु ायरूप से स्वीकृत किसी खास भा ा में रचित ग्रन्थों को।

5. योग्यता और गुरुपद की एकमात्र कसौटी – जीवन की आध्यात्मिक ुद्धि है, न कि जन्म-सिद्ध वर्ण-वि ा। इस दृ ि से स्त्री और ूद्र को भी धर्माधिकार उतना ही है, जितना एक ब्राह्मण या क्षत्रिय का।

6. मद्य-माँस आदि का धार्मिक और सामाजिक जीवन में नि ोध।

ये तथा इनके जैसे अनेक लक्षण, जो प्रवर्तक धर्म के आचार-विचारों से पृथक् पड़ते थे, वे देश में जड़ जमा चुके थे और दिन-ब-दिन विशेष बल पकड़ते जाते थे।

कमोवे ा उक्त लक्षणों को धारण करने वाली अनेक संस्थाओं और सम्प्रदायों में एक ऐसा पुराना निवर्तक धर्मी सम्प्रदाय था, जो महावीर के पहले बहुत ताब्दियों से अपने खास ढ़ंग से विकास करता जा रहा था।

यूनानी संस्कृति पर जैन संस्कृति का प्रभाव[1]

श्री विशम्भरनाथ पाण्डे ने सिद्ध किया है कि ईसा से पहले ही अनेक भारतीय सन्त भारत से प िचम ए िया, अफरीका और यूनान के जंगलों में जा जाकर कुटिया बना कर रहते थे।

इन्हें यूनानी इतिहासकार 'जिन्मो-सोफिस्ट' या 'हाइलोबियो' नाम से अत्यन्त आदर के साथ सम्बोधित करते हैं। जिन्मो-सोफिस्ट का अर्थ है – 'नंगे फिलास्फर' या 'दिगम्बर तत्त्ववेत्ता' और हाइलोबियो का अर्थ 'वानप्रस्थ' होता है।[1]

नि िचत ही नग्न दिगम्बर रहने वाले तत्त्ववेत्ता नग्न दिगम्बर मुनि ही हो सकते हैं। लेखक के ब्दों में कहा जाए तो –

1. पाण्डे, बि म्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 2,; पृ ठ 127-128 के आधार पर

"ये लोग अधिकतर दिगम्बर ही रहते थे। इनके अनुसार जितना कम से कम खाकर रीर चल सकता है, उससे अधिक खाना या जितना कम से कम कपड़े में काम चल सकता है , उससे अधिक कपड़ा उपयोग करना, आत्मोन्नति में बाधक है।

इनमें से कुछ ' मन' (श्रमण) कहलाते थे और कुछ 'ब्राह्मण'। इन दिगम्बर महात्माओं का जो कुछ वर्णन, यूनानी लेखकों ने किया है, उससे प्रगट है कि इनमें से अनेकों का सम्बन्ध जैनधर्म से भी था।

किन्तु इतिहास में एक और बात बिलकुल स्प ट है – वह यह है कि जैन, बौद्ध और सनातन, तीनों धर्म के विद्वान, उन दिनों एक साथ दूर-दूर के दे ों में जाते थे; ये तीनों हर जगह मिल कर प्रेम के साथ रहते थे और उनमें से अनेकों का रहन-सहन और उनके उपदे ा, तीनों धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों और बहुमूल्य रत्नों का एक सुन्दर समन्वय होते थे।

यूनानी इतिहास से पता चलता है कि ईसा से कम से कम चार सौ व ि पूर्व (महावीर से लगभग 100-150 वर्ष बाद) ये दिगम्बर भारतीय तत्त्ववेत्ता, प िचमी ए िया में पहुँच चुके थे।

पोप के पुस्तकालय के लतीनी आलेख से, जिसका हाल में अनुवाद हुआ है, उससे पता चलता है कि ईसा की जन्म की ताब्दी तक इन दिगम्बर भारतीय दा िनिकों की एक बहुत बड़ी संख्या इथियोपिया (अफरीका) के वनों में रहती थी और अनेक यूनानी विद्वान् वहीं जाकर उनके द िन करते थे और उनसे िक्षा लेते थे।

यूनान के द िन और अध्यात्म पर इन दिगम्बर महात्माओं का इतना गहरा प्रभाव पड़ा, चौथी सदी ई. पू. में प्रसिद्ध यूनानी विद्वान पिरो ने भारत आकर, उनके ग्रन्थों और सिद्धान्तों का यानि भारतीय अध्यात्म और भारतीय द िन का वि ा अध्ययन किया और फिर यूनान लौट कर, एलिस नगर में एक नई यूनानी द िन-पद्धति की स्थापना की थी।

इस नई पद्धति का मुख्य सिद्धान्त था कि इन्द्रियों द्वारा वास्तविक

ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है, वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति केवल अन्तःकरण की ुद्धि द्वारा ही सम्भव है और उसके लिए मनु य को सरल से सरल जीवन व्यतीत करके, आत्मसंयम और योग द्वारा अपने अन्तर में धँसना चाहिए।

भारत से लौटने के बाद पिरो दिगम्बर रहता था। उसका जीवन इतना सरल और संयमी था कि यूनान के लोग उसे बड़ी भक्ति की दृ‌टि से देखते थे। वह योगाभ्यास करता था और निर्विकल्प-समाधि में वि वास रखता था।''

ऐस्सेनी नामक महान साधकों पर भी जैन संस्कृति का प्रभाव[44]

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ **श्री बिशम्भरनाथ पाण्डे** के अनुसार, ''जैन -श्रमणों, बौद्ध-भिक्षुओं और अन्य भारतीय-महात्माओं के प्रभाव से दूसरी सदी ई. पू. में यहूदियों के अन्दर 'ऐस्सेनी' (साधकों का समूह) नामक एक नए सम्प्रदाय की स्थापना हुई। जिन विविध शब्दों से 'ऐस्सेनी' शब्द का निकास माना जाता है, इनके अर्थ हैं – 'मौन रहनेवाला', 'धर्मनिष्ठ' और 'संन्यासी'।

यहूदी लेखक यूसुफ और फाइलो तथा और कई यूनानी इतिहास लेखकों ने विस्तार के साथ इन लोगों का वर्णन किया है –

1. शहर से दूर बस्तियों में, कुल (संघ) के रूप में, अलग-अलग कुटियों में आजन्म अविवाहित (बाल ब्रह्मचारी) रहते थे और बड़ा सरल, संयमी तथा तपस्या का जीवन (श्रावक के ‌ट् आव यक में संयम और तप का, दो आव यकों के रूप में समावे ा) एक कुलपति (आचार्य) के मार्गदर्शन में व्यतीत करते थे।

2. वे प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में उठना, सूर्योदय से पहले ही प्रातःक्रिया, स्नान, ध्यान, उपासना आदि से निवृत्त हो जाते थे।

---

1. पाण्डे, बि म्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 2; यहूदी सम्प्रदाय और भारतीय संस्कृति, पृ ठ 128–131 के आधार पर

3. प्रतिदिन कई घण्टे हर व्यक्ति को अपने हाथ से कुछ न कुछ श्रम (श्रमण संस्कृति होने से) करना पड़ता था। जैसे, अनाज पैदा करना, भोजन बनाना, कपड़ा बुनना, आदि। नौकर, गुलाम आदि रखने या व्यक्तिगत काम करने को वे पाप समझते थे।

4. उनका सबसे मुख्य सिद्धान्त था, 'अहिंसा' (जो जैनधर्म का भी प्रमुख सिद्धान्त); इसलिए हर तरह की प ु-बलि, माँस-भक्षण या मदिरा-पान (जैनधर्म में भी सप्त व्यसन के अन्तर्गत िकार करना, माँस-भक्षण करना और ाराब पीना, तीनों का समावे ा) के वे विरुद्ध थे। यद्यपि पशुबलि के कारण वे यहूदी मन्दिरों में नहीं जाते थे; तथापि प्राचीन धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा दर्शाने के लिए वे समय-समय पर शुद्ध उपहार और जलाने की धूप आदि यरूशलम के मन्दिर में भेजते रहते थे।

5. वे सामूहिकरूप से बने हुए भोजन को एक साथ बैठकर करते थे। दोनों समय भोजन के पहले पुनः स्नान करते थे। उनका भोजन केवल मात्र रोटी या साग (ाकाहारी जीवन) होता था।

ठण्डे पानी के अतिरिक्त कोई पेय नहीं पीते थे। भोजन के पहले और बाद में ईश्वर को धन्यवाद देते थे।

6. हर ऐस्सेनी का कर्तव्य होता था कि दिन के साधारण दैनिक श्रम के बाद आसपास की गरीब बस्तियों में जाकर, दीन-दु:खियों की सेवा करे।

यदि इस काम में उसे यह अनुभव होता कि उसकी बस्ती की सामूहिक सम्पत्ति में से किसी चीज के माध्यम से किसी दीन-दुःखी की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती है तो उसे अधिकार होता था कि बिना कुलपति या किसी दूसरे से पूछे वह तुरन्त उस चीज को उसे लाकर दे दे।

हाँ, गरीबों की आवश्यकता पूर्ति के अतिरिक्त, किसी दूसरे कार्य के लिए वह कुल की किसी वस्तु को बिना कुलपति की अनुमति के हाथ भी नहीं लगा सकता था।

7. इन सबसे बचा हुआ समय और खासकर रात का समय वह एकान्त-सेवन, धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन, मनन और योग के अभ्यास में बिताता था।

8. निस्सन्देह पवित्र जीवन (पाँच पापों से रहित), दीन-दुःखियों की सेवा (परोपकारी जीवन), ारीरिक श्रम (तपस्या-प्रधान जीवन) और योग (ध्यान) द्वारा चित्त को स्थिर करना — ये चार बातें ऐस्सेनियों (श्रावकों) के अनुसार आत्मा की उन्नति के चार मुख्य साधन (प्र ाम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य) थे।

9. आध्यात्मिक उन्नति की दृ टि से हर ऐस्सेनी (श्रावक) को कई उत्तरोत्तर श्रेणियों (श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ उत्तरोत्तर उत्कृ ट श्रेणियाँ) से गुजरना पड़ता था।

10. वे केवल सफेद वस्त्र पहनते थे। किसी के पास बदन के कपड़ों के अतिरिक्त कपड़ों का दूसरा जोड़ा न होता था। (उत्कृ ट श्रावक — ऐलक, क्षुल्लक और आर्यिका का नियम)।

11. बालों में तेल लगाना (साधु के जीवन में नि ाद्ध क्रिया) पाप समझते थे।

12. ईसा के जन्म के समय इनकी संख्या खूब बढ़ी हुई थी। सीरिया, फलस्तीन, और मिस्र के पहाड़ों और जंगलों में ठण्डे पानी के चश्मों (झरनों) के पास जगह-जगह इनकी बस्तियाँ थीं।

13. फाइलो के समय में इनकी कुल संख्या चार हजार बताई है।

13. इतिहास लेखक फाइलो अपने समय के भारतीय और ईरानी सन्तों, महात्माओं के चरित्र और उनकी तपस्या की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि यहूदियों मे ठीक इसी तरह के तपस्वी ऐस्सेनी थे।

14. प्रसिद्ध यूनानी इतिहास लेखक 'स्ट्रेबो' ने इन ऐस्सेनियों को 'दा ानिकों और वैज्ञानिकों का संघ' कहकर वर्णन किया है।

उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि अफलातून (प्लेटो, सुकरात का

ा य) जैसे दा ानिक और विज्ञान-वेत्ता उनके द ान करने और उनसे उपदे ा लेने के लिए आते थे।

15. अफरीका की किसी-किसी ऐस्सेनी बस्ती में ये लोग एक-एक सप्ताह एकान्त-सेवन (विविक्त ाय्यासन) करते थे और एक प्रकार की समाधि (निर्विकल्प ध्यान) में पड़े रहते थे।

उस समय उनका उद्देश्य 'ध्यान द्वारा परमेश्वर के साथ अपनी आत्मा को मिला कर एकाकार कर देना' होता था।

इनमें से कई वि ो ा नामों या मन्त्रों का जाप भी करते थे।

समय-समय पर उनमें अनेक दा ानिक वि ायों पर चर्चा होती थी। भजन गाए जाते थे और कहीं-कहीं ई वर-स्तुति के साथ एक प्रकार का नृत्य भी होता था।

16. वे सिर्फ दीक्षितों को योग की विधियों और ध्यान के तरीके बताते थे, अन्य को नहीं।

17. सरल भोजन और संयमी जीवन के कारण उनकी आयु खूब लम्बी होती थी और अपने चरित्र और तत्त्वज्ञान के लिए आसपास के क्षेत्र में वे बड़े आदर के साथ देखे जाते थे।

18. अपने मठों के अन्दर नए सदस्य के रूप में वे केवल या तो इतने छोटे बालकों को लेते थे, जिन्हें आरम्भ से अपने रहन-सहन और सिद्धान्तों में पक्का कर सकें और या युवावस्था पार किये हुए उन लोगों को लेते थे, जिन्हें सांसारिक भोग-विलास की ओर अधिक आकर्षण न रह गया हो।

19. आगन्तुक (अपने यहाँ दीक्षित) को अपनी समस्त धन-सम्पत्ति सामूहिक सम्पत्ति में मिला देनी पड़ती थी।

20. पहले तीन वर्ष उसे उम्मीदवार रहना पड़ता था। इन तीन वर्षों के अन्दर उसे बड़े-बड़े उपवास रखन पड़ते थे, व्रत करने पड़ते थे और कई तरह से अपने मन और इन्द्रियों को साधना पड़ता था।

21. इतिहास-लेखक यूसुफ के अनुसार अन्त में उसे दीक्षा के पहले कुलपति के सामने इस तरह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी –

* मैं परमात्मा का भक्त रहूँगा।
* मैं मनुष्य मात्र के साथ सदा न्याय का व्यवहार करूँगा।
* स्वयं अपनी इच्छा से या किसी दूसरे के कहने से भी मैं कभी किसी की हिंसा न करूँगा, न किसी की हानि पहुँचाऊँगा।
* मैं सदा बुरे लोगों से दूर रहूँगा।
* मैं भले लोगों की सहायता करूँगा।
* मनुष्य मात्र के साथ मैं अपने वचनों का पालन करूँगा।
* मैं सदा सत्य से प्रेम करूँगा और असत्य से घृणा।
* अपने ऊपर के अधिकारी के साथ सच्चा व्यवहार करूँगा, क्योंकि सिवाय परमात्मा के किसी दूसरे से किसी को कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।
* यदि स्वयं मुझे कोई अधिकार प्राप्त होगा तो उसके कारण न मैं अपने व्यक्तिगत विचार या व्यक्तिगत सत्ता किसी दूसरे पर लादूँगा और न अपनी विशेष पोषाक या विशेष ढंग द्वारा दूसरों पर बड़प्पन दिखाऊँगा।
* मैं सदा अपने हाथों को चोरी से और अपनी आत्मा को पाप की कमाई से पवित्र रखूँगा।
* मैं अपने भाइयों (यानि अपने कुल के दूसरे लोगों) से कभी कोई बात न छिपाऊँगा, न उनके किसी रहस्य को दूसरे पर प्रकट करूँगा, चाहे इसमें मेरे प्राण ही क्यों न चले जायें।

22. दीक्षा के अलावा कभी वे किसी तरह की शपथ नहीं खाते थे।

23. आम तौर पर इनके मठों में केवल पुरुष ही भरती किये जाते थे, किन्तु अफरीका में वे कहीं-कहीं स्त्री-जिज्ञासुओं को भी भरती कर लेते थे।

ईसा से लगभग 100 वर्ष बाद फिर इन लोगों का कहीं पता नहीं चलता। इतिहास लेखक यूसुफ लिखता है कि यूनान के पाइथोगोरियन और स्टोइक दार्शनिकों ने अपने अनेक सिद्धान्त इन्हीं ऐस्सेनियों से सीखे। ईसाई धर्म में मठों और महन्तों की प्रथा भी ऐस्सेनियों से चली।''

इसी तरह और भी अनेक विचार-शैलियों ने यहूदियों और उस समय की अन्य जातियों में जन्म लिया। जैसे, कब्बालह या कब्बाली, सुलेमान, अफलातून, फाइलो, दाऊद के भजन आदि।

भारतीय संस्कृतियों एवं दर्शनों में परस्पर आदान-प्रदान

यद्यपि जैन सम्प्रदाय ने भारत के बाहर उन (बौद्धों) के अनुपात में प्रभाव नहीं जमाया, फिर भी वह भारत के दूरवर्ती सब भागों में धीरे-धीरे न केवल फैल ही गया, बल्कि उसने अपनी कुछ खास वि ो ाताओं की छाप, प्रायः भारत के सभी भागों पर थोड़ी-बहुत अव य डाली। जैसे-जैसे, जैन सम्प्रदाय पूर्व से उत्तर और प चिम तथा दक्षिण की ओर फैलता गया; वैसे-वैसे उसे प्रवर्तक-धर्मी तथा निवृत्ति-पन्थी (अन्य) सम्प्रदायों के साथ भी थोड़े-बहुत संघ ि में भी आना पड़ा।

इस संघ ि में कभी तो जैन आचार-विचारों का असर, दूसरे सम्प्रदायों पर पड़ा और कभी दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचारों का असर, जैन सम्प्रदाय पर भी पड़ा। यह क्रिया, किसी एक ही समय में या एक ही प्रदे ा में किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न नहीं हुई। बल्कि दृ य-अदृ यरूप में हजारों व ि तक चलती रही और आज भी चालू है। पर अन्त में जैन सम्प्रदाय और दूसरे भारतीय-अभारतीय सभी धर्म सम्प्रदायों का एक स्थायी सहि णुतापूर्ण समन्वय हो गया, जैसा कि एक कुटुम्ब के भाईयों में होता रहता है।

इस पीढ़ियों के समन्वय के कारण साधारण लोग, यह जान ही नहीं सकते कि उसके धार्मिक आचार-विचार की कौन-सी बात मौलिक है और कौन-सी दूसरों के संसर्ग का परिणाम है।

श्रमणोपासक, निर्ग्रन्थी, जिनधर्मी अथवा जैन[95]

इसी सम्प्रदाय में पहले **नाभिनन्दन ऋषभदेव, यदुनन्दन नेमिनाथ और काशीराजपुत्र पार्श्वनाथ** हो चुके थे, अथवा वे उस सम्प्रदाय में मान्य पुरु ा बन चुके थे।

उस सम्प्रदाय के समय-समय पर अनेक नाम प्रसिद्ध रहे। यति, भिक्षु, मुनि, अनगार, श्रमण आदि जैसे नाम तो उस सम्प्रदाय के लिए व्यवहृत होते थे, पर जब दीर्घ तपस्वी महावीर, उस सम्प्रदाय के मुखिया बने, तब सम्भवतः वह सम्प्रदाय 'निर्ग्रन्थ' नाम से वि ो ा प्रसिद्ध हुआ।

यद्यपि निवर्तक धर्मानुयायी पन्थों में ऊँची आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए 'जिन' ाब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होता था।

फिर भी महावीर के समय में और उनके कुछ समय बाद तक भी महावीर का अनुयायी साधु वर्ग या गृहस्थ वर्ग 'जैन' (जिनानुयायी) नाम से व्यवहृत नहीं होता था।

आज 'जैन' ाब्द से महावीर-पोिात सम्प्रदाय के त्यागी एवं गृहस्थ, सभी अनुयायियों का बोध होता है, इसके लिए पहले 'णिग्गन्थी' और 'समणोवासग' जैसे ाब्द व्यवहृत होते थे।

इस निर्ग्रन्थ या जैन सम्प्रदाय में उक्त निवृत्ति धर्म के सब लक्षण बहुधा थे ही, पर इसमें ऋ ाभ आदि पूर्वकालीन त्यागी महापुरु ाों के द्वारा तथा अन्त में ज्ञातपुत्र महावीर के द्वारा विचार और आचारगत ऐसी छोटी-बड़ी अनेक वि ो ाताएँ आई थीं, वे स्थिर हो गई थीं कि जिनसे ज्ञातपुत्र महावीर-पोिात यह सम्प्रदाय, दूसरे निवृत्तिगामी सम्प्रदायों से स्प टतः जुदारूप धारण किये हुए था।

1. पाण्डे, बि ाम्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 1, पृ ठ 92-93 के आधार पर

सम्राट् अशोक की वंश-परम्परा में जैनधर्म[1]

सम्प्रति राजा का उल्लेख जैन ग्रन्थों में बहुत सम्मान के साथ आता है। यह सम्प्रति, मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त[2] के पुत्र बिन्दुसार के पुत्र सम्राट् अ ाोक का पौत्र और उनके अन्धपुत्र कुणाल का पुत्र था।

इस मौर्यवंश को मध्य में पृथुल और आदि-अन्त में हीन यव की तरह बताया गया है। चन्द्रगुप्त को बल-वाहन आदि विभूति से हीन कहा गया है। बिन्दुसार को उससे बड़ा, अशोक को उससे भी बड़ा और 'सम्प्रति राजा' को सर्वोत्कृष्ट कहा गया है। इसके बाद फिर हानि होती चली गई।

अवन्तिका का राजा सम्प्रति, जैन श्रमण संघ का महान संरक्षक था। उसने अपने अधीन राजाओं को एकत्रित कर, धर्मोपदेश किया और श्रमणों को भक्ति करने की आज्ञा दी।

राजा सम्प्रति, रथ-यात्रा में भाग लेता था, रथ पर पुष्प, गन्ध, चूर्ण, वस्त्र आदि चढ़ाता था, जिन-बिम्ब की पूजा बड़े ठाठ के साथ करता था। उसने स्वयं साधु-वेष बना कर, अपने भटों (अधीनस्थ सैनिकों आदि) को साधुओं को आहार देने की विधि बताई और आन्ध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र आदि अनार्य देशों को जैन श्रमणों के विहार योग्य बनाया था।

निःसन्देह जैन श्रमणों (आचार्यों) ने मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका — ऐसे चतुर्विध संघ का सुन्दर संगठन किया था।

1. पाण्डे, बि ाम्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 1, **'जैन संस्कृति : सामाजिक आचार एवं निषेधाज्ञाएँ'**, पृ ठ 100-119 के आधार पर
2. सम्राट् चन्द्रगुप्त का जैनशासक होना एवं जैनश्रमण होना, दोनों ही तथ्यों के व्यापक शिलालेखीय एवं ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। जैनाचार्य भद्रबाहु से उन्होंने दीक्षा लेकर दक्षिण भारत की ओर प्रयाण किया था, उसके बाद वहाँ लगभग 12 वर्ष के बाद लौटते हुए उनका समाधिपूर्वक मरण कर्नाटक स्थित श्रवणबेलगोला (गोम्मटेश्वर बाहुबली) के चन्द्रगिरि पर्वत पर हुआ। इस पर्वत का नाम भी चन्द्रगुप्त के नाम से चन्द्रगिरि पड़ा है।

श्रावक-श्राविका, अपने धर्मगुरुओं की भिक्षा आदि की व्यवस्था करते थे, जबकि धर्मगुरु, अपने चतुर्विध संघ की देखभाल करते, धर्म-प्रचार और आत्म-संशोधन में अपनी सारी शक्ति लगाते थे। वास्तव में देखा जाए तो यह बड़ा ही सुन्दर कार्य-विभाजन था।

भारतीय परिक्षेत्र में जैन संस्कृति का परस्पर विकास व संरक्षण

भारतीय परिक्षेत्र में जैन संस्कृति का परस्पर में बहुत गहनतम सम्बन्ध रहा है। वे एक-दूसरे का विकास एवं संरक्षण भी करते रहे हैं। इस सम्बन्ध में **डॉ. राजाराम जैन**[1] लिखते हैं –

''जैनधर्म, प्रारम्भ से ही रा ट्रीय धर्म रहा है, जो इसी से सिद्ध है कि वह भारत के किसी एक कोण-वि ो ा (स्थान-विशेष) में ही सिमटा नहीं रहा। जैसे –

1. उसकी व्यापकता, इस तथ्य से जानी जा सकती है कि उसके आद्य तीर्थंकर ऋ ाभदेव का जन्म हुआ अयोध्या में और उन्होंने कठोर तपस्या कर, निर्वाण प्राप्त किया, अ टापद (हिमालय) के सर्वोच्च दुर्गम कैला ा-पर्वत के उच्च ाखर से; यथा कहा भी है – **अट्ठावयम्मि उसहे ....।**[2]

2. इसी प्रकार बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म हुआ ूरसेन दे ा (आधुनिक मथुरा तथा उसके आसपास का प्रदे ा) में और उन्होंने तपस्या कर, ऊर्जयन्त गिरि- ाखर (गिरनार पर्वत) पर बैठ कर मोक्ष प्राप्त किया।

3. तेईसवें तीर्थंकर पा र्वनाथ का जन्म हुआ का ाी (वाराणसी) में

1. जैन, राजाराम; **अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत : जैनधर्म तथा लोकनायक वर्धमान महावीर,** पृ ठ 28-29, प्रका ाक – श्री मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, नई दिल्ली,
2. **निर्वाणकाण्ड,** गाथा **1, वृहद् जिनवाणी** संग्रह, पृ ठ 273-275, प्रका ाक, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरे ान, जयपुर (1987)

और कठोर तपस्या कर, निर्वाण पद प्राप्त किया – झारखण्ड स्थित सम्मेद- ाखर से।

4. चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने जन्म लिया – विदेह-स्थित कुण्डग्राम (वै ााली, उत्तर बिहार) में और उनका परि-निर्वाण हुआ – दक्षिण बिहार-स्थित पावापुरी में।

5. इसी प्रकार अव ाि ट अन्य तीर्थंकरों का जन्म भी भारत-भूमि के अन्य-अन्य जनपदों में हुआ, किन्तु उनका परि-निर्वाण भी उक्त सम्मेद- ाखर (वर्तमान झारखण्ड प्रदे ा) से हुआ।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि तीर्थंकरों के उपदे ा, विशेषरूप से उत्तर भारत में हुए, जबकि तदाधारित ाा वत कोटि का साहित्य सम-कालीन लोकप्रिय विविध भा ााओं – संस्कृत, प्राकृत, कन्नड, अपभ्रं ा आदि में विविध ौलियों में प्रचुर मात्रा में लिखा गया दक्षिण भारत में।

...... इसी प्रकार परवर्ती काल के प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रं ा, कन्नड़, तमिल, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी आदि में लिखित विविध विधाओं वाले जैन साहित्य के प्रणयन, उनके प्रतिलिपि-कार्य एवं संरक्षण में ब्राह्मणों तथा कायस्थों आदि के योगदान को जैन इतिहास कभी भी विस्मृत नहीं कर सकता।''

पश्चिम बंगाल में भी जैन संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव[1]

1. जैनधर्म का आदि और पवित्र स्थान, मगध और प ाचिम बंगाल है। सम्भव है कि बंगाल में एक समय बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म का वि ो ा प्रचार था, परन्तु वहाँ जैनधर्म के लुप्त हो जाने के बाद बौद्ध-धर्म ने उसका स्थान ग्रहण किया।

प्रमाणस्वरूप इन दिनों बंगाल के प ाचिमी हिस्से में स्थित 'सराक' (श्रावक) जाति, जैन श्रावकों की पूर्व स्मृति कराती है। अब भी बहुत

1. पाण्डे, बि ाम्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 1, **'जैन संस्कृति : सामाजिक आचार एवं निषेधाज्ञाएँ',** पृ ठ 100-119 के आधार पर

से जैन-मन्दिरों के ध्वंसाव ो ा, जैन-मूर्तियाँ, िालालेख (खारवेल) आदि जैन-स्मृति-चिह्न बंगाल के भिन्न-भिन्न भागों में पाये जाते हैं।

बंगाल के कुछ हिस्से में विराट् जैन-मूर्ति, भैरव के नाम से पूजी जाती है। ...... इन सब मूर्तियों पर अब भी जैन लेख मिल जाते हैं। इस प्रकार की एक लेख-मूर्ति स्वर्गीय राखालदास बैनर्जी, पंचकोट के महाराजा के यहाँ से ले आये थे।

2. परीक्षा करने पर बंगाल के धर्मों में, आचार में और व्रतों में जैनधर्म का प्रभाव दृ टिगोचर होता है। जैनों के अनेक ाब्द बंगाल में प्रचलित हैं। पा र्वनाथ, हेमचन्द्र आदि नाम आजकल भी पाये जाते हैं। जैनों के उत्तरीय वस्त्र को 'पछेड़ी' कहते हैं, जिसको बंगाली में 'पाधुड़ी' कहा जाता है। यह ाब्द जैन साधुओं की 'पीछी' से भी साम्य रखता है।

इसी प्रकार अन्य ाब्द भी मिल जाते हैं। प्राचीन बंगाली लिपि के बहुत से ाब्द वि ो ा तौर से युक्ताक्षर देवनागरी के साथ नहीं मिलते-जुलते, परन्तु वे प्राचीन जैन-लिपि (ब्राह्मी-लिपि) के सदृ ा हैं।

3. बंगाल में जैनधर्म क्यों विलुप्त हुआ? — यह एक विचारणीय यक्ष प्र न है। क्या यहाँ के आहार-विहार के साथ उनका सामंजस्य नहीं हुआ या और कोई कारण था, उसे देखना ऐतिहासिक रूप से चाहिए।

4. जैनियों के ग्रन्थ भण्डार, भारत के प्राचीन इतिहास के लिए अमूल्य उपकरण से भरपूर हैं। यदि वे सभी के लिए उपलब्ध हो जाएँ तो भारतीय इतिहास की बहुत-सी समस्याएँ हल हो सकती हैं और साथ-साथ जैनधर्म का माहात्म्य भी प्रत्यक्ष हो सकता है।

महावीर एवं बुद्ध की दार्शनिक पृष्ठभूमि[1]

1. ई. पू. 599 में चैत्र ुक्ला त्रयोद ी के दिन, बिहार प्रान्त के पटना से 27 मील दूर बसार तीर्थ में श्री महावीर का जन्म हुआ था,

1. वही, खण्ड 1, पृ ठ 100-119 के आधार पर

...... तथा ई. पू. 527 में बिहार प्रान्त में स्थित पावापुरी में श्री महावीर का निर्वाण हुआ, जिसे पावापुरी तीर्थस्थान माना जाता है। यह पावापुरी दक्षिण बिहार में राजगृह के समीप है।

जबकि बुद्ध का काल सम्भवतः ई. पू. 588 से 508 तक माना जाता है। (इस प्रकार महावीर, बुद्ध से उम्र में 11 व ा बड़े होकर भी समकालीन थे, बुद्ध की उम्र महावीर से 8 व ा अधिक थी और महावीर का निर्वाण बुद्ध के सामने ही उनके निर्वाण से 15 व ा पूर्व हो चुका था।)

2. बुद्ध, अपने द्वारा प्रवर्तित धर्म के आदि उपदे टा थे, किन्तु महावीर अपने धर्म के चौबीसवें या अन्तिम तीर्थंकर थे। जहाँ चौबीसवें तीर्थंकर महावीर हुए तो उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पा र्वनाथ थे। पा र्वनाथ, महावीर से 250 व ा पूर्व हो गये हैं। .....

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार पा र्वनाथ के ि ा य के ी के साथ महावीर के ि ा य गौतम का मिलन हुआ था, किन्तु यह सत्य नहीं है; क्योंकि पा र्वनाथ के ि ा य के ी उस परम्परा में बहुत बाद में पैदा हुए। जैनों में ओसवाल जैन मुख्यतः पा र्वनाथ को मानते हैं।

3. बुद्ध ने पूर्व के आचार्यों/विचारकों के उपदे ाों से अपनी श्रद्धा को खोकर, स्वाधीन मतवाद की प्रति ठा की, किन्तु महावीर अपने पूर्व के सब महापुरु ाों की परिपूर्णता के प्रतिनिधि थे।

4. बुद्ध के समय से विदित होता है कि उस समय निर्ग्रन्थ मत प्रचलित था। नातपुत्त (ज्ञातपुत्त) उसके उपदे टा थे। तत्कालीन निर्ग्रन्थों के वि ा य में जो बातें मिलती हैं, उससे स्प ट होता है कि वे जैनों से मिलती-जुलती या सम्बद्ध हैं।

महावीर और बुद्ध के दृष्टिकोणों में महान अन्तर[1]

महावीर कहते हैं कि "बहुत से लोग संसार में ऐसे हैं, जिनको यह पता ही नहीं है कि 'मैं कहाँ से आया हूँ, और कहाँ जाऊँगा? मेरी

1. **वही,** खण्ड 1, पृ ठ 120-125 के आधार पर

आत्मा पुनर्जन्म धारण करती है या नहीं ? मैं कौन हूँ और मेरा क्या होना है ?' – इन सब बातों को जो स्वयं जान लेते हैं या दूसरे ज्ञानी पुरु ों से सुन कर समझ लेते हैं; वे ही आत्मवादी हैं, वे ही क्रियावादी हैं, वे ही लोकवादी हैं, और वे ही कर्मवादी हैं''

– इस एक ही वाक्य में महावीर ने अपना सन्दे ा सुना दिया है, यदि यह कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

जबकि बुद्ध ने इसी बात को अपने ढ़ंग से कहा था। उनका कहना था कि 'हम कौन हैं और क्या होंगे ? – इन बातों को जानने की फिक्र नहीं करके सिर्फ इतना ही जानें कि अभी हम दुःखी हैं और इस दुःख से मुक्त होना चाहते हैं। तो वह कौनसा मार्ग है, जिस पर चलने से हम दुःख-मुक्त हो सकते हैं ?'

महावीर ने निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रथम भूमिका आत्मज्ञान को माना, क्योंकि आत्मा ही नहीं तो फिर दुःख से मुक्त कौन होगा ? उन्होंने कहा – **'एक आत्मा को जानो, उस एक आत्मा को जानने से ही सब कुछ जाना जा सकता है।'**

उन्होंने आत्म-ज्ञान या जीवन-विज्ञान को इतना आगे बढ़ाया कि उनको सर्वत्र पृथ्वी, पानी, पवन, अग्नि आदि में जीव ही नजर आए।

तब उन्होंने अपनी युक्ति को आगे बढ़ाते हुए कहा कि 'हमारी प्रवृत्ति, ऐसी होनी चाहिए, जिससे दूसरे जीवों को पीड़ा न पहुँचे, क्योंकि हमारी तरह वे भी तो सुख चाहते हैं। हम अपनी ओर से सबको सुखी करने का प्रयत्न कदाचित् न कर सकें, किन्तु अपनी प्रवृत्ति को हम इतना संकुचित तो अव य कर सकते हैं कि जिससे हम उन सबकी पीड़ा में निमित्त न बनें।'

जैसे, गीता में सब प्रवृत्ति करने की बात कही गई है, लेकिन साथ ही उससे आसक्ति छोड़ने की भी सीख दी है। इसी प्रकार महावीर ने भी प्रवृत्ति को संकुचित करने का महत्त्वपूर्ण उपदे ा दिया है और जो अपरिहार्य प्रवृत्ति हो, उसे भी अप्रमत्त होकर करने की सीख दी।

जिस प्रकार अनासक्ति से बन्धन नहीं होता, उसी प्रकार अप्रमाद से भी बन्धन नहीं होता। इस तरह मनु य, जब अपनी प्रवृत्ति को संकुचित करके दूसरे को पीड़ा न देने की सोचता है तो उसको सबका मित्र बनना पड़ता है।

अन्त में वह **कल्याण-मित्र,** किसी से स्वार्थ सम्बन्ध नहीं रखता। वह किसी का नहीं होता और न कोई उसका। उसके मन में ात्रु-मित्र सभी बराबर हो जाते हैं। तब वह अपने कुटुम्ब में क्यों फँसा रहेगा ? वह सबकुछ छोड़ कर, अपने आत्म-निरीक्षण के लिए अरण्य का आश्रय लेता है। वहाँ उग्र तपस्या करके अपने आप को सुवर्ण की भांति ुद्ध करके कृतकृत्य हो जाता है, यही निर्वाण है।

बुद्ध ने अपना निर्वाण-मार्ग, आत्म-विज्ञानमय जीवन पर स्थिर नहीं किया। उनका कहना था कि आत्म-विज्ञान से कोई लाभ नहीं। हाँ, इतना तो साफ है कि जब मनु य, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को 'मैं (शरीर) हूँ' इस प्रकार समझ लेता है, तब इस 'मैं' से ममत्व की सृ टि होती है। वह समझ लेता है कि यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, यह मुझे अच्छा लगता है, यह मुझे पसन्द नहीं है।

इस प्रकार प्रत्येक चीज को वह अपने 'अहं' की दृ टि से परीक्षा करता है और राग-द्वे ा बढ़ाता है और बुरी तरह संसार के चक्र में फँस जाता है; अतः इस चक्र से निकलने का उत्तम उपाय है कि इस (मिथ्या) 'मैं' को, इस अहंकार को, वैराग्य भावना के बल से हटाया जाए – ऐसा करके वह जब 'मैं' से मुक्त हो जाता है, तब वह **कल्याण-मित्र** बनता है। न कोई उसका है और न वह किसी का। फिर वह क्यों इस संसार में फँसा रहेगा? – उसे तो घर छोड़ना ही उचित है और अपनी उसी प्रज्ञा को प्रक ा ध्यान द्वारा प्राप्त करके कृतकृत्य होना ही उसके लिए निर्वाण है।

इस तरह हम देखते हैं कि महावीर ने जब आत्म-विज्ञान के विस्तार से निर्वाण का मार्ग बताया, तब बुद्ध ने आत्म-विज्ञान के संकोच से निर्वाण माना।

जैन और बौद्ध धर्म में साम्प्रदायिक दृष्टि से भी अन्तर[95]

यह जैन सम्प्रदाय, बौद्ध सम्प्रदाय से भी खास फर्क रखता था। महावीर और बुद्ध, न केवल समकालीन थे, बल्कि वे बहुधा एक ही प्रदे ा में विचरनेवाले तथा समान और समकक्ष अनुयायियों को एक ही भा ाा में उपदे ा देते थे। यद्यपि दोनों के मुख्य उद्दे य में कोई अन्तर नहीं था। फिर भी महावीर-पो ाित और बुद्ध-संचालित सम्प्रदायों में ाुरू से ही वि ो ा अन्तर रहा, जो निम्न तथ्यों से उजागर होता है —

1. बौद्ध सम्प्रदाय, बुद्ध को ही आद ार्रूप से पूजता है तथा बुद्ध के ही उपदे ाों का आदर करता है। जबकि जैन सम्प्रदाय, महावीर आदि को इ टदेव मानकर उन्हीं के वचनों को मान्य रखता है।

2. बौद्ध, चित्त- ाुद्धि के लिए ध्यान और मानसिक संयम पर जितना जोर देते हैं, उतना जोर बाह्य तप और देह-दमन पर नहीं। जबकि जैन, ध्यान और मानसिक संयम के अलावा देह-दमन पर भी जोर देते रहे हैं।

3. बुद्ध का जीवन, लोगों में हिलने-मिलनेवाला तथा उनके उपदे ा, अधिक सीधे-सादे व लोक-सेवागामी हैं, जबकि महावीर का जीवन तथा उनके उपदे ा वैसे नहीं हैं।

4. बौद्ध अनगार की बाह्य चर्या नियन्त्रित नहीं रही, जबकि जैन अनगारों की चर्या नियन्त्रित रही।

5. बौद्ध सम्प्रदाय, भारत के समुद्र और पर्वतों की सीमा को लांघ कर, उस पुराने समय में भी अनेक भिन्न-भिन्न भा ाा-भा ाी सभ्य-असभ्य जातियों में दूर-दूर तक फैला और करोड़ों अभारतीयों ने भी बौद्ध आचार-विचार को अपने-अपने ढ़ंग से अपनी-अपनी भा ाा में उतारा व अपनाया, जबकि जैन सम्प्रदाय के वि ाय में ऐसा नहीं हुआ।[2]

---

1. **वही,** खण्ड 1, पृ ठ 92-93 के आधार पर
2. चूंकि जैनों के गुरु आवागमन करते हुए वाहनों का प्रयोग नहीं करते थे: अतः उनका भारत के बाहर जाना सुलभ नहीं हो सका, इस कारण प्रचार-प्रसार की दृ टि से भी उनकी मर्यादाएँ सीमित रहीं।

जैन-श्रमण की बौद्ध-श्रमण एवं वैदिक साधुओं से तुलना[1]

"जैन-साधना-पक्ष को कठोर मानकर ही तथागत बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपनाया, जबकि वैदिकों में साधना-पक्ष बहुत ही कमजोररूप में स्वीकृत किया गया है। इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए **आचारांग सूत्र** की प्रस्तावना में लिखा है —

* तथागत बुद्ध, साधना के उ ााकाल (प्रारम्भिक अवस्था) में उग्र-तम साधना करते रहे, पर उन्हें उससे आनन्द की उपलब्धि नहीं हुई; जिसके कारण उन्होंने उग्र-साधना का परित्याग कर, ध्यान का आलम्बन लिया। उनका यह अभिमत बन गया कि उग्र-साधना, ध्यान-साधना में बाधक है।

लेकिन प्रभु महावीर की साधना का जो ाब्द-चित्र, आचारांग में प्राप्त होता है, वह (बाह्य दृ टि से) बहुत ही कठोर माना गया है।

प्रभु महावीर, चार-चार माह तक एक ही स्थान पर अवस्थित होकर साधना करते थे, उन्होंने छह-छह माह तक अन्न और जल का ग्रहण नहीं किया, तथापि उनकी वह उग्र-साधना ध्यान में बाधक नहीं, अपितु साधक थी। वे निरन्तर ध्यान-साधना में लगे रहते थे, उन्होंने अपने श्रमण-संघ की जो आचार-संहिता बनाई, वह भी अत्यन्त उग्र- साधना से युक्त है।

* श्रमण के अ ान, निवास-स्थान आदि के सम्बन्ध में यह नियम है कि श्रमण के निमित्त से यदि कोई वस्तु बनाई गई हो या पुरातन पदार्थ में नवीन-संस्कार किया गया हो तो वह भी भिक्षु (साधु) के लिए अग्राह्य है; क्योंकि वह उद्दि ट-आहार आदि का त्यागी होता है। यदि उसे कुछ अनुद्दि ट मिल जाए और वह उसके लिए उपयोगी हो तो ही वह उसे ग्रहण कर सकता है।

---

1. देवेन्द्र मुनि ाास्त्री, **आचारांग सूत्र,** प्रस्तावना, पृ ठ 25, प्रका ाक, श्री आगम प्रका ान समिति, व्यावर, राज. (1980)

लेकिन जैन श्रमण, अन्य बौद्ध और वैदिक-परम्परा के भिक्षुओं की तरह किसी के घर पर भोजन का निमन्त्रण भी ग्रहण नहीं करता है।

* बौद्ध-साहित्य में बौद्ध-श्रमणों के लिए स्थान-स्थान पर आवास हेतु विहारों के निर्माण का वर्णन मिलता है और वैदिक-परम्परा के तापसों के लिए भी आश्रमों की व्यवस्था बताई गई है।

किन्तु जैन-श्रमणों के लिए किसी भी प्रकार से निवास-स्थान का निर्माण करना, नि िद्ध माना गया है। यदि उनका निर्माण भी उसके निमित्त किया गया हो तो उसमें श्रमण अवस्थित नहीं हो सकता है।

* बौद्ध-भिक्षुओं के लिए वस्त्र-ग्रहण करना अनिवार्य था। श्रमणों के निमित्त क्रय करके जो गृहस्थ वस्त्र देता था, उसे तथागत बुद्ध सह र्ा स्वीकार करते थे। बुद्ध ने श्रमणों के निमित्त निर्मित/क्रीत वस्त्रों को ग्रहण करना उचित माना था, पर जैन-श्रमणों (श्वेताम्बर-श्रमणों) के लिए वस्त्र-ग्रहण करना उत्सर्ग-मार्ग नहीं है और उसके निमित्त निर्मित/क्रीत वस्त्रों को भी वह ग्रहण नहीं कर सकता है और न वह बहुमूल्य या उत्कृ ट वस्त्रों को ग्रहण करता है। उसके पास होने पर भी ग्री म ऋतु आदि में वस्त्र-धारण करना आव यक नहीं होता है तो वह उसे धारण नहीं करता है और आव यक होने पर लज्जा-निवारणार्थ, अनासक्त-भाव से वस्त्र-उपयोग करता है।

(ध्यान रहे कि दिगम्बर-धर्म के अनुसार जैन-श्रमणों को वस्त्र-ग्रहण करना सर्वथा नि िद्ध है, जबकि वेताम्बर-आम्नाय के प्राचीन ग्रन्थों में भी उसे आवश्यकतानुसार ही ग्रहण करना मान्य किया है।)

* सभी श्रमण, भिक्षा से अपना जीवन-यापन करते हैं। भोजन के निमित्त होनेवाली सभी प्रकार की हिंसा से मुक्त होता है, क्योंकि भगवान महावीर के युग में (अन्यमतावलम्बियों द्वारा होनवाली) स्थूल-जीवों की हिंसा से तो जन-मानस परिचित था, परन्तु त्यागी और संन्यासी कहलाने वाले व्यक्तियों को भी सूक्ष्म-जीवों की हिंसा का परिज्ञान नहीं था।

वे नित्य नई मिट्टी खोदकर लाने और उससे आश्रमों का लेपन करते थे। अनेक बार स्नान करने में धर्म का अनुभव करते थे।

यहाँ तक कि तथागत बुद्ध भी पानी में जीव नहीं मानते थे।

वैदिक-परम्परा में तो चौंसठ बार तक **मिट्टी का स्नान** करने का वर्णन मिलता है। **पंचाग्नि तप** तपने में साधना की उत्कृ टता मानी जाती है, विविध प्रकार से **वायुकाय** के जीवों की विराधना की जाती है और **कन्द-मूल-फल-फूल** के आहार को निर्दो ा आहार माना है।

वैदिक-परम्परा के ऋ िगण, गृह का परित्याग कर, पत्नी के साथ जंगल में रहते थे। वे गृह-त्याग तो करते थे, पर पत्नी-त्याग नहीं।

जबकि **भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा कि श्रमण को स्त्री-संग का पूर्णतः त्याग करना चाहिए; क्योंकि स्त्री-संग के कारण नाना प्रकार के प्रपंच करने पड़ते हैं, जिसमें केवल बन्धन ही बन्धन होता है; अतः सन्तों को गृह-त्याग ही नहीं, सर्व परिग्रह एवं विषय-भोग का परित्यागी होना चाहिए।**

* अहिंसा महाव्रत के पूर्णरूप से पालन करने से अन्य सभी महाव्रतों का पालन सहज सम्भव हो जाता है; अतः श्रमण, किसी भी प्रकार की हिंसा न स्वयं करे और न हिंसा करनेवालों का अनुमोदन ही करे — मन, वचन और काया से।

अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य है। श्रमण को भिक्षा में जो भी (शुद्ध) वस्तु उपलब्ध होती है, वह उसे समभावपूर्वक ग्रहण करता है।

* परि ाहों को ग्रहण (सहन) करते समय उसके मन में किंचित् मात्र भी असमाधि नहीं होती, उसके मन में आनन्द की उर्मियाँ तरंगित होती रहती हैं। ारीरिक क ट का असर उसके मन पर नहीं होता; क्योंकि ध्यानाग्नि से वह क ायों को जला देता है।

भगवान महावीर का मुख्य लक्ष्य, शरीर-शुद्धि नहीं, आत्म-शुद्धि है; अतः जिसके जीवन में अहिंसा की निर्मल धारा प्रवाहित

हो रही है, उसे ही आर्य कहा गया है और जिसके जीवन में हिंसा की प्रधानता है, वह अनार्य है।''

अन्य परम्पराओं पर जैन संस्कृति का प्रभाव[1]

1. यों तो सिद्धान्ततः सर्वभूतदया को सभी मानते हैं, परन्तु प्राणि-रक्षा पर जितना बल जैन-परम्परा ने दिया, जितनी लगन से उसने इस वि ाय पर काम किया, उसका नतीजा सारे ऐतिहासिक युग में यह हुआ कि जहाँ-जहाँ और जब-जब जैन लोगों का एक या दूसरे क्षेत्र में प्रभाव रहा, वहाँ सर्वत्र आम जनता पर जीव-दया, प्राणि-रक्षा का प्रबल संस्कार पड़ा है।

2. यहाँ तक कि भारत के अनेक भागों में अपने को अजैन कहने वाले तथा जैन-विरोधी समझे जानेवाले साधारण लोग भी जीव मात्र की हिंसा से नफरत करने लगे हैं।

3. अहिंसा के इस सामान्य संस्कार के कारण ही अनेक वै णव आदि जातियाँ, जैनेतर परम्पराओं के आचार-विचार से प्रभावित होकर, पुरानी वैदिक-परम्परा से बिल्कुल जुदा हो गए हैं।

4. तपस्या के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। त्यागी हो या गृहस्थ, सभी जैन तपस्या पर अधिकाधिक झुकते रहे हैं। इसका फल पड़ोसी समाजों पर भी इतना अधिक पड़ा है कि उन्होंने भी एक या दूसरे रूपों में अनेक विधियाँ या सात्विक तपस्याएँ अपना ली हैं।

5. सामान्यरूप से साधारण जनता भी जैनों की तपस्या की ओर आदर ीील रही है।

6. अनेक बार मुगल सम्राटों तथा दूसरे समर्थ अधिकारियों ने जैनों की तपस्या से आकृ ट होकर, जैन सम्प्रदाय का बहुमान ही नहीं किया है, बल्कि उन्हें अनेक सुविधाएँ भी प्रदान की हैं।

---

1. पाण्डे, बि ाम्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 1, पृ ठ 86-99 के आधार पर

7. मद्य-माँस आदि सप्त व्यसनों को रोकने तथा उन्हें घटाने के लिए जैन-वर्ग ने इतना अधिक प्रयत्न किया है कि वह व्यसन-सेवी, अनेक जातियों में सुसंस्कार डालने में समर्थ हुआ है। यद्यपि बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदाय, पूरे बल से इस सुसंस्कार के लिए प्रयत्न करते रहे, पर जैनों का प्रयत्न, इस दि ाा में आज तक जारी है।

8. जहाँ जैनों का प्रभाव ठीक-ठीक है, वहाँ इस स्वैर-विहार (स्वच्छन्द-आचरण) के स्वतन्त्र युग में भी माँस-भक्षी जैनेतर लोग, खुल्लम-खुल्ला, मद्य-माँस का उपयोग करने में आज भी सकुचाते हैं।

9. श्री लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि **'गुजरात आदि प्रान्तों में प्राणि-रक्षा और निर्मांस (निरामिस या शाकाहारी) भोजन का जो आग्रह दिखाई देता है, वह जैन-परम्परा का ही प्रभाव है।'**

10. जैन-विचार-सरणि (शृंखला) का एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि **'प्रत्येक वस्तु का विचार अधिकाधिक पहलुओं और दृष्टिकोणों से करना चाहिए और विवादास्पद विषय में अपने विरोधी पक्ष के अभिप्राय को भी उतनी ही सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करना चाहिए, जितनी सहानुभूति अपने पक्ष की ओर हो और अन्त में समन्वय पर ही जीवन-व्यवहार का फैसला करना चाहिए।'**

...... जैन विचारकों ने इस सिद्धान्त पर इतना अधिक जोर दिया है, जिससे कट्टर से कट्टर विरोधी सम्प्रदायों को भी उनसे कुछ प्रेरणाएँ मिलती ही रही हैं। **रामानुज के विशिष्टाद्वैत एवं उपनिषदों की भूमिका पर अनेकान्तवाद का ही तो प्रभाव है।**

11. जैन संस्कृति के मर्म को समझने के लिए हमें थोड़े से उन आद ाों का परिचय करना होगा, जो पहले से आज तक जैन-परम्परा में एक से मान्य हैं और पूजे जाते हैं। सबसे पुराना आद ा, जैन-परम्परा के ऋ ाभदेव और उनके परिवार का है।

ऋ ाभदेव ने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग, उन जवाबदेहियों (जिम्मेदारियों) को बुद्धिपूर्वक अदा करने में बिताया, जो प्रजा-पालन

की जिम्मेदारी के साथ उन पर आ पड़ी थीं। (उन्होंने जन-सामान्य को असि, मसि, कृ ि, विद्या, वाणिज्य और कला का उपदे ा दिया एवं सु ाासन करने का सन्दे ा दिया।)

12. जब उनको महसूस हुआ कि अब बड़ा पुत्र भरत, प्रजा- ाासन की सब जवाबदेहियों को निबाह (संभाल) लेगा तो वे (वैराग्यवन्त होकर) उसे राज्य-भार सौंप कर, गहरे आध्यात्मिक प्र नों की छान-बीन के लिए उत्कृ ट तपस्या करने, घर से (जंगल की ओर) निकल पड़े।

13. ऋ ाभ के भरत और बाहुबली नामक पुत्रों में राज्य के निमित्त भयानक युद्ध ाुरु हुआ, परन्तु अन्त में उनमें द्वन्द्व-युद्ध का फैसला हुआ। (जिसमें अहिंसक पद्धति से निर्णय किया गया।)

14. जब बाहुबली, विजय की ओर अग्रसर थे, तब उन्होंने उस क्षण में यह सोचकर कि – 'राज्य के निमित्त लड़ाई में विजय पाने और फिर बैर-प्रतिबैर तथा कुटुम्ब-कलह के बीज बोने की अपेक्षा सच्ची विजय, अहंकार और तृ णा-जय में है' – ऐसा सोच कर, उन्होंने उसे आत्म-विजय में बदल दिया। फिर बाहुबली ने अपने बाहुबल को क्रोध और अभिमान पर ही चलाया और अबैर से बैर के प्रतिकार का जीवन्त-दृ टान्त स्थापित किया। फल यह हुआ कि अन्त में भरत का भी लोभ तथा गर्व खत्म हुआ।

15. एक समय था, जबकि केवल क्षत्रियों में ही नहीं, वरन् सभी वर्गों में माँस खाने की प्रथा थी। नित प्रति के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनु ठान के अवसरों पर प ाु-पक्षियों का वध, ऐसे ही प्रचलित और प्रति ठित था, जैसा आज नारियलों और फलों का चढ़ना/चढ़ाना।

उस युग में यदुनन्दन नेमिकुमार (जैनों के बाईसवें तीर्थंकर) ने एक दृढ़ कदम उठाया; उन्होंने निर्दो ा प ाु-पक्षियों की आर्त मूक-वाणी से सहसा पिघलकर नि चय किया कि वे ऐसी ाादी न करेंगे। उसी गम्भीर नि चय के साथ उन्होंने सबकी सुनी-अनसुनी करके बारात लौटा कर, द्वारका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर तपस्या की।

कुमारवय में राज-पुत्री का त्याग और ध्यान-तपस्या का मार्ग अपना कर, उन्होंने उस चिर-प्रचलित प ाु-पक्षी-वध की प्रथा पर गम्भीर प्रहार किया, जिससे गुजरात भर में और उसके प्रभाव वाले दूसरे प्रान्तों में भी वह प्रथा नाम- ो ा रह गई और जगह-जगह मूक- प्राणियों हेतु पांजरापोलों (गौ ाालाओं) की लोकप्रिय संस्थाओं में परिवर्तित हो गई।

16. पा र्वनाथ (जैन संस्कृति के तेईसवें तीर्थंकर) का जीवन-आद र्ा कुछ और ही रहा है। उन्होंने एक बार दुर्वासा जैसे, सहज क्रोधी तापस और उसके अनुयायियों की नाराजगी का खतरा उठा कर भी जलती हुई गीली लकड़ी में एक जलते हुए साँप को बचाने का प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि आज भी जैन प्रभाव वाले क्षेत्रों में कोई जहरीले साँप तक को नहीं मारता।

17. दीर्घ तपस्वी महावीर (जैन संस्कृति के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर) ने भी एक बार अपनी अहिंसा-वृत्ति की पूरी साधना का ऐसा ही परिचय दिया। जब जंगल में वे ध्यानस्थ खड़े थे तो एक प्रचण्ड वि ाधर ने उन्हें डस लिया। उस समय वे न केवल ध्यान में अचल रहे, बल्कि उन्होंने मैत्री-भावना का ही उस वि ाधर पर प्रयोग किया, जिससे वह विषधर भी **'अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः'** – इस योग-सूत्र का जीवित उदाहरण बन गया।

इसी तरह अनेक प्रसंगों पर यज्ञ-यागादि धार्मिक कार्यों में होने वाली हिंसा को रोकने का तो वे आजन्म प्रयत्न करते रहे।

18. ऐसे ही आद ाों से जैन संस्कृति उत्प्राणित होती रही है और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उसने अपने आद ाों के मर्म को किसी न किसी तरह संभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक, और राजकीय इतिहास में जीवित है तथा जब कभी सुयोग मिला, तभी उसके त्यागियों (गृहत्यागी साधु-साध्वियों एवं तपस्वियों) तथा राजा, मन्त्री, व्यापारी आदि गृहस्थों ने भी जैन संस्कृति के अहिंसा, तप और संयम के आद ाों को अपने ढ़ंग से प्रचारित किया।

19. ..... जैन संस्कृति में तत्त्वज्ञान और आचार के जो मूल नियम हैं और वह जिन आद र्ों को आज तक पूजती/मानती आई है, उनके आधार पर वह प्रवृत्ति-निवृत्ति का ऐसा मंगलमय योग साध सकती है, जो सबके लिए क्षेम-कर (कल्याणकारी) हो।’

जैन संस्कृति पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव[1]

1. आचार्य सुखलाल के अनुसार – इन्द्र, वरुण आदि देव-देवियों की स्तुति-उपासना के स्थान पर जैनों का आद र् है – नि कलंक मनु य (वीतरागी अरहन्त भगवान एवं वीतरागी साधु) की उपासना; परन्तु जैन आचार-विचार में बहि कृत देव-देवियों का पुनः गौणरूप से ही सही, स्तुति-प्रार्थना द्वारा प्रवे ा हो गया, जिसका जैन संस्कृति के साथ कोई मेल नहीं है।

2. जैन-परम्परा ने उपासना-विधान में प्रतीकरूप में मनु य-मूर्ति को स्थान तो दिया, जो कि उसके उद्दे य के साथ संगत है, पर साथ ही उसके आस-पास श्रृंगार व आडम्बर का इतना संभाल (प्रबन्ध) आ गया कि जो उसके निवृत्ति के लक्ष्य के साथ बिलकुल असंगत है।

3. स्त्री और ाूद्र को आध्यात्मिक समानता के नाते ऊँचा उठाने का तथा समाज में समान स्थान दिलाने का जो जैन संस्कृति का उद्दे य रहा, वह यहाँ तक लुप्त हो गया कि न केवल उसने ाूद्रों को अपनाने की क्रिया ही बन्द कर दी, बल्कि उसने ब्राह्मण-धर्मीय जाति-पाँति की दीवारें भी खड़ी कीं।

यहाँ तक कि जहाँ ब्राह्मण-परम्परा का प्राधान्य रहा, वहाँ तो उसने अपने घेरे में से ाूद्र कहलानेवाले लोगों को अजैन कह कर, बाहर कर दिया। जैन संस्कृति, जिस जाति-भेद का विरोध करने में गौरव समझती थी, उसने दक्षिण जैसे दे ाों में नये जाति-भेद की सृ टि कर दी।....

4. मन्त्र-ज्योति ा आदि विद्याएँ, जिनका जैन संस्कृति के ध्येय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वे भी जैन संस्कृति में आ गईं।

1. **वही**, खण्ड 1, पृ ठ 86-99 के आधार पर

इतना ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करनेवाले अनगारों तक ने उन विद्याओं को अपना लिया।

5. जिन-यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का मूल में जैन संस्कृति के साथ कोई सम्बन्ध ही न था, वे ही दक्षिण भारत के मध्यकाल में जैन संस्कृति का एक अंग बन गये और इसके लिए ब्राह्मण-परम्परा की तरह जैन-परम्परा में भी एक पुरोहित वर्ग कायम हो गया।

यज्ञ-यागादि की ठीक नकल करनेवाले क्रियाकाण्ड – प्रति ठा आदि विधियों में आ गये।

6. ये तथा ऐसी दूसरी अनेक छोटी-मोटी बातें इसलिए घटीं कि जैन संस्कृति को उन साधारण अनुयायियों की रक्षा करनी थी, जो कि दूसरे विरोधी सम्प्रदायों में से आकर, उसमें ारीक होते थे या दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचारों से अपने को बचा न सकते थे।

दिगम्बर-श्वेताम्बर विचारधाराओं का प्रादुर्भाव[1]

जैनधर्म में संसारी (गृहस्थ श्रावक) और संन्यासी (गृह-त्यागी साधु) – ये दो विभाग तो हैं, परन्तु पन्थ-भेद की दृ टि से उसके मौलिक दो विभाग वेताम्बर और दिगम्बर हैं।

* वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों अपने-अपने मत को प्राचीन मानते हैं। महावीर के काल में शायद इसप्रकार का कोई एक मत था।

* इन दोनों मतों को स्थविरकल्प (श्वेताम्बर) और जिनकल्प (दिगम्बर) भी कहा गया है। प्रथम समुदाय, वस्त्र का उपयोग करता था, इसी से के ाी सवस्त्र और गौतम विवस्त्र थे।

* यद्यपि तीर्थिकों (तीर्थंकरों को माननेवाले) के आदि गुरु तो नग्न ही रहते थे, इसी कारण अति प्राचीन काल से ही नग्न (दिगम्बर) रह कर साधना करने की प्रथा चली आती है।

1. पाण्डे, बि म्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति**, खण्ड 1, **‘जैन संस्कृति : सामाजिक आचार एवं निषेधाज्ञाएँ’**, पृ ठ 100-119 के आधार पर

वेताम्बर और दिगम्बर के विभागों के वि ाय में स्थानकवासियों में दो मत प्रचलित हैं –

* प्रथम मतानुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में बड़ा अकाल पड़ा। उस समय जैन साधुओं की संख्या 24,000 थी। सभी को भिक्षा नहीं मिल सकती थी, इस कारण 12,000 नि ठावान दृढ़वर्ती साधु, गुरु भद्रबाहु के साथ दक्षिणभारत को चले गये और दूसरे 12,000 साधु स्थूलभद्र के साथ उत्तर भारत में रहे।

स्थूलभद्र के अधिपत्य में रहने वाले दल ने नग्न-परीषह से पीड़ित होकर, वस्त्रादि का व्यवहार करना शुरु किया। दुष्काल के बाद जब भद्रबाहु इस देश में वापस आये, तब (उनके कहने पर भी) यह समुदाय वस्त्र आदि का त्याग करने में असमर्थ रहा।

* दूसरे मत के अनुसार दु काल के कारण भद्रबाहु, जब दक्षिण भारत में गये तो उनकी अनुपस्थिति में स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में एक विराट् सम्मेलन का आयोजन किया; इसमें प्राचीन उपदे ा के बारह अंगों को एक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। ग्यारह अंगों का एकीकरण सुचारुरूप से हो गया और सबसे पिछला अंग स्थूलभद्र ने पूर्ण किया।[2]

भद्रबाहु के वापस आने पर, जब उन्हें पता चला कि उनकी अनुपस्थिति में ही सम्मेलन हो चुका है तो वे अत्यन्त विरक्त हुए और उन्होंने घो ाणा की कि 'ये द्वाद ा अंग अप्रामाण्य हैं'।[3]

1. यद्यपि उस समय भद्रबाहु ने उन्हें यह मौका दिया था कि वे प्राय चित्त लेकर पुनः नग्न दिगम्बर मुनिधर्म में दृढ़ हो जाएँ, उनमें से कुछ तैयार हुए, परन्तु अधि ाकां ा तैयार नहीं हुए; इससे दिगम्बर- वेताम्बर में मतभेद बढ़ते गये और अन्ततोगत्वा उनमें विच्छेद हुआ।
2. परन्तु स्थूलभद्र रचित यह अंग प्राप्त नहीं होता, जबकि दिगम्बर आम्नाय के अधिकांश सभी ग्रन्थ इसी बारहवें अंग के 14 पूर्वों से सम्बन्धित हैं।
3. चूंकि इनमें सवस्त्र साधु एवं सवस्त्र-मुक्ति व स्त्री-मुक्ति का समर्थन है।

इस प्रकार उनमें पृथक्त्व होते हुए भी कुछ काल तक ये दोनों दल एकत्र रहे, परन्तु आगे चल कर उनका एकत्र रहना असम्भव हो गया। स्थानकवासी सूचित करते हैं कि यह विच्छेद, ई. सं. 83 में हुआ, जबकि वेताम्बर तपागच्छ के अनुसार ई. सं. 142 में यह विच्छेद पूर्ण हुआ।

दिगम्बर और श्वेताम्बर विचारधारा में मूलभूत अन्तर[1]

* नग्नता के उदाहरण जैनधर्म के आदिकाल में भी दिखाई देते हैं। संन्यासी होने के लिए दिगम्बर होना आव यक है, पर नारी के लिए संन्यास (दीक्षा/प्रव्रज्या) लेना उचित नहीं है। उसे इस मार्ग के पुण्य (व्रतादि-ग्रहण करके) से दूसरे जन्म में पुरु ा का जन्म लेकर संन्यास ग्रहण करना चाहिए। इसी कारण दिगम्बरों में स्त्रियों के लिए संन्यास (दीक्षा/प्रव्रज्या) नहीं है।[2]

* यद्यपि उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लीनाथ को वेताम्बर स्त्री मानते हैं, किन्तु दिगम्बर कहते हैं कि वे पुरु ा हैं; क्योंकि स्त्री होते हुए किसी के लिए तीर्थंकर होना असम्भव बात है।

* वेताम्बरों के मतानुसार महावीर विवाहित थे।......जबकि दिगम्बरों के मतानुसार महावीर, बाल संन्यासी थे।

* वेताम्बर साधु, कौपीन और उत्तरीय – इन दो वस्त्रों को व्यवहार में लाते हैं। कौपीन को वे 'चोलपट्ट' और उत्तरीय को 'पछेड़ी' कहते हैं। इसके अतिरिक्त वे कम्बल और कन्था का उपयोग भी करते हैं। स्थानकवासी साधु मुख पर एक प्रकार का वस्त्राच्छादन बाँधते हैं, जिसे वे मुखपट्टी या 'भोमती' कहते हैं। धूल और जन्तु या कीड़े दूर करने के लिए वे अपने पास एक तरह की बुहारी रखते हैं, जिसे रजोहरण या ओछा कहते हैं। तदुपरान्त वे का ठ-पात्र आदि से लेकर चौदह तरह की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ रख सकते हैं।

1-2. **वही;** और देखें, **अष्टपाहुड़, सूत्रपाहुड़,** गाथा 24-25

* जबकि दिगम्बर साधु, वस्त्र तक नहीं रखते; इसलिए वे 'वनवासी' कहे जाते हैं, वे जीव-जन्तु को दूर करने के लिए मोर-पंख (पीछी) रखते हैं। वेताम्बर साधु की तरह रहने के लिए उपाश्रय या घर नहीं रखते।

* वेताम्बर श्रमिक, गृहस्थ अपने घर में गृह-मन्दिर भी रख सकते हैं, पर दिगम्बर नहीं।

* दोनों सम्प्रदायों की प्रतिमा में भी पार्थक्य है। वेताम्बरों की प्रतिमा में वस्त्र, अलंकार, मणि-माणिक्य आदि रहते हैं, पर दिगम्बरों में इस तरह की बात नहीं है। वेताम्बर प्रतिमा की आँखें भी स्फटिक निर्मित होती है, किन्तु दिगम्बर प्रतिमा की आँखों से विलास-वैभव का आभास दृ टिगोचर नहीं होता तथा प्रतिमा की दृ टि पृथ्वी की ओर (नासाग्र-दृष्टि) होती है।

* दोनों सम्प्रदायों में इनके अतिरिक्त पूजन के उपचार और उपकरण में भी भिन्नता है।

मूर्तिपूजा से जुड़े आडम्बरों के विरुद्ध जैनधर्म में चेतना–जागृति[1]

"पन्द्रहवीं ाताब्दी में जैनों (श्वेताम्बर) में ही एक इतिहास पुरु ा का जन्म हुआ, उसका नाम था 'लोका ाह'। वेताम्बर मूर्तिपूजक परिवार में जन्म लेने के बावजूद उन्होंने कबीर, नानक के समान मूर्तिपूजा के विरुद्ध कार्य किया।

कबीर और नानक की तरह लोकाशाह ने पुरातन शास्त्रों को त्याग कर, न सिर्फ स्वाधीन आत्मानुभव पर ही धर्म को प्रतिष्ठित किया।.. ....बल्कि उनकी तुलना मार्टिन लूथर किंग के साथ की जा सकती है।

यद्यपि वे गृहस्थ थे, फिर भी अनेक मुनि लोग भी उनके ि य हुए, लोग उन्हें दयाधर्म मुनि नाम से पुकारने लगे, और उनके धर्म को

1. पाण्डे, बि ाम्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति, भाग 1, 'जैन संस्कृति : सामाजिक आचार एवं निषेधाज्ञाएँ'**, पृ ठ 100-119 के आधार पर

दयाधर्म कहने लगे। इस प्रकार कुछ लोग उनके गच्छ को लोकागच्छ, दयागच्छ या तपागच्छ भी कहते हैं। वे मूर्तिपूजा से जुड़े आडम्बर के खिलाफ थे। उनके अनुवर्ती समुदाय में स्थानकवासी शामिल हुए।

विशुद्ध धर्मी होने के कारण लोकाशाह, प्रतिमा-पूजा के विरुद्ध थे। उस समय जैनधर्म, प्रतिमा-पूजा-उत्सव के ठाठ-बाट आदि अनेक अनुष्ठानों और राजसिक वृत्तियों से भाराक्रान्त हो गया था। लोकाशाह ने उन सब बातों के विरुद्ध घोषणा की। महावीर के जन्मोपलक्ष्य के दिन जो व्यर्थ आडम्बर या सज-धज होती थी, उसके खिलाफ स्थानकवासियों ने तीव्ररूप से आक्रमण किया।

इसी प्रकार सतरहवीं ाताब्दी में दिगम्बर सम्प्रदाय, तारणपन्थ से प्रभावित हुआ, तारणस्वामी को इसका प्रवर्तक माना जाता है। उन्होंने भी मूर्तिपूजा, अनाचार और मिथ्याचार के विरुद्ध भयंकर संघ ा किया।[1]

इसी को लक्ष्य कर कहा जा सकता है कि जिस धर्म में प्रत्येक युग में इस तरह नवीनतम प्राणशक्ति का परिचय मिलता है, उनके विषय में हताश होने का कोई कारण नहीं है।"

सूफी सन्त अबुल अला पर जैन संस्कृति का प्रभाव[2]

सीरिया के सुविख्यात सूफियों में स्थान-प्राप्त अन्ध-कवि, ज्ञानी और साधक 'अबुल अला' (जन्म ई. सं. 973 या 974) का परिचय, जब भारतीय ज्ञानियों से हुआ तो उनके विचार एकदम बदल गये। फिर उन्हें स्वर्गादि की चाहना भी नहीं रही।

1. दिगम्बर धर्मानुयायी 'समैया' (समयसारी) कहलानेवाले श्री तारण -स्वामी ने चौदह ग्रन्थों की रचना की। उनकी भा ा न तो वि ाुद्ध प्राकृत थी, न संस्कृत और न अपभ्रं ा; वह इन सबका मिश्रण थी; अतः विद्वानों ने उसे 'तारण भा ा' का नाम दिया है। उन ग्रन्थों पर ब्र. ीतलप्रसादजी ने हिन्दी भा ा में नौ ग्रन्थों की विस्तृत टीकाएँ लिखी हैं।

2. पाण्डे, बि ाम्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति, भाग 1, 'जैन संस्कृति : सामाजिक आचार एवं निषेधाज्ञाएँ'**, पृ ठ 100-119 के आधार पर

वे जैनों की तरह सोचने लगे कि मुक्ति ही हमारी दुःखमय सत्ता का अवसान है, अतः सिर्फ निर्वाण या मुक्ति ही प्रार्थनीय है।

स्वदे ा सीरिया-बगदाद लौटने के बाद उन्होंने भारतीय तपस्वियों के सदृ ा गुफा में रह कर, अति कृच्छ (सूक्ष्म) तप चरण किया। उसके बाद का उनका कार्य अहिंसा से भरपूर रहा।

मद (मद्य-पान), मत्स्य, माँस, अण्डे और दूध का भी उन्होंने त्याग किया। उनके वाक्यों की तीव्रता, क्रम ाः तप चर्या की महत्ता बताने में परिणत हुई और जीवन ाान्त और मैत्रीपूर्ण बना। **वे स्वयं मुनि-जीवन जैसा सरल-जीवन व्यतीत करते थे।**

सब छोटे-बड़े जीव-जन्तुओं या कीड़े-मकोड़ों के प्रति वे असीम करुणा-परायण हो गये थे। उनकी कविताओं से यही ध्वनि निकलती है कि **वृथा पशु-हिंसा में क्यों जीवन कलंकित करते हो ? बेचारे वनवासी पशुओं का क्यों निष्ठुर भाव से शिकार करते हो ? दर-असल आगे जाकर तुम भी नहीं रहोगे – न व्याध (मारने वाला) रहेगा और न वध्य (मरने वाला)।**

अबुल अला के इस अहिंसावाद के मूल में भारतीय धर्मों का भी विशद् प्रभाव पड़ा है, इसे सब देशों के विद्वान् जानते हैं। पर उनके मतामत में, जीवन की यात्रा और तपश्चर्या में – क्या विशेष रूप से जैनधर्म का प्रभाव नहीं है ?

अबुल अला की कविताओं का अमीर रीहाणी कृत अंग्रेजी अनुवाद 'लुझुमिआत' के नाम से अभी भी प्राप्त है।

जलालुद्दीन रूमी पर जैन संस्कृति का प्रभाव

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध मार्मिक कवि जलालुद्दीन रूमी के काव्यों में भी जन्म-जन्मान्तरवाद का आ चर्यपूर्ण उल्लेख मिलता है। जैसे –

"पत्थर (पृथ्वीकाय) मर के हुआ वृक्ष, (वनस्पतिकाय)
वृक्ष मरके हुआ कृमि, (विकलत्रय)

कीड़ा मरके हुआ मानव, (मनु यगति)
अब मैं दिव्य देह धारण कर अमर होकर रहूँगा, (देव)
फिर उसको भी छोड़, अनुपम गति प्राप्त करूँगा, (मोक्ष)

जैन संस्कृति का अहिंसा-प्रधान उपदेश

जैन संस्कृति में अहिंसा प्रमुख है। विश्व-बन्धुत्व की भावना, बिना अहिंसा के नहीं सिरजी (बनाई) जा सकती।

जैनधर्म, जीव मात्र को एक समान गिनता है। मनुष्य-जाति एक है, उसमें कोई मौलिक भेद नहीं है। आजीविका की सुविधा और जीवन-निर्वाह के लिए वर्णादि के भेद काल्पनिक हैं; इसलिए जैन संस्कृति, मनुष्य मात्र के प्रति सम-दृष्टि रखना सिखाती है। इस सम-दृष्टि में ही लोक-कल्याण की पुनीत भावना अन्तर्हित है।

जैन संस्कृति में श्रद्धालु व्यक्ति के लिए निः ांकित और निःकांक्षित गुणों (सम्यक्त्वाचरण-चारित्र-स्वरूप सम्यक्त्व के आठ गुण, आदि) को धारण करना, परमाव यक बताया गया है।

एक श्रद्धालु सम्यग्दृ टि जैनी को इहलोक-परलोक, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि किसी भी तरह का कोई भी भय नहीं होता।

वह ांकारहित निः ांक होता है और ममता-मोह से परे अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रखनेवाला (निःकांक्षित) होता है। यह एक सच्चे जैनी का रूप है और उसकी अहिंसक वीरता का द्योतक।

जैन संस्कृति में अहिंसा की मर्यादा, अहिंसक वीरों की क्षमता और ाक्ति – इन दो धाराओं में बँटी हुई मिलती है। जो साधु हैं, दुनिया से मोह-ममता नहीं रखते, समता और क्षमागुण ही जिनकी सम्पत्ति है, वे अहिंसा महाव्रत (संयमाचरण-चारित्र) पालते हैं, आततायी के उपसर्ग को भी समता-भाव से सहते हैं।

ारीर भले ही मिट जावे, परन्तु वे आततायी का बुरा नहीं चाहते, जीव मात्र का भला चाहते हैं, किसी भी जीव की मनसा-वाचा-कर्मणा हिंसा नहीं करते।

यह अहिंसा की पूर्णता की पुनीत धारा है। यही धारा जैन संस्कृति में बहती है। जैन तीर्थंकर आध्यात्मिक विज्ञानी थे, यद्यपि वे जानते थे कि सभी मनु य, मोह-ममता के त्यागी और वासना-विजयी नहीं हो सकते, अतः संघ की स्थिरता के लिए उन गृहस्थों की चारित्र-मर्यादा भी निर्दि ट की जानी चाहिए।

ऐसे मोही गृहस्थों के लिए अहिंसा- व्रत का विधान 'अणु' (आं ाक) रूप में (अहिंसाणुव्रत) किया गया कि वे संकल्प करके, जान-बूझकर किसी को न मारें। क्रोध-मान-माया-लोभ के व ा होकर किसी की हत्या न करें, किसी पर आक्रमण न करें।

वे सद्गृहस्थ, धार्मिक/सात्त्विक जीवन बिताने के लिए, अपना और पराये का भला करने के लिए उद्योग करें और अपने घर-बार की रक्षा करें — ऐसा करने में जो हिंसा हो, वह उनके लिए अनिवार्य है; उसका निवारण करना, उनकी ाक्ति के बाहर है, परन्तु ऐसे अवसरों पर भी वह अणुव्रती श्रावक अहिंसा को ही आगे रखकर चलेगा, जितनी अधिक मात्रा में वह अहिंसा का पालन कर सकेगा, अवश्य पालेगा।

जैन संस्कृति में भावों की प्रधानता

यहाँ प्र न यह है कि वह सद्गृहस्थ श्रावक, अपने किस कृत्य में हिंसा माने और किसमें नहीं?

इसका उत्तर — जैन संस्कृति में हिंसा के दो रूप हैं — भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। द्रव्यहिंसा, भावहिंसा के आधीन है। जब हिंसा के भाव होंगे, तब ही मनु य के कार्यों में हिंसा का पाप माना जा सकेगा और जहाँ भावों में हिंसा नहीं, वहाँ अहिंसा ही है, फिर कार्य का परिणाम कुछ भी हो।

इस सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में अनेक दृ टान्त मिलते हैं, जिनके उल्लेख **'भारत और मानव संस्कृति'** में निम्न रूप से किये हैं —

* भगवान महावीर से मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार ने जाना कि काल-सौकरिक कसाई महाहिंसक है, वह हिंसा छोड़ ही नहीं सकता; पर सम्राट् का दिल नहीं माना, उन्होंने उसे बहुत ललचाया, पर फिर भी वह न माना। आखिर अपनी प्रभुत्व- ाक्ति का उन्होंने प्रयोग किया और उसे अन्धे कुएँ में डलवा दिया और ऐसा मान लिया कि काल-सौकरिक ने हिंसा नहीं की, परन्तु जब वे भगवान के समक्ष पहुँचे तो वे यह सुनकर आ चर्य में पड़ गये कि काल-सौकरिक ने यद्यपि सजीव भैंसों को नहीं मारा, किन्तु उसने अपने भावों में भैंसों के मानस-चित्र बनाकर, उनकी आकृतियाँ बनाईं और उनकी हत्या की।

सम्राट् यह सुनकर चुप थे, लेकिन जब उन्होंने कुएँ में काल-सौकरिक को दिखवाया तो उसे हिंसानन्दी पाया। काल-सौकरिक ने उस कुएँ की दीवारों पर तमाम भैंसों की तस्वीरें बना कर, उन्हें कत्ल करने का भाव किया था। यद्यपि उसने प्रत्यक्षरूपेण एक जीव भी नहीं मारा था, कुछ भी द्रव्यहिंसा नहीं की थी, परन्तु फिर भी वह महा हिंसक था? क्योंकि उसने वहाँ भी भरपूर भावहिंसा की थी।

* दूसरी तरफ उस कृ ाक को देखिए — जो मीलों जमीन जोत कर, कीड़े-मकोड़ों और पृथ्वीकायिक जीवों की हत्या करके द्रव्यहिंसा तो बहुत करता है, परन्तु फिर भी वह उस मछुयारे (मछली पकड़नेवाले) से कम पापबन्ध करता है, जो बराबर बंसी डाले हुए पानी के किनारे मछली पकड़ने की हिंसक भावना लिए बैठा रहता है और भले ही एक भी मछली पकड़ नहीं पाता; क्योंकि —

कृ ाक के भाव, अन्न उपजा कर, अपना और अपने आश्रितों का भला करने का है; उसके भाव, हिंसा के नहीं हैं, परन्तु मछुआरे के भाव, हिंसा से ओत-प्रोत हैं; इसीलिए वह अधिक पाप का संचय करता है; अतः जैन संस्कृति में हिंसा/अहिंसा का माप 'भाव' है।

* इसलिए गृहस्थ जैनी, धर्म, दे ा और प्रियजनों की रक्षा करने के लिए हर समय तैयार रहता है। पूर्व भारत में इसी अहिंसा-मर्यादा का पालन करनेवाले एक नहीं, सहस्रों जैन राजा-महाराजा, सैनिक और सेनापति हो चुके हैं। जैसे —

1. सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों को खदेड़ भगाया था और अन्त में जैन मुनि होकर समाधि (कर्नाटक में श्रवणबेलगोला की चन्द्रगिरि पर्वत पर) धारण की थी।

2. कलिंग सम्राट् खारवेल ने धर्म-मर्यादा की स्थिरता के लिए दिग्विजय की थी और उनके आतंक से यूनानी ाह दमत्रय मथुरा छोड़ कर भाग गया था।

3. सेनापति चामुण्डराय ने लगभग 80 युद्ध, अपने सम्राट् की रक्षा के लिए लड़े थे, परन्तु उन्होंने ही 'त्रि ाटि ालाका-पुरु ा-चरित्र' नामक धर्म-ग्रन्थ रचा। उनकी ऐतिहासिकता का प्रमाण, उनके द्वारा निर्मित श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) की 57 फुट ऊँची श्री गोम्मटे वर बाहुबली की प्रतिमा दे रही है।

* यह तो कुछ थोड़े से उदाहरण हैं, किन्तु इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण से भरे पड़े हैं।

* एक बात और भी द्र टव्य है कि जैन संस्कृति, हिंसक-संग्रामों को हमे ाा बचाती आई है। पा ाविक ाक्तियों का प्रयोग, अन्ततोगत्वा ही उसमें किया गया है। भरत और बाहुबली का हिंसक युद्ध, इसी तरह टला था; उन्होंने अहिंसक युद्ध; जैसे, जल-युद्ध, मल्ल-युद्ध और दृ टि-युद्ध लड़े और जय-पराजय का निर्णय किया।

* अन्तिम सारां ा यही है कि जैन संस्कृति, प्रत्येक परिस्थिति में यथा ाक्ति अहिंसक रहने का ही उपदे ा देती है।

महात्मा गांधी पर जैनधर्म का प्रभाव[1]

महात्मा गांधी, अहिंसा, सत्य और संयम के प्रबल पुजारी थे। इसी कारण उन्हें 'महात्मा' नाम से सम्बोधित किया जाता है। इतना ही नहीं,

1. आचार्य विद्यानन्द मुनि; **जैनधर्म, अहिंसा, एवं महात्मा गांधी,** पृष्ठ 1-3 एवं **जैन शासन ध्वज,** पृ ठ 39, प्रका ाक, श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, (2007) एवं 'हरिजन' पत्रिका, 21.07.1946

उनकी विचारधारा, आज एक द ान (गांधीद ान), एक वाद, (गांधीवाद) एक क्रान्ति (अहिंसक क्रान्ति) का प्रतीक बन गई है। उनकी विचार-धारा को विकसित होने में उनके माता-पिता[45] (उनकी माता जैन थीं और पिता वैष्णव थे) एवं गुरु (जैनधर्मानुयायी श्रीमद् राजचन्द्र) का वि ो ा सहयोग रहा है। फ्रेंच भा ाा के प्रखर ाान्तिवादी चिन्तक एवं लेखक श्री रोमन रोलैण्ड ने अपनी पुस्तक 'महात्मा गांधी'[1] में लिखा है–

"His Parents were followers of the Jain School of Hinduism, which regards 'Ahimsa', the doctrine of non-injury to any form of life, as on of its basic principles. This was the doctrine, that Gandhi was to proclaim victoriously throughout the world. Jainism believes that the principle of love, not intelligence, is the road leads to God.

अर्थात् गांधीजी के माता-पिता, हिन्दुस्थान में जैनधर्म की ाक्षाओं के अनुयायी थे, जो अहिंसा से प्रेरित है। 'अहिंसा-द ान' से तात्पर्य किसी भी प्राणी को चोट पहुँचाना नहीं है, जो उसका मूलभूत सिद्धान्त है। इसी द ान को गांधीजी ने सम्पूर्ण वि व में डंका बजाते हुए बड़े गर्व के साथ फैलाया। जैनधर्म के अनुसार करुणा (व्यवहार-अहिंसा) का सिद्धान्त ही वह मार्ग है, जो हमें ई वर के पास ले जाता है, न कि केवल बुद्धिमत्ता।"

गाँधीजी जैनों के अहिंसा सिद्धान्त से इतने प्रभावित थे कि मराठी भा ाा के दैनिक समाचार पत्र 'नवा काळ'[2] में गांधीजी ने लिखा था –

"The main principle of the Jains is compation towards the living creatures of the world, in their entiriY. I consider all of them Jains, who follow this principle of Ahimsa towards their fellow-beings.

1. रोमेन रोलैण्ड, **महात्मा गांधी,** पृ ठ 2 एवं आचार्य विद्यानन्द मुनि; **जैनधर्म, अहिंसा, एवं महात्मा गांधी,** पृ ठ 2-3
2. महात्मा गांधी, **दैनिक नवाकाळ,** 27.11.1932

''अर्थात् **सर्व जीवों के प्रति दया, जैनों का मुख्य तत्त्व है; अतः मैं उन सब अहिंसावादी लोगों को जैन ही समझता हूँ, जो जीवदया में विश्वास रखते हैं और उसका पालन करते हैं।''**

एक बार **लाला लाजपतराय,** जो स्वयं जन्मजात जैन थे, उन्होंने उत्तेजनाव ा जब ऐसा लिख दिया कि 'अहिंसा सिद्धान्त के चरम विकास के कारण ही भारत का अधःपतन हुआ है' तो गांधीजी ने अपनी असहमति व्यक्त करते हुए इसका जवाब लिखा –

''यद्यपि मैं लालाजी का बहुत आदर करता हूँ, फिर भी मैं उनके इस मत से सहमत नहीं हूँ कि अहिंसा सिद्धान्त के चरम विकास के कारण ही भारत का अधःपतन हुआ है।

यद्यपि ऐसे कोई ऐतिहासिक तथ्य हमारे सामने नहीं हैं, जिनसे यह वि वास किया जा सके कि अहिंसा की पराका ठा से ही हमारे मानवीय गुणों का घात-प्रतिघात हुआ है। ....

हाँ, हम यह तो कह सकते हैं कि नैतिक/धार्मिक वृत्ति की अपेक्षा, अनैतिक/अधार्मिक वृत्तियों के कारण ही हमारा अधःपतन हुआ है।''[1]

"विचारणीय है कि जो लोग, 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' (अर्थात् दुष्ट व्यक्ति के साथ दुष्टता का व्यवहार करना चाहिए) के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, उनके प्रति गाँधीजी का सिद्धान्त था कि **'शठं प्रत्यपि सत्यं समाचरेत्'** (अर्थात् दुष्ट व्यक्ति के साथ भी सत्य-व्यवहार करना चाहिए)।''[2]

उनके जीवन के बारे में **रोमन रोलैण्ड** लिखते हैं – "गांधीजी की आठ व ा की उम्र में सगाई और बारह व ा की उम्र में ादी हो गई थी। उन्नीस व ा की उम्र में अपनी वकालात की पढ़ाई पूरी करने के लिए जब वे लन्दन जाने लगे तो उनकी माता ने उन्हें 'जैनधर्म

---

1. महात्मा गांधी, **यथार्थ प्रकाश,** पृ ठ 56
2. आचार्य विद्यानन्द मुनि, **जैनधर्म, अहिंसा एवं महात्मा गांधी,** पृ ठ 13, प्रका ाक, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली (2007)

के तीन नियम' दिलाए, जो ाराब, माँस और परस्त्री के त्याग से सम्बन्धित थे।''[1]

महात्मा गांधी के गुरु श्रीमद् रायचन्द

गांधीजी ने स्वयं यह कहा है – ''मुझ पर तीन पुरु ाों ने गहरा प्रभाव डाला है – टॉल्स्टॉय, रस्किन और रायचन्दभाई। टॉल्स्टॉय ने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहार से; रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दि लॉस्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है और रायचन्दभाई (जैनधर्मानुयायी) ने अपने गाढ़ परिचय से। जब मुझे हिन्दूधर्म में ांका उत्पन्न हुई, उस समय उसके निवारण करने में मदद करनेवाले रायचन्दभाई ही थे।

व्यवहार-कु ालता और धर्म-परायणता का जितना उत्तम मेल, मैंने कवि (श्रीमद् रायचन्द्रभाई) में देखा, उतना किसी अन्य में नहीं देखा।

.... बहुत बार कह और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतों के जीवन में से बहुत कुछ लिखा (सीखा) है; परन्तु सबसे अधिक किसी के जीवन से मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि (श्रीमद् रायचन्दभाई) के जीवन से है। दयाधर्म भी मैंने उनके जीवन से सीखा है। **खून करनेवाले से भी प्रेम करना – ऐसा दयाधर्म, मुझे कवि ने सिखाया है।**''[2]

गाँधीजी आश्रम में प्रतिदिन अनेक जैन भजनों को गाया करते थे और सभी को गाने के लिए प्रेरित करते थे, जिनमें 'अब हम अमर भये न मरेंगे' इत्यादि अनेक भजन सम्मिलित थे।

एक भजन (काव्य) में निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बनने की भावना स्पष्टरूप से व्यक्त की गई है। उस काव्य की प्रारम्भिक चार पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं –

---

1. रोमेन रोलैण्ड, **महात्मा गांधी,** पृ ठ 2; मोहनदास करमचन्द गांधी, **आत्मकथा,** पृ ठ 17, 29, 34 व 37 एवं आचार्य विद्यानन्द मुनि; **जैनधर्म, अहिंसा, एवं महात्मा गांधी,** पृ ठ 4
2. पुरु ाार्थसिद्धयुपाय, भूमिका, पृ. 15, प्रका ाक, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

'अपूर्व अवसर' ऐसा किस दिन आएगा।
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब,
सर्व सम्बन्ध का बन्धन तीक्ष्ण छेद कर,
विचरूँगा कब महत् पुरुष के पन्थ जब,
'अपूर्व अवसर' ऐसा किस दिन आएगा।।[1]

अर्थात् ''हे प्रभु! नग्न दिगम्बर साधु बनने का अपूर्व अवसर मेरा ऐसा किस दिन आएगा? कब मैं बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रन्थ मुनि बनूँगा, सर्व स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब-परिवार-घर-दुकान आदि के प्रति सम्बन्ध की भावना को तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी से छेद कर, कब मैं महापुरुषों (तीर्थंकरादि) के मार्ग का अनुसरण करूँगा।''

वे स्वयं लिखते हैं कि ''श्रीमद् राजचन्द्र का जो वैराग्य, 'अपूर्व अवसर' आदि उक्त काव्य की कड़ियों में झलक रहा है; वह मैंने उनके दो वर्ा के गाढ़ परिचय में प्रतिक्षण उनमें साक्षात् देखा है।''

साथ ही इस काव्य के प्रति गाँधीजी की विशेष रुचि में उनकी स्वयं निर्ग्रन्थ मुनि बनने की भावना अभिव्यक्त होती है। गाँधीजी को अन्तरंग से जाननेवाले ऐसा कहते हैं कि गाँधीजी को इस काव्य से इतना अनुराग था कि वे इसे खास तौर से, खास प्रसंगों में, स्वयं ही अपने मुख से बोल कर, सबसे बुलवाया करते थे।

जब चर्चिल ने उन्हें 'नंगा फकीर' कह कर सम्बोधित किया था तो इसी घटना को उल्लिखित करते हुए सुप्रसिद्ध लेखक फि ार[2] लिखते हैं –

"Gandhiji aspired to practice highest type of Ahimsa by becoming a nude Jain Monk (Muni). When Churchill had rebuked Gandhiji by calling him a 'A Naked Fakir'. He had informed Churchill "I would love to be A Naked Fakir, but I am not one yet."

1. आश्रम (गांधी आश्रम) भजनावली, पृ ठ 186, प्रका ाक, नवजीवन प्रका ान मन्दिर, अहमदाबाद, (2006)
2. L. Fisher, **The Life of M. K. Gandhi,** Page 473

अर्थात् गाँधीजी ने ऐसे सम्बोधन से उन्हें सम्बोधित करने पर, इसके उत्तर में स्वयं चर्चिल को सूचित किया था कि '**हाँ, मैं सर्वोत्कृष्ट प्रकार की अहिंसा का पालन करने के लिए मैं स्वयं नंगा जैन फकीर (साधु/मुनि) बनना चाहता हूँ, परन्तु अभी मैं अपने को इसके योग्य नहीं पाता हूँ।''**

महात्मा गाँधी ने महावीर की अनेकान्त से संपुष्ट एवं न केवल भावनात्मक, बल्कि वास्तविक अहिंसा को अपना कर, उसे भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का सबसे बड़ा अस्त्र बनाया और समस्त संसार को अहिंसा की ाक्ति से परिचित कराया। वे लिखते हैं –

''पहले मैं ऐसा मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। लेकिन आज मैं विरोधियों को प्यार करता हूँ; क्योंकि अब मैं अपने को विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा – इन युगल-सिद्धान्तों का ही सुपरिणाम है।''

जार्ज बर्नाड शॉ पर जैनधर्म का प्रभाव

प्रख्यात साहित्यकार तथा नोबल पुरस्कार द्वारा सम्मानित **डॉ. जार्ज बर्नार्ड शॉ,** महात्मा गाँधी से अत्यन्त प्रभावित रहे हैं। एक बार गाँधीजी के ज्ये ठ सुपुत्र एवं वरि ठ पत्रकार **देवदास गाँधी** (हिन्दुस्तान टाइम्स के संस्थापक-सम्पादक) जार्ज बर्नार्ड ॉ का इन्टरव्यू लेने लन्दन पहुँचे; तब उसी प्रसंग में बर्नार्ड ॉ के साथ उनके वार्तालाप के अंश, समाचार-पत्रों में इस प्रकार प्रका ित हुए –

"He expressed the views that 'Jain Teachings were appealing to him very much and he wished to be reborn in Jain family. Due to the influence of Jainism, he was always taking pure food free from meat diet and liquar. .... If there is a rebirth, then I wish to be born in a jain family."

अर्थात् ज र्ज बर्नाड श ने अपना अभिप्राय प्रगट करते हुए कहा – ''जैनधर्म की िक्षाओं ने मुझे वि ो ा प्रभावित किया है और मैं चाहता हूँ कि मेरा पुनर्जन्म किसी जैन परिवार में हो। ध्यान रहे कि जैनधर्म के प्रभाव से ही वे (जार्ज बर्नाड श) हमे ा ुद्ध ाकाहारी आहार ही करते थे, वे माँस-भक्षण एवं राब का सेवन नहीं करते थे।

..... अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा – 'यदि पुनर्जन्म होता है तो मैं जैन परिवार में जन्म लेना चाहता हूँ।'

अन्य महान विभूतियों पर जैनधर्म का प्रभाव

गाँधीवादी दर्शन के प्रख्यात व्याख्याकार **काका कालेलकर** ने **'जैनधर्म को विश्वधर्म बनने की क्षमता वाला धर्म'** कहा है।

'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' – ऐसे स्वतन्त्रता का उद्घो ा करनेवाले लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने तो यहाँ तक कहा है –

"ब्राह्मण धर्म में एक सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसमें ब्राह्मण आदि चारों वर्णों को समानाधिकार नहीं दिये गये। यज्ञ-यागादि-कर्म केवल ब्राह्मण ही कर करा सकते थे, क्षत्रिय और वै य नहीं, ूद्र तो उसे देख भी नहीं सकते थे। जैनधर्म ने इस त्रुटि को दूर कर, मानव-समाज का बड़ा भारी उपकार किया है।

इस प्रकार जैनधर्म ने युगों-युगों तक सकल भारतीय समाज के सभी वर्णों के निर्माण में और सकल भारतीय समाज ने जैन-संस्कृति के विकास, संरक्षण और उसके इतिहास-निर्माण में परस्पर आ ातीत योगदान दिया है।''

अन्तर्रा ट्रीय न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधी ा (Ex-judge International Tribunal for Trying the Japanese War Criminals) श्री डॉ. राधा विनोद पाल, **World Peace** अर्थात् वि व- ान्ति के अधिकार के सम्बन्ध में लिखते हैं –

"If anybody has any right to receive and welcome the delegates to any Pacifists Conference, It is the Jain Community. The principle of Ahimsa, which alone can secure **World Peace**, has indeed been the special contribution to the cause of human development by the Jain Tirthankaras, and who else would have the right to talk of World Peace than the followers of the great Sages Lord Parshvanath and Lord Mahavira.

अर्थात् वि व- ान्ति संस्थापक सभा के प्रतिनिधियों का हार्दिक स्वागत करने का अधिकार केवल जैनों को ही है; क्योंकि अहिंसा ही वि व- ान्ति का साम्राज्य पैदा कर सकती है और मानवीय विकास के लिए अहिंसा की ऐसी अनोखी भेंट जगत् को जैनधर्म के प्रस्थापक तीर्थंकरों ने ही दी है; इसलिए वि व- ान्ति के लिए बात करने का अधिकार सन्त-शिरोमणि प्रभु श्री पा र्वनाथ और प्रभु श्री महावीर के अनुयायियों के अतिरिक्त और किसको है?''[1]

इतना ही नहीं, भारत की भूतपूर्व प्रधानमन्त्री स्व. श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने तो संसद में ही एक प्रश्न के उत्तर में यहाँ तक कह दिया था कि "केवल मैं ही नहीं, सारा राष्ट्र जैन है, क्योंकि हमारा राष्ट्र अहिंसावादी है और जैनधर्म अहिंसा में विश्वास रखता है। जैनधर्म के आदर्श के रास्ते को हम कभी नहीं छोड़ेंगे।''[2]

अन्त में इतनी विशाल, इतनी समृद्ध और इतनी विशुद्ध जैन संस्कृति एवं उसके संविधान से समग्र विश्व लाभान्वित हो; सबका कल्याण हो, सबका मंगल हो और सब मुक्तिपथ पर अग्रसर हों – यही सुविशुद्ध भावना है।

**** ।। इति शुभम् ।। ****

---

1. आचार्य विद्यानन्द मुनि, **जैनधर्म**, अहिंसा **एवं** महात्**मा** गांधी, पृ ठ 14
2. जैन संजय, (अध्यक्ष, वि व जैन संगठन), **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृ ठ 44

प्रस्तुत 'जैन संविधान' के सम्बन्ध में प्राप्त विद्वद् मनीषियों के अभिमत

पुस्तक प्रकाशन से पूर्व इसकी अनेक प्रतियाँ अनेक विद्वान् मनीषियों को उनके अभिमत जानने हेतु भेजी गई थी, उनमें कतिपय विद्वानों की राय कुछ इस प्रकार ज्ञात हुई है –

निरोध–गामिनी धम्म–देशना

अनेक मत-मतान्तरों के ज्ञाता, थविर-वास, गोलगंज, छिन्दवाड़ा-निवासी, **धम्मचारी संवेगी धवल-बोधि,** महाराष्ट्र लिखते हैं –

महामानव महाश्रमण धम्म-तीर्थंकरों की धम्म-देशना, आस्रव-बन्ध के निरोध की देशना है। अनादिकाल से जीव, चेतना के अपने ही परिणमन में राग-द्वेष-मोहादिरूप अशुद्धता है, उसके परिमुक्ति का मार्ग भी श्रमण-परम्परा के आगम में विस्तारपूर्वक देखा जाता है।

जैसे, जो रोगी, रोग के कारण-कार्य को समझ कर, उचित मात्रा से पथ्य-परहेज की विधि-युक्त औषधि का सेवन करता है, वह यथा- समय रोग से परिमुक्त हो जाता है।

इस तरह जो कोई भी अपने द्रव्य -क्षेत्र-काल-भाव की समीचीनता का विचार करके आस्रव-बन्धरूप अशुद्धता के निरोध का साधन करता है, किन्तु परिस्थिति-प्रसंग के कारण अपनी ही कमजोरी से "आरुग्ग-बोहि-लाभं" की सज्झाय-संवर -सामायिक-समाधि-साधना में जो दोष लग जाते हैं, उन्हें जिनागम में अतिचार-दोष कहा जाता है; फिर वे श्रावकाचार के हों, या श्रमणाचार के।

आगम में उन दोषों के परिमुक्ति का मार्ग भी कहा है; जो वन्दना-स्तुतिपूर्वक, आलोचना-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान के रूप में होता है, परन्तु इस विधि का विधान भी दोषी के योग्यतानुसार ही होता है तथा इसमें द्रव्य-क्षेत्र -काल-भाव की मर्यादा का भी विचार होता है, क्योंकि यह विधि, मार्ग है।

इन सबका वर्णन, श्रीमती ड . स्वर्णलताजी जैन, नागपुर ने जिनागम की आज्ञानुसार विस्तार से अपनी पुस्तक में किया है; अतः श्रद्धा की परिपक्वता से, शिक्षा की समीचीनता, दीक्षा की पवित्रता तथा भिक्षा की शुद्धता के हेतु भी इस पुस्तकरूप मित्र की मित्रता, सदा मंगलमय हो।

खामेमि सव्व जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वैरं मज्झं ण केण वि।।

समस्त ज्ञात-अज्ञात असातना के प्रति 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'।

अध्ययन की गहराईयों में से निकले मोती

सर्वप्रथम युवाओं के प्रेरणास्रोत आदरणीय **बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी जैन, खनियाधाना** लिखते हैं –

"जैन संविधान, शाश्वत संविधान है, इसे समझ कर हम अपनी परिणति का शोधन करें। अनेक बार देश–काल का नाम लेकर संविधान बदलने की बातें एवं अनेकों बार चेष्टाएँ भी हुई हैं, इतना ही नहीं, नये संविधान बनाये भी गये हैं, परन्तु वे इतिहास न बन सके। जाने कहाँ उत्पाद–व्यय को प्राप्त हो गये।

भले ही वर्तमान साधकों ने अध्ययन या अभ्यास में कहीं चूक की हो, परन्तु एक बात स्वतःसिद्ध हो गई कि उन्हें भी शाश्वत संविधान ही प्रतिष्ठा–योग्य लगा। भले ही स्वयं की अशक्यता या अज्ञानतावश उसका पालन करना, उन्हें शक्य न हो सका हो।

जैनशासन में वर्णित आत्म–साधक साधना–पद्धति पर विहंगावलोकन करने की आवश्यकता सदा रही है। इस ओर ध्यान आकृष्ट कर, बहिन स्वर्णलताजी ने श्रम करके अनेक शोधकर्ताओं को प्रेरणा दी है।

शोध–प्रबन्ध के माध्यम से विषय की गहराईयों में जाया जाता है, अतः अध्ययन की गहराईयों में से मोती निकलते हैं।

इस शोध–ग्रन्थ के माध्यम से निकले अमृत–बिन्दुस्वरूप मोतियों का लाभ अध्येता साधक- वर्ग अवश्य उठाएगा – ऐसी शुभाकांक्षा अभिव्यक्त करते हैं।"

मौलिक चिन्तन से प्रसूत अनुपम कृति

"नयरहस्य, प्रवचनसार महामण्डल विधान आदि अनेक कृतियों के रचनाकार, देश-विदेश में ख्यातिप्राप्त विद्वान, कवि-हृदय **पण्डित श्री अभयकुमार जैन, जैनदर्शनाचार्य, देवलाली** लिखते हैं –

'केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो' – केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म ही लोक में उत्तम है। यह लोकोत्तम धर्म ही वस्तुतः जैन संविधान है, जिसे गणधरदेव, ऊँकार-ध्वनि के माध्यम से द्वादशांग के रूप में प्रस्तुत करते हैं; अतः सम्पूर्ण द्वादशांग ही जैन संविधान है।

इस संविधान में सृष्टि-संचालन के सहज अकृत्रिम एवं शाश्वत नियमों का प्रतिपादन किया गया है तथा मोहजन्य दुःखों से शाश्वत मुक्ति का विधान बताया गया है।

संसार-भ्रमण के उपादान एवं निमित्त कारणों का तथा तदनुरूप आचरण का समावेश भी इस संविधान में हो जाता है।

इस प्रकार छह द्रव्य, सात तत्त्व के रूप में वर्णित विश्व-व्यवस्था एवं मुक्ति का विधान, जैन संविधान के मौलिक तत्त्व हैं।

अनेकान्तस्वरूप वस्तु-व्यवस्था, जैन संविधान की आत्मा है। स्याद्वाद शैली से वस्तु-व्यवस्था का प्रतिपादन, इसका शरीर है और आनन्दमयी सिद्धत्व की प्राप्ति इसकी श्रद्धा-ज्ञान-आचरण का फल है।

यह संविधान, समस्त विश्व पर सहज और स्वतः लागू होता है।

ड. श्रीमती स्वर्णलता जैन, नागपुर ने अपनी चिन्तन-प्रतिभा एवं कर्मठता का उपयोग करके, इस महान कृति को जन्म देकर, न केवल जैन साहित्य को समृद्ध किया, अपितु जैन जगत् पर महान उपकार किया है।

सरल भाषा एवं बोधगम्य शैली में प्रसूत यह रचना, जीवन के अनेक पहलुओं में पाठकों का मार्गदर्शन करती है।

शोध-कार्य तो एक बहाना मात्र है, वस्तुतः इसमें उन्होंने अपनी गहन-अध्ययन की अभिरुचि एवं तलस्पर्शी सूक्ष्म-चिन्तन-प्रवृत्ति का पोषण करते हुए तृप्ति का अनुभव करने का सफल प्रयास किया है।"

मेरा अभिप्राय

गुणस्थान प्रवेशिका, जिनधर्म विवेचन, मोक्षमार्ग में शुद्धाशुद्धपरिणति आदि अनेक पुस्तकों के लेखक एवं पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के प्रकाशन-मन्त्री **बाल ब्र. आ. यशपालजी जैन** लिखते हैं–

मुझे इस पुस्तक के नाम 'जैन संविधान' ने विशेष आकर्षित किया है। सबसे पहले मैंने इसके सभी शीर्षकों को पढ़ा। इसके बाद मैंने इस कृति के आदि से अन्त तक एक-एक शब्द को विशेष जिज्ञासापूर्वक पढ़ा है।

आपने आवश्यकतानुसार श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी बारीकी से अध्ययन किया है – यह भी इसके अध्ययन से ज्ञात होता है। एक बार शुरू करने के बाद मैं इसे आद्योपान्त पढ़ता गया।

सर्वप्रथम लेखिका ने 'अपनी बात' में कृतज्ञतापूर्वक अपने माता-पिता, भाई-बहिन, सास-श्वसुर-जेठ, पति-पुत्र-पुत्री, सभी के सहयोग का स्मरण किया है। नागपुर एवं सागर, दोनों जगह के मुमुक्षु मण्डलों का बहुमान किया। यह सब पढ़कर मुझे बहुत अच्छा लगा।

'जैन संविधान' विषयक प्राचीन मनीषियों के उल्लेखों ने भी मुझे अत्यधिक प्रभावित किया, इसके लिए आपने स्वयं भी कितना श्रमपूर्वक अध्ययन किया होगा। प्रत्येक उल्लेख के साथ उनके सन्दर्भ भी आपने प्रस्तुत किये, इससे विषय की प्रामाणिकता ज्ञात हो जाती है।

मेरे विचारानुसार यह पुस्तक, प्रत्येक मुमुक्षु को ही नहीं, प्रत्येक साधर्मी को अवश्य ही पढ़ना चाहिए।

जैन समाज की लौकिक और धार्मिक, सभी कार्यों को करने की पद्धति, अन्य-अन्य प्रदेशों में जैसी-जैसी चलती हैं, उनका यथार्थ विवेचन करने के साथ-साथ उनके गुण-दोषों का सूक्ष्म विवेचन भी आपकी प्रतिभा का परिचायक है।

मैं इस अत्यन्त उपयोगी पुस्तक के लिए लेखिका, श्रीमती ड. स्वर्णलताजी एवं मेरे प्रिय साधर्मी विद्वान् सम्पादक, ड. राकेश जैन शास्त्री को बधाई देता हूँ।

समयोपयोगी शोध-प्रबन्ध

चारों अनुयोगों में निष्णात गहन तत्त्वाभ्यासी अनेक पुस्तकों की प्रणेता **बाल ब्र. कल्पनाबेन शास्त्री, जयपुर/सागर** लिखतीं हैं –

"343 घन-राजू-प्रमाण असंख्यात-प्रदेशी इस लोक में जीव आदि अनन्तानन्त द्रव्य, अनादि से ही पर से पूर्ण निरपेक्ष रहकर, अनन्त वैभव-सम्पन्न अपनी शाश्वत सत्ता में पूर्ण सन्तुष्टिपूर्वक रह रहे हैं। यही उनका धर्म या स्वभाव है।

किसी में भी किसी भी प्रकार की कोई हीनता नहीं होने से और अन्य में कुछ अधिकता नहीं होने से यद्यपि यहाँ परमुखापेक्षिता का, अन्य की ओर आकर्षित होने का या नीयत बिगाड़ने का, किंचित् भी कारण नहीं है, अतः ऐसा करना दण्डनीय घोर अपराध माना गया है; तथापि यह ज्ञानवान् जीव, इस सत्य को स्वीकार नहीं करके, अनादि से ही अन्य पदार्थों पर आकर्षित होकर, उन्हें अपनाने का निष्फल पुरुषार्थ करके चार गति, चौरासी लाख योनियों में घोर कष्ट सहता हुआ, यह जीव, अनादि से ही भटक रहा है।

इसी भटकने रूप परिवर्तन में नवीनता आदि की मान्यता कर, यह जीव, उन्हीं में मुग्ध हो, द्रव्य-क्षेत्र-कालादि पंच परिवर्तन करता हुआ, असह्य अनन्त आकुलता भोगता आ रहा है।

यदि देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से इसे अपनी और लोक की शाश्वत-सत्ता, अनेकान्तात्मक वस्तु की द्रव्य-गुण-पर्यायमयी सामर्थ्य-सम्पन्न, स्वतन्त्र व्यवस्था स्वीकृत हो जाए तो इसकी यह निरर्गल अपराधी वृत्ति नष्ट हो जाए और यह अव्याबाध सुख-शान्ति का भोक्ता हो जाए – यह एकमात्र जिनशासन से ही सम्भव है, इसी बात को आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी इस प्रकार व्यक्त करते हैं –

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।।

– युक्त्यनुशासन, 61

अर्थात् हे भगवान! अनन्त-धर्मात्मक वस्तु की मुख्य-गौण व्यवस्था व अपेक्षा के अभाव में शून्यवाद का प्रतिपादक, सभी आपदाओं का अन्तकारक, अखण्ड, निर्दोष, आपका यह तीर्थ ही सर्वोदयी है।

इस मनुष्यगति में बुद्धि, धन आदि कुछ विशेष संयोग मिल जाने के कारण अज्ञानता-वश उनका दुरुपयोग कर, हम अपराधी वृत्तियों का ही अनुकरण कर, उन्हीं का पोषण करते रहते हैं।

यद्यपि इन सब अपराधी वृत्तियों पर अंकुश लगाने हेतु हमारे परमपूज्य तीर्थंकरों ने अपनी दिव्य-वाणी द्वारा कर्तव्याऽकर्तव्य- बोधक संविधान के अन्तर्गत दण्ड-व्यवस्था का प्रतिपादन किया है; जिसे परम्परानुसार आचार्यों आदि ने लिपि-बद्ध भी किया है, तथापि अपने प्रमादादि-वश हम उनसे अनभिज्ञ-सम ही हैं।

इस आत्म-घातक उपेक्षा-वृत्ति से विगलित-हृदयी आचार्यों एवं नीतिकारों ने तो हम सभी के प्रति यहाँ तक लिख दिया है –

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः,
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्।
श्रावकैस्तत्त्वमूढैरपि साधुभिश्छलवृत्तिभिः,
पण्डितैर्धनलुब्धैश्च दूषितं जिनशासनम्।।

अर्थात् चारित्र-भ्रष्ट पण्डितों द्वारा, बठर तपोधनों द्वारा, जिनेन्द्र भगवान का निर्मल शासन मलिन किया गया है। तत्त्व-मूढ़ श्रावकों द्वारा, छल-वृत्तिवाले साधुओं द्वारा और धन-लुब्ध पण्डितों द्वारा जिनशासन दूषित किया गया है।

क्षोभ व्यक्त करते हुए आचार्यश्री समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं –

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा, श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा।
त्वच्छासनैकाऽधिपतित्व-लक्ष्मी, प्रभुत्व-शक्तेरपवाद-हेतुः।।

युक्त्यनुशासन, 5

अर्थात् हे भगवान! आपके शासन में यद्यपि एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मी का स्वामी होने की या सर्वव्यापक होने की शक्ति विद्यमान है; तथापि उसके अपवाद का कारण एक तो कलिकाल है; दूसरा श्रोता का कलुषित

आशय है और तीसरा प्रवक्ता के वचनों में अनय का प्रयोग है अथवा विवक्षा को स्पष्ट नहीं करना है।

ऐसे विकट-काल में हिताहित-बोधक, सन्मार्ग-दर्शक, एक में ही सर्वांगीण विषय-विवेचक ग्रन्थ की महती आवश्यकता प्रतीत हो रही थी।

इस हेतु से शोधकर्त्री बहिन श्रीमती स्वर्णलता जैन, नागपुर ने अपने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध द्वारा उसकी कुछ अंशों में पूर्ति करने का सफल प्रयास किया है; एतदर्थ वे अनेकशः साधुवादार्ह हैं।

सभी इसके गहन अध्ययनादि के द्वारा परोन्मुखी वृत्तिरूप दीनता -हीनतामय अपराधों को छोड़कर, स्वोन्मुखी, निराकुलता-सम्पन्न गौरवपूर्ण जीवन जीएँ – यही मंगल भावना है।''

'जैन संविधान' के अनुसरण में समस्त मानव-जाति का हित

तत्त्वमर्मज्ञ गम्भीर विवेचना करनेवाले आत्मार्थी विद्वान् **बाल ब्र. श्री हेमचन्दजी जैन, देवलाली** लिखते हैं –

"मैंने आद्योपान्त अक्षरशः सम्पूर्ण पुस्तक का पारायण किया है। आप निश्चित ही साधुवाद की पात्र हैं। आपने एक ऐसे विषय पर कलम चलाई है, जो सर्वोपयोगी सर्वोदयी जैनधर्म की विशालता को दर्शाता है।

जैनदर्शन, विश्ववन्द्य ऋषभादि महावीर पर्यन्त 24 तीर्थंकरों का दर्शन है, उनके द्वारा ही प्ररूपित यह 'जैन संविधान' है, जो प्राणीमात्र के लिए हितकारी एवं उपादेय है।

आपका यह शोध-प्रबन्ध, भारतीय संविधान के परिप्रेक्ष्य में जिनागम-सम्मत चरणानुयोग (Code of conduct for all Human beings based on Jain Ethical Science) पर आधारित है, उत्तम है, श्रेष्ठ है।

यह 'जैन संविधान' (Jain Constitution) नामक शोध-प्रबन्ध निश्चित ही जैनाचार-विचार की अथवा समग्र मानवता के सुख-शान्ति पूर्ण जीवन जीने की झांकी प्रस्तुत करनेवाला प्रथम शोध-प्रबन्ध है।

मेरी दृष्टि में इस विषय पर शायद ही इससे पूर्व किसी शोधार्थी ने अपनी कलम चलाई हो। इस अनुछुए विषय पर आपने शोध-खोजपूर्ण कार्य

करने का प्रयास किया है, जो काफी गवेषणापूर्ण है, आप धन्यवादार्ह हैं।

जैनदर्शन का संविधान कोई नया दर्शन या नया संविधान नहीं है, यह एक परिपूर्ण दर्शन भी है और परिपूर्ण संविधान भी, जो जड़-चेतन सर्व वस्तुओं के अकृत्रिम, अनाद्यनन्त, अनेकान्त स्वभाव का दर्शन कराता है; प्राणी मात्र के हित की, आत्मोन्नति की बात करता है क्योंकि इसके उपदेष्टा आप्त हैं, वीतरागी हैं, सर्वज्ञ हैं, हितोपदेशी हैं।

'जैन संविधान' का अनुसरण करने से ही सच्चे स्वाधीन आत्मिक अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति हो सकती है, लेकिन अन्य जैनेतर दर्शनों से नहीं क्योंकि वे पूर्वापर-विरोधी कथनों से भरे हुए हैं।

वास्तव में इसका कारण भी यह है कि वे रागी-अल्पज्ञों द्वारा प्रणीत मनोकल्पित दर्शन हैं। जैसे, ताँबे के सिक्कों के ऊपर चाँदी की परत तो चढ़ा दी जाती है, परन्तु इससे वे चाँदी के सिक्के तो नहीं बन जाते।

मैंने सन् 1980 में बैरिस्टर चम्पतरायजी जैन द्वारा लिखित 'जैन ल' (Jain law) पुस्तक पढ़ी थी, बहुत अच्छी लगी थी। वस्तुतः Jain law एक स्वतन्त्र 'जैन न्याय का संविधान' है, जो हम जैनों के अहिंसक रीति-रिवाजों के अनुसार गृहस्थों एवं नग्न दिगम्बर मुनियों के मूलगुणों के पालने एवं उसमें बुद्धिपूर्वक-अबुद्धिपूर्वक लगनेवाले अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतिचारों के निवारणार्थ प्रायश्चित्त आदि दण्ड-व्यवस्था को बतलाता है।

हाँ, यदि उनकी अनाचाररूप प्रवृत्ति होती है तो उनके वे व्रत समाप्त माने जाते हैं, उनकी दीक्षा छेद दी जाती है, फिर उन्हें कोई व्रती श्रावक या मुनि नहीं मानता है। लेकिन यदि वे पुनः व्रती होना चाहते हैं तो भी वे वरिष्ठ व्रती नहीं कहलाते हैं, कनिष्ठ व्रती ही कहलाते हैं।

'जैन ल' – इस समय न्यायालयों में अमान्य क्यों हैं ? क्योंकि हम जैनियों ने अपने जैन ग्रन्थों को न्याय-कार्य हेतु न्यायालयों में दिये ही नहीं और इसलिए न्यायालय, जैनों को हिन्दू मानकर, 'हिन्दु ल' के अनुसार उनके निर्णय देते आ रहे हैं।

वस्तुतः जैनों को हिन्दू या हिन्दूधर्म की शाखा या धर्म-विमुख-हिन्दू माना जाना नितान्त गलत है। आज भी यदि सर्व जैन दिगम्बर-श्वेताम्बर-

स्थानकवासी आदि मिलकर अपने 'जैन ल' को न्यायालयों मे प्रचलित कराना चाहें तो अन्य सम्प्रदायों (हिन्दू-मुसलमान-ईसाई की भाँति 'जैन ल' भी भारतीय न्यायालयों में मान्य हो सकता है।

हम जैनों के द्वारा अपनाये जानेवाली आचार-विचार-संहिता/जीवनशैली ही जैन संविधान है, जो सर्व वर्ग-जातियों के लिए उपयोगी है, उपादेय है क्योंकि इसमें सर्व-जन-हिताय सर्व-जन-सुखाय की सम्यक् अवधारणा है।

समग्र जिनागम चार विशिष्ट प्रकार के विषयों के विभाग द्वारा चार अनुयोगों में निबद्ध है –

1. **द्रव्यानुयोग** – इसमें सम्पूर्ण विश्व की संरचना के आधारभूत छह जाति के द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) का एवं सर्व जीवों को जानने-मानने योग्य प्रयोजनभूत सात तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष) का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है।

2. **चरणानुयोग** – इसमें आर्यकुलीन हम मानवों के लिए बुद्धिपूर्वक सम्यक् आचरण को बुद्धिपूर्वक आचरने का उपदेश है। गृहस्थ श्रावकों को अन्याय-अनीति-अभक्ष्यादि से रहित सदाचारमय जीवन-यापन करते हुए संयमित जीवन जीने की प्रेरणा दी गई है। ऐसा आचार-विचार जिसमें इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति न हो और अन्य जीवों के प्राणों का विघात न हो अर्थात् इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम दोनों हो।

गृहस्थ श्रावक को चाहिए कि वह एकदेश-संयम/व्रत-प्रतिज्ञा धारण कर, अणुव्रतों का पालन करे और यदि शक्ति-सामर्थ्य हो तो सकल-संयम/महाव्रत-प्रतिज्ञा धारण कर, निर्ग्रन्थ मुनि-मुद्रारूप महाव्रतों का पालन करे – यह आचार-संहिता ही जैनों का संविधान है।

यह आत्मोन्नति में सहायक होने से उपयोगी है, उपादेय है। अणुव्रतों या महाव्रतों के पालन में प्रमादवश जो ज्ञात-अज्ञात दोष लगें, उनके परिहारार्थ यथायोग्य प्रायश्चित्तादि (दण्डादि) का विधान, इस अनुयोग में बतलाया जाता है, जो गुरु-आज्ञा से शिरोधार्य होता है।

3. **करणानुयोग** – इसमें सर्व जीवों की कर्म-सापेक्ष सर्व अवस्थाओं का (गुणस्थान-मार्गणास्थान-जीवसमास का) एवं जीव से बन्ध को प्राप्त

मोहनीयादि आठ कर्मों का तथा त्रिलोकादि की रचना का वर्णन किया जाता है, जो जानने-समझने के लिए बहुत उपयोगी है, उपादेय है।

4. **प्रथमानुयोग** – इसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महान् पुरुषों के भव-भवान्तरों के वर्णनपूर्वक पुण्य-पाप का फल मोक्ष है – ऐसा दर्शा कर, हमें निष्पाप जीवन जीने की प्रेरणा देता है।

उपर्युक्त चारों ही अनुयोगों का एकमात्र तात्पर्य 'वीतरागता' ही है अर्थात् राग-द्वेष-मोहरहित जीवन ही मानव-जीवन का सार है।

संयम के बिना मानव-जीवन बिना ब्रेक की गाड़ी के समान है।

एक विशेष बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि इस विश्व में एक भी जैन ऐसा नहीं मिलेगा, जो भीख माँगता है अथवा निरा अनपढ़ हो, उसका एकमात्र कारण है – उनका 'जैन संविधान' को पालना अर्थात् अन्याय-अनीति-अभक्ष्य से रहित सदाचारमय जीवन जीना।

शंका – अपरिग्रह से सुख-प्राप्ति की बात करनेवाले हम जैनियों के पास प्रायः सर्व-साधन-सम्पन्नता रूप परिग्रह क्यों पाया जाता है ?

समाधान – इसका कारण यह है कि हम जैनीजन निम्न आचरण का पालन करते हैं –

1. हम रात्रिभोजन के त्यागी होते हैं अर्थात् रात्रि के 12 घण्टे कुछ भी खाते-पीते नहीं हैं अर्थात् हमारे द्वारा सहज ही एक वर्ष में छह मास का उपवास हो जाता है, बचत ही बचत होती है।

2. शाकाहारी जीवन होने से धन भी कम खर्च होता है।

3. मद्य-माँस-जुआ आदि सप्त व्यसनों से रहित जीवन होने से अर्थात् व्यर्थ पैसा बर्बाद नहीं होता है।

4. गुटखा-तम्बाखू-सिगरेट आदि के सेवन से रहित होते हैं।

5. ज्ञानदान हेतु विद्यालय एवं औषधिदान हेतु औषधालय आदि खुलवाने के विशुद्ध परिणामों से पुण्यबन्ध होता रहता है।

इस प्रकार धनागम भी स्वयमेव होता रहता है; इसलिए परिग्रह विशेष दिखाई देता है। अतः 'जैन ल' अथवा 'जैन संविधान' का अनुसरण करने से समस्त मानव-जाति एवं राष्ट्र को अनेकानेक फायदे हैं।"

सरल होकर भी गूढ़

श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के प्राचार्य **पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल** की सहधर्मिणी एवं अध्यापिका हम सबकी बड़ी बाई **श्रीमती कमलाजी भारिल्ल, जयपुर** लिखती हैं –

"यह शोध-पुस्तक, जीवनोपयोगी होने के साथ-साथ समाज एवं सम्पूर्ण विश्व को भी उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतिचार-अनाचार-आभोग आदि गूढ़ दोषों का ज्ञान, वाष्प-कण्डे-कोयले -जाज्वल्यमान-ज्वालामुखी आदि अग्नियों के उदाहरण से बहुत ही अच्छी तरह सरलता से समझाया है।

संविधान किसे कहते हैं ? – ये मैंने बहुत पहले इतिहास आदि विषयों को पढ़ते समय कुछ पढा था, परन्तु आज इसे पढ़कर समझ में आया कि इसका क्या तात्पर्य है ?

स्वर्णलताजी, आप ने इतनी बढ़िया पुस्तक लिखने का प्रयास किया है, फिर भी अपनी बात में लिख रही हो कि मेरा उद्देश्य डिग्री प्राप्त करना नहीं, बल्कि इसके माध्यम से समाज को लाभान्वित करना है। ये आपकी लघुता-बुद्धि का ही प्रतीक है। मेरी भावना है कि आगे भी आपका अपना अध्ययन चालू रहेगा।''

खोजी जीवे, खोजी पावे

सोनगढ़ में पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं बेनश्री चम्पाबेन- शान्ताबेन के सान्निध्य में अनेक वर्षों तक रहनेवाली **बाल ब्र. विमलाबेन, जयपुर/जबलपुर** लिखती हैं –

"अभी तक पीएच.डी. करनेवाले विद्वानों को देखा है कि किसी ने आचार्यों, पण्डितों या उनके ग्रन्थों पर शोध-कार्य किया है, परन्तु लीक से हटकर चलनेवाली, अथक् प्रयासपूर्वक शोध करनेवाली, लौह -पुरुषवत् कार्य करनेवाली बहिन श्रीमती स्वर्णलताजी ने बुद्धिमत्तापूर्ण ऐसा गूढ़ विषय चुना है – 'अतिचार और प्रायश्चित्त'।

तात्पर्य यह है कि जिनागम में व्रतों को धारण करनेवाले व्रती के ऐसे दोष, जिनके कारण वह भूमिका से च्युत तो नहीं होता, परन्तु भूमिका

सुरक्षित रहने पर भी उसके उन दोषों की 'अतिचार' संज्ञा है और 'प्रायश्चित्त' लेकर उन्हें निष्क्रिय भी किया जा सकता है।

यद्यपि गूढ़ प्रायश्चित्त के ग्रन्थ मात्र आचार्यों के पास ही रहते हैं, क्योंकि वे आचार्यप्रवर ही कुशल-प्रज्ञा एवं सूक्ष्म-दृष्टि से 'अतिचार' का निर्धारण कर 'प्रायश्चित्त' देकर शिष्यों के दोषों का निवारण करते हैं, दूर करते हैं; अन्य व्यक्तियों को उन्हें पढ़कर क्या लाभ है ?

जब बाल-जवान-वृद्ध वयवाले मुनियों को किसी कारण; जैसे – प्रमाद से, परिषहादि के कारण, अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि निमित्तक ज्ञात-अज्ञात शारीरिक क्षीणता आदि कारणों से अतिचार लग जाते हैं तो आचार्य महाराज, उन मुनियों के द्वारा स्वयं निश्छल वृत्ति से आलोचना आदि करने पर अथवा उन्हें स्वयं ज्ञात होने पर एकान्त में अपनी अमृतमयी मृदु वाणी से अति मृदुतापूर्वक स्नेह से पूछकर, समझकर, अथवा कदाचित् कठोरतापूर्वक, उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार योग्य प्रायश्चित्त देकर, शुद्ध भूमिका में स्थापित करते हैं।

यद्यपि प्रायश्चित्त आदि कार्य, आचार्यों के ही होते हैं, इसी कारण उन्हें ही इन ग्रन्थों को अपने पास रखने का अधिकार होता है; अन्य उपाध्याय आदि साधुजनों के पास भी ये ग्रन्थ नहीं होते; तथापि आपने शोध आदि की दृष्टि से, इन्टरनेट आदि के माध्यम से इन्हें भी कुछ-कुछ प्राप्त करके, अपने अविरल ज्ञानाभ्यास के द्वारा श्रावक होकर भी, आचार्यों जैसा कार्य किया है और 'खोजी जीवे, खोजी पावे' इस उक्ति को चरितार्थ किया है; अतः आप बधाई की पात्र हैं।''

मात्र प्रशंसनीय ही नहीं, पठनीय व अनुकरणीय भी

स्वयं दार्शनिक विषयों की शोधकर्त्री, विदुषी **बाल ब्र. ड . आरती जैन, छिन्दवाड़ा (म. प्र.)** से लिखती हैं –

"अतिचार एवं प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं विश्लेषण – जैन संविधान के सन्दर्भ में" – इस विषय पर लाडनूँ विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का आद्योपान्त पठन किया। मेरी दृष्टि में प्रस्तुत ग्रन्थ मात्र प्रशंसनीय ही नहीं, पठनीय व अनुकरणीय भी है।

जैन संविधान के अन्तर्गत जिस श्रमणाचार एवं श्रावकाचार की चर्चा की गई है; उसका सारा भवन, एक अहिंसा सिद्धान्त के आधार पर निर्मित है। एक अहिंसा कहने में सत्य, अचौर्य, शील, सन्तोष आदि सभी विषय गर्भित हो जाते हैं।

श्रमण, इनका सर्वदेशरूप में पालन करते हैं; जबकि श्रावक, इनका अपनी भूमिका के अनुसार एकदेश पालन करता है; लेकिन इन पंच शीलों का पालन करते हुए, न चाहते हुए भी, उनसे अतिचार (दोष) लग जाते हैं, इस कारण उन्हें अपने दोषों के प्रति ग्लानि भी होती है; अतः वे प्रायश्चित्त-विधि से शुद्ध होकर, निर्भार चित्त होकर, अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए, यथायोग्य पुरुषार्थ द्वारा परम सुख की अवस्था को प्राप्त होते हैं।

वास्तव में देखा जाए तो जैन संविधान के अन्तर्गत जिन बिन्दुओं की इस शोधप्रबन्ध में चर्चा की गई है, वह वास्तव में जन–जन के लिए हितकारी है, सारे विश्व को शान्ति–प्रदाता है। भारतीय संविधान के मुखपृष्ठ पर जहाँ तीर्थंकर भगवान महावीर का चित्र अंकित किया है, वहीं संविधान निर्माता बाबासाहेब भीमराव आम्बेडकर लिखते हैं –

"भगवान महावीर के अहिंसा सिद्धान्त के आधार पर ही इस देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। आज हम शासननायक महावीर के मंगलमय जीवन एवं उनके उपदेशों से प्रेरणा लें, उन्हें अपने जीवन में अपनाएँ तो व्यक्ति का, समाज का, राष्ट्र का एवं विश्वभर का कल्याण व अभ्युदय निश्चित है।"

पूर्ण कृति शब्दशः पठनीय

जिनागम के अध्येता एवं आचार-संहिता के प्रतिपालक विद्वानों में अग्रणी **पण्डित श्री सचिनजी जैन**, अकलूज/मंगलायतन लिखते हैं –

"शब्दब्रह्म का अग्रणी अवयव, आचारांग-सूत्र है। इसके प्रतिपाद्य-आचार के परिपालन में हतोत्साहित गुमराह श्रमणों को तथा अनुत्साहित श्रावकों को यह कृति अचूक उपाय साबित होगी, चारित्रोत्पत्ति-स्थिति-रक्षा-वृद्धि के संचालक इस चरणानुयोग को हम सभी ज्ञानार्थी ज्ञान का

प्रज्ञेय बनायें, जीवन की जीवनी बनायें; क्योंकि इसके प्रसाद से ही प्रचुर शुद्धोपयोग की प्राप्ति होगी। यह कृति, शब्दशः पठनीय है।''

आध्यात्मिक गणतन्त्र की स्थापना

श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के जैनदर्शन विभाग के अध्येता विद्वान् **ड. अनेकान्त कुमार जैन** लिखते हैं –

"ईसा पूर्व छठी शती में पूरे विश्व को वास्तविक गणतन्त्र सिखानेवाले भारत के वैशाली गणराज्य के कुण्डग्राम में एक ऐसे राजकुमार ने जन्म लिया, जो राज्य के शासन में तो गणतन्त्र की स्थापना कर ही चुका था, साथ-साथ वे दुनिया भर में फैले राजतन्त्र की भाँति अध्यात्म-क्षेत्र में व्याप्त एक ईश्वर की भ्रान्त अवधारणा को भी अपने आत्मज्ञान के माध्यम से चुनौती दे रहे थे – वे थे जैनधर्म के अन्तिम शासननायक तीर्थंकर भगवान महावीर।

उन्होंने कहा था – हम सब अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानकर, स्वयं परमात्मा बन सकते हैं, क्योंकि वास्तविक दुनिया में कोई एक ईश्वर है ही नहीं, बल्कि हम सबमें ईश्वरत्व प्राप्त करने की योग्यता है और उसे निज पौरुष के बल पर हम प्राप्त कर सकते हैं।

उनका एक क्रान्तिकारी उद्घोष था – 'स्वयं सत्य खोजें', इस पथ पर उन्होंने स्वयं चलकर भी दिखाया।

जैन संविधान की स्वास्थ्यानुकूलता

जैन समाज के सुप्रसिद्ध आयुर्वेद चिकित्सक एवं श्री टोडरमल महाविद्यालय, जयपुर के गोम्मटसार विषय के व्याख्याता जैनदर्शन के भी मर्मज्ञ विद्वान **वैद्यरत्न ड. दीपक जैन**, शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, जयपुर लिखते हैं –

"जैनदर्शन प्रणीत चरणानुयोग के द्वारा सम्पूर्णतया स्वास्थ्य की रक्षा होती है। चरणानुयोग-सम्मत वर्तन, वर्तमान में 'भुज्यमान-आयु' को तो स्वस्थ रखता ही है; बल्कि उससे आगामी 'बध्यमान-आयु' को भी विशुद्ध परिणामों के बल पर सुखद ही बँधती है।

अर्थात् जो स्वास्थ्यकर आदतें, हम इस भव में चरणानुयोग से सीखते हैं, उनसे इस भव की 'भुज्यमान-आयु' तो सुखमय होती ही है; साथ ही चरणानुयोग द्वारा जीवदया का उत्कृष्टतया परिपालन होने से आगामी 'बध्यमान-आयु' भी सुख-सातामय ही बँधती है।

आपके द्वारा प्रतिपादित जैन-आचार-संहिता पर आधारित जैन संविधान, इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है।

चूँकि आयुर्वेद एवं जैनदर्शन में ही मेरी प्रवृत्ति रही है, इसलिए मैंने आपके द्वारा लिखित 'जैन संविधान' को स्वास्थ्य की कसौटी पर परखा है, जिसमें वह शत-प्रतिशत खरा उतरता है।

मेरे द्वारा लिखित 'अहिंसक आहार : स्वास्थ्य का आधार' एवं 'स्वास्थ्य के अहिंसक नुस्खे' तथा 'वर्तमान में जीवदया-पालन' – ये तीनों कृतियाँ, आपके द्वारा प्रतिपादित 'जैन संविधान' के ही अंश भासित होते हैं, आपने जगह-जगह उन्हें सन्दर्भित भी किया है।

आपके इस अनुमोदनीय उपक्रम की मैं हृदय से सराहना करता हूँ, इसकी विस्तृतता एवं गहराई, आपके गहनतम परिश्रम का द्योतक है। आपके इस प्रेरक उपक्रम के लिए पुनः पुनः हार्दिक अभिनन्दन!

जैन समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी शोध

श्री आदिनाथ विद्या निकेतन, तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़ के प्राचार्य, सुप्रसिद्ध विधानाचार्य एवं प्रतिष्ठाचार्य **पण्डित संजयकुमार जैन**, जेवर लिखते हैं –

"ड. श्रीमती स्वर्णलताजी द्वारा लिखित 'जैन संविधान' शोध-ग्रन्थ, अत्यन्त शोध-खोजपूर्ण एवं ऐतिहासिक है; जिसमें जैन श्रावकाचार, जैन-धर्म का माहात्म्य, जैनों के जन्म से मृत्यु-पर्यन्त के संस्कार आदि का वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि यह अत्यन्त श्रमपूर्वक तैयार हुआ है। इसके लिए लेखिका, बहुत-बहुत बधाई की पात्र हैं। यह 'जैन संविधान' विषयक शोध, जैन समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।''

प्राणी मात्र के प्रति वात्सल्य-भावना की अभिव्यक्ति

आत्मोन्मुखी वृत्ति की धारक **ब्र, रजनी दीदी, श्योपुर** लिखती हैं –

'जैन संविधान' पर शोधकार्य करके ड. स्वर्णलताजी ने प्राणी मात्र के प्रति वात्सल्य भावना को अभिव्यक्त किया है; इसके मूल प्रणेता या निर्माता तो वीतरागी सर्वज्ञदेव हैं। सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रणीत होने के कारण अज्ञान तथा पक्षपात के लिए इसमें कोई अवकाश नहीं रहता है। यदि आपने अपने परिणाम मलिन किये हैं तो उस समय भले ही आपको बाहर किसी ने नहीं देखा हो, लेकिन 'जैन संविधान' के अनुसार कर्मों ने आपकी फोटो अवश्य खींच ली है अर्थात् आपको पापकर्म का बन्ध अवश्य हो गया है। फिर चाहे आप जैन हों या बौद्ध, ईसाई हों या मुस्लिम, हिन्दू हों या सिक्ख ...... आदि। सर्वज्ञकथित संविधान में कोई पक्षपात नहीं होता।

जैनधर्म, किसी सम्प्रदाय विशेष का नाम नहीं है, बल्कि उस धर्म को जैनधर्म कहा जाता है, जहाँ व्यक्ति की नहीं, व्यक्तित्व की उपासना की जाती है। यहाँ भक्त को भक्त ही नहीं, भगवान बनने की विधि सिखाई जाती है। जिस प्रकार खेत की सुरक्षा के लिए मेंढ़ अनिवार्य है, उसी प्रकार यह जीवन, सूर्य के तेज की भाँति चमकता रहे, दमकता रहे; इसके लिए संविधान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

अब यह प्रश्न है कि जैन संविधान ही क्यों अनिवार्य है ? – यह वह धर्म है, जिसकी जितनी आवश्यकता भूतकाल में थी, उतनी ही वर्तमान में है और उतनी ही भविष्य में भी रहेगी। अहिंसा, अपरिग्रह, स्याद्वाद तथा अनेकान्त जैसे महान स्तम्भों की आधारशिला पर टिका हुआ यह संविधान सार्वकालिकता सार्वभौमिकता, सहअस्तित्व और सहिष्णुता जैसे अद्भुत सिद्धान्तों को अपने में समेटे हुए है। यदि चाण्डाल भी सम्यक्त्व को प्राप्त करे तो वह भी देवों द्वारा वन्दनीय हो जाता है। ऐसी अनेक प्रकार की 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' एवं 'उदारचरितानां वसुधैव कुटुम्बकं' जैसी लोककल्याणकारी व आत्महितकारी भावनाओं को दिग्दर्शित करनेवाला यह 'संविधान' जन-जन का संविधान बने। सभी जीव, इसका यथार्थ भाव समझकर, सुख-शान्ति-समृद्धि को प्राप्त करें – यही आन्तरिक भावना है।

'जिन संहिता' का ही अपर नाम है – 'जैन संविधान'

'समयसार का दार्शनिक परिशीलन' - इस गहन विषय पर स्वयं शोध-कार्य करनेवाले एवं मल्टीमीडिया वाट्सएप आदि में आध्यात्मिक गोष्ठियों के माध्यम से विशेष सक्रिय **ड. अरविन्दकुमार जैन,** दरगुवाँ/सुजानगढ़/जयपुर लिखते हैं –

"जैसे, देश की सम्प्रभुता बनाये रखने में संविधान, महत्त्वपूर्ण होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग को सुरक्षित रखने में 'जैन संविधान' महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। 'जिन-संहिता' को ही 'जैन संविधान' का नाम देकर लेखिका ने वर्तमान सन्दर्भ में जैन सिद्धान्तों की उपादेयता सम्यक् प्रकार से सिद्ध की है। जैनदर्शन-सम्मत आध्यात्मिक और सामाजिक, दोनों प्रकार के संविधान, जैनत्व की धारा को सुरक्षित रखने में सहायक हैं।

आपने 'जैन श्रमणाचार' के साथ 'जैन श्रावकाचार' को भी शोध का विषय बनाया है, जो सिद्ध करता है कि श्रावकाचार की शुचिता ही श्रमणाचार को पवित्र करती है।

'अतिचार और प्रायश्चित्त' के संविधान वर्तमान की आवश्यकता हैं, क्योंकि आज अतिचार के नाम पर अनाचार ही फल-फूल रहा है। इस दृष्टि से यह शोध-कार्य, समाज-सेवा का अभिन्न अंग बन गया है और समाज की आवश्यकता की पूर्ति करना ही शोध-कार्य का उद्देश्य होता है।

मैं समझता हूँ कि इस शोध-कार्य से अन्य शोधार्थी छात्रों को व्यापक शोध-क्षेत्र मिलेगा तथा नई दिशा भी।

ड. स्वर्णलताजी के शोध-कार्य और मेरे शोध-कार्य में कुछ समानताएँ भी हैं, जो मैं पाठकों के साथ शेयर करना/बाँटना चाहता हूँ –

हम दोनों के एक ही शोध-निर्देशक, प्रो. ड. जिनेन्द्र जैन, लाडनूँ/उदयपुर, एक प्रज्ञावान् विवेकी प्रोफेसर हैं, आपकी सरलता, श्रम-शीलता, विषय के प्रति निष्ठा आदि शोधार्थियों के लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान प्रतीत होते हैं। आप निरन्तर सम्बल और प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं।

यह भी एक सुयोग ही है कि इन दोनों शोध के प्रकाशन-कार्य के

सम्पादक, आदरणीय ड. राकेशजी ही हैं; जिनकी सूक्ष्म-दृष्टि से निकलने वाला प्रत्येक शब्द, हीरे की तरह प्रकाशमान हो जाता है। मेरे शोध-प्रबन्ध का सम्पादन भी इसी तरह भाईसाहब राकेशजी ने बड़ी लगन व सूक्ष्मता से किया था।

'यह शोध-कार्य बहु उपयोगी, इसको जाना है पढ़कर'

इन्दौर से कवि-हृदय युवा विद्वान् **श्री सन्दीप जैन 'आत्मार्थी'** लिखते हैं –

आज इस पंचमकाल में संविधान की अत्यन्त आवश्यकता है। संविधान, देश का हो या धर्म का, उसकी पूरी जानकारी होना व उसका पालन करना, आज की आवश्यकता है। पहली बात है उसे जानना और दूसरी बात है उसका पालन करना, क्योंकि किसी भी चीज के पालन करने से पूर्व उसकी अच्छाईयों व बुराईयों को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

मैं एक कविता के माध्यम से अपनी भावना व्यक्त करता हूँ –

जैनधर्म पर शोध करना, कार्य बड़ा महान है।
जो करता है ऐसा कार्य, उसकी अपनी शान है।।

व्रत में जो अतिचार लगें, वे तुरत दूर ही हो जाएँ।
उन अतिचारों को पहचानें, प्रायश्चित्त सब अपनाएँ।।

आत्मार्थी ने आज पढ़ा है, यह चिन्तन अति दृढ़ होकर।
यह शोधकार्य बहु उपयोगी, इसको जाना है पढ़कर।।

धन्यवाद की पात्र लेखिका, ऐसा उत्तम काम किया।
निज में दृष्टि देकर तुमने, मुक्ति-पथ पर गमन किया।।

साहसी व्यक्तित्व का परिचायक

जैनदर्शन के वर्तमान पीढ़ी के युवा विद्वान् **पण्डित शुभम शास्त्री, सिद्धायतन, द्रोणगिरि** लिखते हैं –

यह एक ऐसा विषय है, जिसकी चर्चा करने की सामर्थ्य भी विद्वज्जन नहीं करते अथवा उससे बचते दिखते हैं।

वास्तविकता में यह 'जैन संविधान' अन्तःकरण को झकझोरने वाला है कि 'यह आज तक था कहाँ ?' यह मात्र जैनियों का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व का संविधान होना चाहिए। इसकी आवश्यकता जितनी हजारों वर्ष पूर्व थी, उससे कहीं अधिक आज है।

स्वयं लेखिका ने अपने दर्द को व्यक्त किया है कि कुछ रूढ़िवादी विचारधाराओं ने जिनशास्त्रों को संविधान लेखकों के हाथों में नहीं सौंपा, जिसका खामियाजा, आज पूरा विश्व उठा रहा है। खैर! जो हुआ सो हुआ, सम्पूर्ण जिनागम मे स्थान-स्थान पर व्यक्त संविधान को अति पुरुषार्थ से लेखिका ने तैयार किया है।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में यही कहूँगा कि जहाँ नियम-भंग से भयभीत प्राणी, प्रायश्चित्त का स्वरूप जानकर, व्रत-धारण के प्रति उत्साहित होंगे; वहीं अतिचार का स्वरूप विचार कर, निरतिचार-पालन करेंगे तथा बुद्धि-अबुद्धिपूर्वक किये गये दोषों को पहचान कर, पश्चात्ताप की अग्नि में जलने की बजाय प्रायश्चित्त-विधि से शुद्ध होंगे।

सर्व-जन-हितकारी इस संविधान के लिए लेखिका की लगन, पुरुषार्थ एवं कार्यदक्षिता के लिए आपको बहुत-बहुत बधाई !

बहुत सारे रोचक तथ्यों से भरपूर

जैनदर्शन के शोधार्थी विद्वान् **श्री साकेत जैन शास्त्री 'सहज',** जयपुर लिखते हैं –

'जैन संविधान' में बहुत सारे रोचक तथ्यों को बहुत ही सरल भाषा में सुन्दर एवं सटीक रूप से प्रस्तुत किया गया है; साथ ही इसमें यह भी बताया गया है कि यदि हम अपने संविधान को न पहचानें और उसका अनुसरण न करें, उसके विपरीत चलें तो हमारा और हमारी सभ्यता का पतन बहुत ही शीघ्र हो सकता है – विदुषी लेखिका ने इस सन्देश के माध्यम से एक गम्भीर विचारणीय बात हम सबके सामने रखी है। आप सभी साधर्मियों को मैं यह सन्देश देना चाहता हूँ कि इस कृति का अध्ययन कर, अपने संविधान का यथार्थ ज्ञान भी अवश्य करें।

*****

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य अकलंकदेव, **तत्त्वार्थवार्तिक,** भाग 2, सम्पादक, डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रका ाक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1990)

2. आचार्य अमितगति; **अमितगति-श्रावकाचार,** श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1, सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल ाास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रका ाक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001)

3. आचार्य अमितगति, **भावना द्वात्रिंशतिका (अपरनाम सामायिक पाठ),** वृहद् जिनवाणी संग्रह, प्रका ाक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1982)

4. आचार्य अमृतचन्द्र, पुरु ार्थसिद्ध्युपाय, भूमिका, प्रका ाक, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात)

5. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, आचार्य अमृतचन्द्र, तत्त्वप्रदीपिका टीका, गुजराती अनुवादक, पण्डित हिम्मतलाल जेठालाल ााह, हिन्दी अनुवादक, पण्डित परमेठीदास न्यायतीर्थ, प्रका ाक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (2005)

6. आचार्य गुणभद्र, **उत्तर पुराण,** प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ (2004)

7. आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, **त वार्थसूत्र,** मंगलाचरण, प्रका ाक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत

8. आचार्य जिनसेन, **आदिपुराण,** अनुवाद एवं सम्पादन, डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रका ाक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2004)

9. आचार्य पद्मनन्दि; **पद्मनन्दि पंचविंशतिका;** उपासक संस्कार, हिन्दी टीकाकार, पण्डित गजाधरलाल न्यायतीर्थ; प्रका ाक, श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट, नागपुर (1996)

10. आचार्य भूतबलि एवं आचार्य पु पदन्त, **षट्खण्डागम,** मंगलाचरण, **धवला टीका,** आचार्य वीरसेन, सम्पादक, हीरालाल जैन, सहसम्पादक-द्वय, पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्त ाास्त्री एवं पण्डित हीरालाल सिद्धान्त ाास्त्री, प्रका ाक, श्रीमन्त सेठ िताबराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती एवं श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर

11. आचार्य रवि ोण, **पद्म पुराण,** सम्पादन-अनुवाद, ड. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली (2000)

12. आर्यिका विज्ञानमती, **संस्कार मंजूषा,** उत्तरार्द्ध, सम्पादक, डॉ. चेतनप्रका ा पाटनी, प्रका ाक, धर्मोदय साहिन्य प्रका ान, सागर (2007)

13. आचार्य विद्यानन्द मुनि, **जैनधर्म, अहिंसा एवं महात्मा गांधी,** प्रका ाक, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली (2007)

14. आचार्य विद्यानन्द मुनि; **जैन शासन ध्वज,** प्रका ाक, श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, (2007)

15. आचार्य सोमदेवसूरि, **नीतिवाक्यामृत,** दण्डनीति समुद्दे ा, अनुवादक, पण्डित सुन्दरलाल ास्त्री, प्रका ाक, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विम ा केन्द्र, ब्यावर (1996) एवं हिन्दी टीका, आर्यिका श्री विजयामती, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन विजयाग्रन्थ प्रकाशन समिति, झोटवाड़ा, जयपुर – 302012

16. आचार्य सोमदेव, **यशस्तिलक चम्पू** महाकाव्य, उत्तर खण्ड, अ टम आ वास, प्रका ाक, भारतव ीय अनेकान्त विद्वत् परि ाद्, (1971)

17. आयंगर अनन्त ायनम्, भूतपूर्व अध्यक्ष, लोकसभा, भारत सरकार, प्रस्तावना, **जैनधर्म,** मुनि सु ील

18. **आश्रम (गांधी आश्रम) भजनावली,** प्रका ाक, नवजीवन प्रका ान मन्दिर, अहमदाबाद, (2006)

19. जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ,** प्रकाशक, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र., (2003)

20. जैन चम्पतराय, बैरिस्टर एट ल, विद्यावारिधि, **जैन लॉ (जैन कानून),** प्रकाशक, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन सभा प्रकाशन, डीमापुर नागालैण्ड (1984)

21. जैन, जगदी ाचन्द्र, **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज,** पाँचवाँ खण्ड (धार्मिक व्यवस्था), पहला अध्याय (श्रमण सम्प्रदाय), प्रका ाक, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी – 1 (ई. संवत् 1965)

22. जैन, बलभद्र, **विवाह;** प्राक्कथन, जैन, प्रेमसुमन, प्रकाशक, श्री कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन, नई दिल्ली

23. जैन, राजाराम; **अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय**

स्रोत : जैनधर्म तथा लोकनायक वर्धमान महावीर, प्रका ाक, श्री मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, नई दिल्ली,

24. जैन संजय, (अध्यक्ष, वि व जैन संगठन), **जैनधर्म की प्राचीनता,** प्रका ाक, श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ, (2008)

25. जैन, सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द शास्त्री; **वर्ण, जाति, और धर्म,** प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली 110003 (1989)

26. डॉ. सम्पूर्णानन्द, भूतपूर्व मुख्यमन्त्री, उत्तरप्रदे ा, टिप्पणी, **सिद्धिविनिश्चय टीका,** प्रथम भाग, प्रका ाक, भारतीय ज्ञानपीठ, का ाी

27. ड. हुकमचन्द भारिल्ल; **तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,** प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1975)

28. देवेन्द्र मुनि ास्त्री, **आचारांग सूत्र,** प्रस्तावना, प्रका ाक, श्री आगम प्रका ान समिति, ब्यावर, राज. (1980)

29. निर्वाणकाण्ड, गाथा 1, **वृहद् जिनवाणी संग्रह,** पृ ठ 273-275, प्रका ाक, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरे ान, जयपुर (1987)

30. पण्डित श्री अभयकुमारजी, देवलाली; **क्रिया, परिणाम और अभिप्राय,** प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2004)

31. पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, प्राचीन प्रति

32. पण्डित मोहनलाल शास्त्री, **सरल जैन विवाह विधि,** जबलपुर

33. पण्डित राजमल, **लाटी संहिता (श्रावकाचार),** प्रस्तावना, हिन्दी टीकाकार, पण्डित लालाराम ास्त्री, प्रस्तावना, ब्र. हेमचन्द जैन, प्रका ाक, विनयदक्ष प्रका ान ट्रस्ट, मुम्बई (2002)

34. पाण्डे, बि म्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति;** खण्ड I एवं **II,** प्रकाशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली – 110001 (1996)

35. मनोरमा जफा, **शान्तिदूत गांधी,** पृ ठ 1, प्रका ाक, प्रका ान विभाग, भारत सरकार, (1997)

36. मर्हा, दीपककुमार; **सभी के लिए कानून,** प्रकाशक, प्रतिभा प्रतिष्ठान, दखनीराय स्ट्रीट, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली 110002 (2007)

37. ार्मा एम. एल., **नीतिवाक्यामृत में राजनीति,** प्रका ाक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रका ान, नई दिल्ली

38. **शुभ विवाह : क्या क्यों और कैसे ?**; ड स्वर्णलता राकेश जैन, प्रकाशक, श्रीमती शान्तिदेवी कोमलचन्द जैन, गन्धकुटी, तेलीपुरा, मस्कासाथ, इतवारी, नागपुर – 440002 (2015)

39. सोधिया, दरयावसिंह, **श्रावक धर्म संग्रह,** सम्पादक, परमानन्द जैन ाास्त्री, प्रका ाक, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर (वि. 2006, वी. नि. 2476)

विश्व में बस एक ही संविधान हो ...

निगोद से सिद्ध तक प्रत्येक जीव,
स्वभाव से समान हो।
कर्ता-कर्म की भ्रान्ति का,
सबके अवसान हो।
जैसे हैं पदार्थ,
वैसा ही श्रद्धान हो।
पर्याय देखकर न कोई छोटा,
न कोई महान हो।
सत्य-अहिंसा-अनेकान्त ही,
विश्व की शान हो।
संयोगों को देखकर,
न खेद न गुमान हो।
आत्मोन्नति के लिए,
सबको अवसर समान हो।
निर्दोष ज्ञान-सुख-प्राप्ति का,
लक्ष्य ही प्रधान हो।
विश्व के आत्मार्थियों का,
बस एक ही संविधान हो।

– **पण्डित राजकुमार शास्त्री**, उदयपुर